CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

5701

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

5201

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

पुरातत्त्व की रूपरेखा

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

लेखक

डा० मदन मोहन सिंह,

एम० ए०, पी०-एच० डी०

रीडर

प्राचीन भारतीय इतिहास एवं पुरातत्त्व विभाग,

पटना विश्वविद्यालय

पटना—८००००५

प्रकाशक

जानकी प्रकाशन

दिल्ली :: पटना

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

प्रकाशक : रामवत सिंह
जानकी प्रकाशन
अशोक राजपथ
पटना-८०००४

मुद्रक :
सूर्योदय प्रेस
चकमुसल्लहपुर
पटना-८००००६

© लेखकाधीन

संशोधित एवं परिवर्द्धित द्वितीय संस्करण : अगस्त १९८१

राजकीय संग्रहालय, लखनऊ
क्रमसंख्या 5701
प्राप्ति तिथि
विभाग
श्रेणी
STATE MUSEUM, LUCKNOW

पुस्तक प्राप्ति स्थान

जानकी प्रकाशन
अशोक राजपथ
पटना-८०००४

जानकी प्रकाशन
१९७९ गंजमीरखान
दरिया गंज
नई दिल्ली-११०००२

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

आत्मजा अनूषा की
स्मृति में

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh .

आमुख

इस देश में पुरातत्त्व-सम्बन्धी कार्यों का समारंभ तो आज से एक शताब्दी के कुछ पहले ही हुआ, परन्तु विश्वविद्यालयों में इस विषय के अध्यापन पर हाल में ध्यान दिया गया। हाल के वर्षों में पुरातत्त्व के प्रति समाज के बुद्धिजीवी वर्ग की अभिरुचि में प्रर्याप्त वृद्धि हुई है। परन्तु सामान्य जन को अभी तक इस विषय की सही जानकारी नहीं मिल पायी है। यह तो सर्वविदित है कि हिन्दी में तकनीकी विषयों के पुस्तकों का अभाव है और पुरातत्त्व में तो इने-गिने ग्रन्थ ही अबतक प्रकाशित हो पाये हैं। अतएव हिन्दी-भाषी राज्यों के शिक्षकों एवं विद्यार्थियों को पुरातत्त्व के पठनपाठन में पर्याप्त कठिनाइयाँ होती हैं। यद्यपि पुस्तकाभाव की समस्या के समाधान की दिशा में प्रशंसनीय कार्य हो रहे हैं, फिर भी इस दिशा में अभी बहुत-कुछ करना शेष है। इस सम्बन्ध में शिक्षकों का विशेष उत्तरदायित्व है और इस नाते मैंने भी इस ग्रन्थ द्वारा हिन्दी-जगत् के प्रति अपने दायित्व के निर्वाह का एक छोटा-सा प्रयास किया है। इस पुस्तक के प्रथम संस्करण का प्रकाशन १९७१ ई० में किया गया, जिसका हिन्दी-भाषी क्षेत्र के शिक्षा जगत् में सोत्साह स्वागत हुआ और उससे प्राप्त संबल से ही इसका नवीन संस्करण प्रस्तुत करना संभव हुआ है। इसमें यथासंभव पूर्व संस्करण की त्रुटियों को दूर करने का प्रयास किया गया है और इसके आकार में भी थोड़ी वृद्धि की गई है।

पुरातत्त्व की रूपरेखा की रचना इस उद्देश्य को ध्यान में रखकर की गई है कि इस विषय के छात्र तो इससे लाभान्वित हों ही, परन्तु जो लोग पुरातत्त्व से अनभिज्ञ हैं, वे भी इसके माध्यम से इस विषय का परिचय प्राप्त कर सकें। अतएव इस विषय को यथासंभव सरल तथा सहज ढंग से प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है। पुरातत्त्व-सम्बन्धी शब्दों के चयन में इस बात का ध्यान रखा गया है कि वे यथासंभव लघु, सरल एवं अर्थ को व्यक्त करने वाले हों। संस्कृत में उपलब्ध उपयुक्त शब्दों को तो ग्रहण किया गया है, परन्तु इस बात का भी ध्यान रखा गया है कि प्रचलित शब्दों का ही अधिकाधिक प्रयोग हो। कुछेक प्रचलित अंग्रेजी शब्दों को हटाने के दुराग्रह से बचने का प्रयास किया गया है। यदि उपर्युक्त लक्ष्य की थोड़ी-सी भी पूर्ति हो पाती है तो मेरा यह प्रयास सफल माना जायगा।

इस ग्रन्थ में मुख्यतः पुरातत्त्व के स्वरूप, इतिहास तथा उत्खनन-सम्बन्धी मूल तथ्यों का विवेचन प्रस्तुत दिया गया है। चूँकि उत्खनन-सम्बन्धी सर्वेक्षण, संरक्षण,

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

चित्रांकन इत्यादि कार्य इन विषयों के विशेषज्ञों द्वारा सम्पन्न किये जाते हैं, अतः इस ग्रंथ में इनका विवरण प्रस्तुत नहीं किया गया है। परन्तु भारत के अतीत गौरव को उद्घाटित करने में उत्खनन की देन का सही मूल्यांकन करने के उद्देश्य से आठ उत्खनित स्थलों के संक्षिप्त विवरण दिये गये हैं। पुरातत्त्व के विद्यार्थियों के लिए ग्रंथ को उपयोगी बनाने के उद्देश्य से पुरावशेष-सम्बन्धी अधिनियमों की मुख्य बातों और पुरातात्त्विक शब्दों के अंग्रेजी-हिन्दी संग्रह के साथ हिन्दी-अंग्रेजी रूपान्तर भी इस पुस्तक में जोड़ दिये गये हैं।

इस ग्रंथ की रचना के प्रसंग में मैं जिन लेखकों के ग्रंथों एवं निबन्धों से लाभान्वित हुआ तथा मुझे जिन मित्रों एवं साथियों से सहयोग प्राप्त हुआ उन सबों के प्रति मैं आभारी हूँ। इस पुस्तक में दिये गये रेखांकन तथा छायांकन, सर मॉर्टिमर ह्वीलर महोदय के आर्क्योलॉजी फ्रोम द अर्थ, डॉ० कैथलिन केनियन महोदया के बिगिनिंग इन आर्क्योलॉजी और ऐंशेंट इंडिया में प्रकाशित चित्रों एवं छायांकनों पर आधारित तथा उनसे उद्धृत हैं, अतः मैं इन सबों के प्रति अपना आभार प्रकट करता हूँ। श्री नसीम अख्तर, क्यूरेटर, गया संग्रहालय तथा श्री समरेन्द्र कुमार कविराज से प्राप्त सहयोग के लिए मैं उन्हें हार्दिक धन्यवाद देता हूँ। इस ग्रन्थ के यथाशीघ्र प्रकाशन के लिए इसके प्रकाशक भी धन्यवाद के पात्र हैं। अन्त में, पर्याप्त सतर्कता की कमी के कारण जो त्रुटियाँ रह गई हैं, मुख्यतः कुछ पुरास्थलों के नामों में एकरूपता का अभाव तथा छोटी-मोटी मुद्रण-सम्बन्धी भूलों के लिए पाठकों से क्षमाप्रार्थी हूँ।

आषाढ़ पूर्णिमा — मदन मोहन सिंह

१७-७-१९८१

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

विषय-सूची

आमुख

पुरातत्त्व ··· १—१२

अर्थ, उद्देश्य तथा अध्ययन क्षेत्र, उत्खनन, पुरातत्त्व और इतिहास, पुरातत्त्व और प्राचीन कलात्मक वस्तुएँ, पुरातत्त्व और सामाजिक वातावरण, पुरातत्त्व को अन्य विषयों की देन।

पुरातात्त्विक खोज एवं उत्खनन-विधियों का विकास ··· १३—३१

इतिहास—पुरावस्तु संग्रह से त्रियुग-सिद्धांत तक, उत्खनन की वैज्ञानिक विधियों का विकास, श्लीमन, पेट्री, पिट-रिवर्स तथा इवान्स इत्यादि की देन।

भारतीय पुरातत्त्व का विकास ··· ३२—६०

कनिंघम-पूर्व काल, कनिंघम-युग, सर जॉन मार्शल की देन, मार्शल-पश्चात् की स्थिति, सर मॉर्टिमर ह्वीलर, स्वाधीन भारत की पुरातात्त्विक उपलब्धियाँ।

पुरातात्त्विक स्थलों का पता लगाना और प्राचीन वस्तुओं की उपलब्धि ··· ६१—६८

भूक्षरण के साधन—जल, वायु और मनुष्य की गति-विधियाँ, तल-निरीक्षण, स्थल-संकेत, आकाशीय छायांकन, भू-भौतिकी विधि, समुद्र-तल की खोज।

उत्खनन-खात ··· ६९—७७

उत्खनन हेतु खात नियोजन की विधियाँ, वर्ग अथवा ग्रिड प्रणाली, प्रमाणार्थ लम्बे खात, वृत्तपाद खात, लम्बवत् तथा क्षैतिज उत्खनन।

स्तर-विन्यास ··· ७७—८९

स्तर की परिभाषा, निर्माण एवं महत्त्व, उत्खनन-क्रम में स्तर-पार्थक्य की विधि, स्तर-विन्यास और तिथिक्रम, सही स्तरक्रम की विधि, सेक्शनों का निर्माण तथा रेखांकन, त्रिदिशात्मक लेखा-जोखा।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

उत्खनन-विधियाँ ... ९० — ११८

भवनावशेषों का उत्खनन, समतल नगर-स्थलों का उत्खनन, प्राचीन नगर के टीलों का उत्खनन, शवाधान-भूमि या कब्रों का उत्खनन, प्रागैतिहासिक स्थलों का उत्खनन, प्रागैतिहासिक मानव-समुदायों का विवरण प्रस्तुत करना।

तिथि-निर्धारण ... ११९ — १४२

पुरातत्त्व में तिथि का महत्त्व, सापेक्ष तथा निरपेक्ष तिथियाँ, प्रकार-विज्ञान, स्तर-विन्यास के आधार पर तिथि-निर्धारण, भूतात्त्विक विधि, पराग-विश्लेषण, वृक्ष-वलय विश्लेषण, भौतिक-रासायनिक विधियाँ — C^{14} विधि, पोटाशियम आरगन, ऊष्मिक दीप्ति, पुराचुम्बकत्व, फ्लोरिन-परीक्षण, ओब्सिडियन जलस्तर माप, खगोलिय विधि।

उत्खनन-सम्बन्धी कुछ अन्य बातें ... १४० — १४२

कुछ उत्खनित स्थलों के संक्षिप्त विवरण ... १४३ — १८९

तक्षशिला, हस्तिनापुर, कालीबंगां, आहड़, चिरांद, कुम्रहार, ब्रह्मगिरि तथा अरिकामेडु।

पुरावशेष-सम्बन्धी अधिनियमों की मुख्य बातें ... १९० — २०१

ग्रंथ-सूची ... २०२ — २०३

संक्षिप्त पुरातात्त्विक शब्द-संग्रह ... २०४ — २१२

अनुक्रमणी ... २१३ — २२४

शुद्धि-पत्र ... २२४ — २२६

संक्षिप्तीकरण

चाइल्ड	Childe, V. G.	*Piecing Together the Past.*
डेनियल	Daniel, G. E.	*A Hundred Years of Archaeology.*
A I	*Ancient India*	
ब्रिआँन	Brion, M.	*The World of Archaeology.*
संकलिया	Sankalia H. D.	*Prehistory and Protohistory in India and Pakistan.*
सेरम	Ceram, C. W.	*A Picture History of Archaeology.*
व्हीलर	Wheeler, Sir M.	*Archaeology from the Earth.*

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

पुरातत्त्व

अर्थ, उद्देश्य, अध्ययन-क्षेत्र एवं अन्य विषयों से सम्बन्ध

इतिहास वस्तुतः मानव-सभ्यता के विकास की गाथा है और इस विषय का प्रादुर्भाव आज से बहुत पहले हुआ, परन्तु पुरातत्त्व का विकास उन्नीसवीं शताब्दी में हुआ और यह विषय इतिहास की तुलना में बिल्कुल नूतन है। सामान्यतया प्राचीन ऐतिहासिक महत्त्व की वस्तुओं के अध्ययन को पुरातत्त्व का नाम दे दिया जाता है; परन्तु आज इस विषय का जो स्वरूप हो गया है, वह इस सीमित परिभाषा से स्पष्ट नहीं हो पाता। पुरातत्त्व वस्तुतः मानव-समाज के अतीत की वह व्याख्या है जो उससे सम्बद्ध पुरावशेषों के आधार पर की जाती है। अंग्रेजी शब्द आर्क्योलॉजी दो यूनानी शब्दों—Archaios (Arche) = प्राचीन अथवा प्रारम्भिक तथा Logos = संभाषण या ज्ञान-वार्ता के मेल से बना है, अतः जो विषय मनुष्य-समाज के प्रारम्भिक जीवन से सम्बद्ध हो वह पुरातत्त्व के अंतर्गत आ जायगा। प्रसिद्ध पुरातत्त्वज्ञ क्रॉफोर्ड (Crawford, O.G.S.)[1] महोदय के विचार में पुरातत्त्व विज्ञान की वह शाखा है जिसमें अतीत के गर्भ में विलुप्त मानव-संस्कृतियों का अध्ययन किया जाता है, और व्यवहार में इसका प्रमुख उद्देश्य रहता है—आदिकालीन तथा प्रागैतिहासिक संस्कृतियों का विवरण प्रस्तुत करना। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए पुरातत्त्वज्ञ उन प्राचीन अवशेषों का अध्ययन करता है जिनसे किसी संस्कृति की प्रमुख विशेषताओं का ज्ञान उपलब्ध होता हो। यह बात सही है कि पुरातत्त्व के माध्यम से अश्मकालीन तथा अन्य प्रागैतिहासिक संस्कृतियों का ज्ञान प्राप्त होता है, परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि पुरातत्त्व की परिधि के अंतर्गत ऐतिहासिक काल नहीं आता। इतिहास वस्तुतः मानव-समाज की वह कहानी है जिसका आरम्भ इस धरती पर मनुष्य के प्रादुर्भाव के साथ ही हो जाता है। इस प्रकार मानव-जाति के विकास की गाथा का काल अत्यन्त व्यापक है। अतएव अध्ययन की सुविधा के उद्देश्य से इसे तीन क्रमिक कालों—प्रागैतिहासिक काल, आद्यैतिहासिक काल तथा ऐतिहासिक काल में विभाजित कर दिया गया है।

युग-विशेष के सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक, राजनैतिक इत्यादि विषयों के विवरण प्रस्तुतीकरण हेतु इतिहासकार तत्कालीन लिखित प्रमाणों का आश्रय लेता है। वह किसी युग के समाज का जो विवरण प्रस्तुत करता है उसके आधार होते

---

1. Archaeology in the Field, पृ० १५

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

हैं—प्राचीन ग्रंथ, अभिलेख, पत्र, वसियतनामें, दिनचर्याएँ इत्यादि; परन्तु प्रागैतिहासिक तथा आद्यैतिहासिक युगों के लिए इनका सर्वथा अभाव होता है। आद्यैतिहासिक युग मानव-समाज के विकास का वह काल है जब लेखन-शैली का विकास तो हो गया था, परन्तु साहित्य का विकास न होने के कारण उस युग का ऐसा कोई लिखित सूत्र नहीं मिलता है जिसे ऐतिहासिक प्रमाण माना जाय। प्रागैतिहासिक काल मानव-सभ्यता का वह युग है जब मनुष्य लेखन-शैली से सर्वथा अनभिज्ञ था। मानव-सभ्यता के विकास के इन दोनों युगों में पनपनेवाली विभिन्न संस्कृतियों का विवरण प्रस्तुत करना पुरातत्त्व का विषय है। पुरातत्त्व उन मानव-संस्कृतियों का अध्ययन करता है जिनके ज्ञान के लिए मात्र उन पुरावशेषों के, जिनका मनुष्य ने अपने उपयोग के लिए निर्माण किया अथवा जिन्हें प्रयोग में लाया, कोई अन्य साधन उपलब्ध नहीं है। प्रसिद्ध पुरातत्त्वज्ञ चाइल्ड महोदय के मत में पुरातत्त्व भौतिक जगत् में घटित उन सभी परिवर्तनों का अध्ययन करता है जिनका कर्त्ता मनुष्य रहा है।[1] मनुष्य के आदिकालीन कार्यकलापों के प्रमाण-स्वरूप प्राचीन वस्तुओं के जो अवशेष उपलब्ध हैं उन्हें चाइल्ड ने आर्टिफैक्ट (artifact) नाम दिया है। इन्हें दो श्रेणियों में विभाजित किया गया है—चल अवशेष (relic) और अचल अवशेष या स्मारक (monument)। अश्मोपकरण, मृद्भांड, शस्त्रास्त्र, आभूषण, मूर्तियां इत्यादि वस्तुओं को स्थानान्तरित किया जा सकता है, अतः इस तरह के अवशेष चल कहे जायेंगे। परन्तु मंदिर, किले, नहरें, कब्र आदि स्थानान्तरित नहीं किये जा सकते हैं और ये अचल अवशेष की श्रेणी में आते हैं। इन्हीं प्राचीन अवशेषों के आधार पर पुरातत्त्वज्ञ लुप्त एवं अज्ञात संस्कृतियों का विवरण प्रस्तुत करता है।

ऊपर जो कुछ कहा गया, उसका यह अर्थ हुआ कि पुरातत्त्व वह विषय है जो मनुष्य के अतीत की व्याख्या उन अवशेषों के आधार पर करता है जो इस धरती के गर्भ में संचित मिलते हैं। पुरातत्त्वज्ञ का लक्ष्य प्राचीन अवशेषों का अध्ययन मात्र नहीं रहता है। उसका लक्ष्य तो प्राचीन अवशेषों को अपनी उद्देश्य-पूर्ति का साधन बनाना है। पुरातात्त्विक अध्ययन का उद्देश्य है—प्राचीन मानव जिस अवस्था में जीवन-यापन करता था, सोचता था, कार्यरत रहता था उसको यथासंभव मूर्तरूप प्रदान करना। वह अतीत के गर्भ में लुप्त संस्कृतियों के निर्माताओं के जीवन के विभिन्न पहलुओं, जैसे—रहन-सहन, खान-पान, सामाजिक जीवन, धार्मिक मान्यताएँ इत्यादि का यथासाध्य सही विवरण प्रस्तुत करने का प्रयास करता है। इस कार्य को संपन्न करने के लिए पुरातत्त्वज्ञ को उत्खनन का सहारा लेना पड़ता है। आज उत्खनन के बिना पुरातत्त्व की कल्पना नहीं की जा सकती—इसके बिना वह पंगु हो जायगा। पृथ्वी

1 Childe, V. G., Piecing Together the Past, पृ० १.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh
के गर्भ में पड़ी सभ्यता को प्रकाश में लाने के लिए उत्खनन ही एकमात्र साधन है। जब उत्खनन के माध्यम से अतीत के ग्रामों तथा नगरों को नवजीवन प्रदान किया जाता है, तो वे अपने उद्भव, उत्थान तथा पतन की कहानियाँ सुनाने लगते हैं, उदाहरणार्थ —'दिनांक २४ अगस्त सन् ७९ ई० में विसुवियस पर्वत के ज्वालामुखी का ऐसा विनाशकारी विस्फोट हुआ कि इटली के ऐश्वर्यसम्पन्न नगर पोम्पाई का नामोनिशान मिट गया, परन्तु जब सन् १७४८ ई० में उस स्थान की खुदाई की गई तो नाट्य-शालाओं, भव्य अट्टालिकाओं तथा बाजारों से सम्पन्न इस सुंदर नगर का विवरण सुलभ हो गया।[1] अब तक ज्ञात संसार के प्राचीनतम नगर का नाम जेरिको था, इसका रहस्योद्घाटन उत्खनन ने ही किया। जेरुसलम के निकट जेरिको नामक एक शहर है, जिसके बाहर दस एकड़ के क्षेत्र में ७० फीट तक ऊँचा खंडहर फैला हुआ है। यह टीला संसार के प्रथम नगर जेरिको के अवशेषों से बना है। मनुष्य ने लगभग ८००० ई० पू० में इस स्थान को आबाद किया और उसने यहाँ प्रगति के चरण इस प्रकार बढ़ाए कि लगभग ७००० ई० पू० में एक नवाश्मकालीन नगर का निर्माण कर लिया गया[2]। इस नगर के निवासियों ने पत्थरों से संसार के प्रथम रक्षा-प्राचीर का निर्माण किया। यह नगर अनेक सभ्यताओं का केन्द्र रहा और इसका सुदीर्घकालीन इतिहास बड़ा ही रोमांचक तथा रोचक है। मेसोपोटामिया के प्राचीन नगर उर का आज जो अत्यन्त रोचक ऐतिहासिक विवरण सुलभ है, तो उसका श्रेय प्रसिद्ध पुरातत्त्वज्ञ सर ल्योनार्ड वुली महोदय द्वारा सम्पन्न किये गये उस स्थान के उत्खनन को है। तृतीय सहस्राब्दी ई० पू० के भारत, मिश्र, इसरायल तथा मेसोपोटामिया की समृद्ध सभ्यताओं के विवरणों का प्रस्तुतीकरण तथा उनके पारस्परिक सम्बन्धों का मूल्यांकन उत्खनन द्वारा उपलब्ध सामग्री के आधार पर ही संभव हुआ है। जर्मनी के पुरातत्त्वज्ञ हेनरी श्लीमन ने होमर के महाकाव्यों की नगरी ट्रॉय के अस्तित्व को प्रमाणित किया, तो सर आर्थर इवान्स ने होमर-पूर्व यूरोपीय सभ्यता (द्वितीय सहस्राब्दी ई० पू०) का विवरण प्रस्तुत किया। इवान्स महोदय की सबसे बड़ी सफलता थी—क्रीट की प्राचीन सभ्यता की खोज, जिसने उन्हें ख्याति प्रदान की। भारत की समृद्ध सिंधु-घाटी सभ्यता के विषय में हमें आज जो ज्ञान उपलब्ध है, वह भी पुरातत्त्व की देन है। इस सभ्यता के विषय में कुछ समय पूर्व तक हड़प्पा, मोहेंजोदारो, चंहुदारो इत्यादि स्थानों के उत्खनन से जो ज्ञान प्राप्त हुआ था उसकी तुलना में आज हम बहुत

1. Ceram, C.W., A Picture History of Archaeology, पृ० २५-४७; इटली के दूसरे सम्पन्न नगर हरकुलेनियम (Herculaneum) का भी अंत पोम्पाई (Pompeii) के साथ ही हुआ।
2. Kenyon, K. Archaeology in the Holy Land, पृ० ४४

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

अधिक जानते हैं। हाल के वर्षों में अनेक स्थानों के उत्खननों से सिंधु घाटी सभ्यता के प्रचुर अवशेष उपलब्ध हुए हैं। इस सभ्यता के भारतीय स्थलों में लोथल, सुरकोतदा, कालीबंगन और बनावली विशेष महत्त्वपूर्ण हैं। अब इस सभ्यता के उद्भव, विकास और अन्त के विषय में हमारा ज्ञान पर्याप्त समृद्ध हो गया है। देश के विभिन्न भागों में स्वाधीनता प्राप्ति के पश्चात् पुरातात्त्विक खोज एवं उत्खनन के जो कार्य सम्पन्न किये गये और किये जा रहे हैं, उनसे भारतीय प्रागैतिहासिक एवं आद्यैतिहासिक युगों का धुंधला चित्र दिनोंदिन स्पष्ट होता जा रहा है। कई ऐतिहासिक तथा कालक्रम सम्बन्धी समस्याओं का समाधान करना भी संभव हो गया है, जैसे—दक्षिण भारत में अरिकामेडु तथा ब्रह्मगिरि नामक स्थानों के उत्खनन से प्रथम शताब्दी ई० सन् में भारत-रोम सम्बन्धों के निश्चित प्रमाण ही नहीं मिले, अपितु दक्षिण भारत के इतिहास के तिथि-क्रम का एक निश्चित आधार भी उपलब्ध हुआ। उत्खनन की महत्ता प्रदर्शित करने के लिए यहाँ थोड़े से उदाहरण प्रस्तुत किये गये। उत्खनन ने मानव इतिहास को जितना समृद्ध किया है उन सबों का विवरण प्रस्तुत करना अलग पुस्तक का विषय है।

उत्खनन का अथवा पुरातत्त्व के अन्य तकनीकियों का उपयोग केवल प्रागितिहास तथा आदीतिहास तक ही सीमित नहीं हैं। वस्तुतः कोई भी युग ऐसा नहीं है जिसके लिये पुरातत्त्व की उपयोगिता नहीं, अन्तर इतना ही है कि प्रागैतिहासिक काल के ज्ञान के लिए पुरातत्त्व ही एकमात्र साधन माना गया है, परन्तु ऐतिहासिक काल के लिए पुरातत्त्व की महत्ता केवल उस अज्ञात विषय के लिए हैं जिसके सम्बन्ध में लिखित प्रमाण उपलब्ध नहीं हैं, जैसे—यदि ऐतिहासिक युग का कोई दुर्ग अथवा नगर ध्वस्त होकर पृथ्वी के गर्भ में पड़ा रहा, तो उत्खनन द्वारा उसका उद्धार किया जाता हैं और उस विषय में ऐतिहासिक विवरण को पूर्णता प्रदान की जाती है। उदाहरणार्थ—उज्जैनी नगरी के प्राचीन दुर्ग का प्राचीर, भगवान् बुद्ध के अस्थि-अवशेष पर निर्मित वैशाली का स्तूप, अन्तिचक का पाल-सेन-कालीन स्तूप इत्यादि।

यहाँ ध्यान देने की बात यह भी है कि आर्टिफैक्ट कहलाने वाले पुरावशेषों के अतिरिक्त भी कतिपय अन्य प्रमाणों को पुरातात्त्विक ज्ञान के लिए उपयोगी माना गया है, जैसे—शंख मनुष्य-निर्मित नहीं है, परन्तु जो शंख फ्रांस की प्रागैतिहासिक गुफाओं में पाये गये उन्हें महत्त्वपूर्ण पुरातात्त्विक प्रमाण भी कोटि में रखा गया। इसका कारण यह है कि फ्रांस में इसकी उपलब्धि से यह प्रमाणित हुआ कि मनुष्य ने उस शंख को उसके उद्गम स्थान भूमध्यसागर से अपने आवास तक स्थानान्तरित किया, जिससे प्रागैतिहासिक काल में फ्रांस तथा भूमध्यसागर के मध्य आवागमन की विद्यमानता प्रमाणित होती है। इसी प्रकार मनुष्य का कंकाल भी महत्त्वपूर्ण पुरातात्त्विक

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

प्रमाण माना जाता है। अतः यह अनिवार्य नहीं है कि जिस वस्तु का निर्माण मनुष्य ने नहीं किया वह पुरातात्त्विक प्रमाण की श्रेणी में नहीं आयगा। महत्त्वपूर्ण तथ्य यह है कि कोई पुरावशेष किस पुरातात्त्विक संदर्भ में उपलब्ध होता है। यदि कोई प्राचीन अवशेष जिस संदर्भ में मिलता है उससे तत्कालीन मानव-समाज का विवरण प्रस्तुत करने में उसकी उपयोगिता सिद्ध होती है तो मानव-निर्मित न होने पर भी उसे पुरातात्त्विक प्रमाण स्वीकारना होगा।

पुरातत्त्वज्ञ के लिए ध्यान में रखने की एक महत्त्वपूर्ण बात यह भी है कि जिस काल का विवरण प्रस्तुत करने का वह प्रयास कर रहा हो, उस समय उस स्थान की भौगोलिक स्थिति क्या थी? जैसे—भूमि की उर्वरता, स्थानीय पशुपक्षियों की मनुष्य के लिए उपयोगिता अथवा उनसे हानि, वहाँ मछली मारने की सुविधाओं और बन्दरगाह के लिए उपयुक्त स्थान की विद्यमानता अथवा उनका अभाव इत्यादि, क्योंकि ये बातें ऐसी हैं जिनके आधार पर किसी क्षेत्र के निवासियों के रहन-सहन और उनके जीवन के आर्थिक पक्ष का अनुमान लगाना संभव होता है। प्राकृतिक वातावरण या तो मनुष्य के कार्य-विशेष हेतु प्रेरणादायक एवं सहायक सिद्ध होता है अथवा उसकी गतिविधियों में बाधक। परन्तु यह भी संभव है कि मनुष्य विपरीत प्राकृतिक वातावरण में समुचित परिवर्त्तन कर उसे अपने अनुकूल बनाने में सफल हो जाय। कभी-कभी मनुष्य स्थानीय पशु-पक्षियों की कई जातियों का सफाया कर देता है और उनके स्थान पर नई नस्ल के जानवरों को दूसरे स्थानों से लाकर वहाँ आबाद कर देता है। मनुष्य के प्रयास का ही यह परिणाम होता है कि घनघोर जंगल अथवा घास के मैदान लहलहाते खेतों में बदल दिये जाते हैं। जहाँ कभी दल-दली जमीन रही हो वहाँ कृषक हल जोतते देखे जाते हैं। इस प्रकार के जो परिवर्तन होते हैं उनकी व्याख्या पुरातत्त्व के सामान्य नियमों द्वारा नहीं की जा सकती। इसके लिए पुरातत्त्वज्ञ भूतत्त्व-विज्ञान, प्राणि-शास्त्र, वनस्पति-विज्ञान, ऋतु-विज्ञान, नृतत्त्व-शास्त्र, भूगोल आदि सम्बद्ध विज्ञानों का आश्रय लेता है।

पुरातत्त्व और इतिहास—ऊपर इस बात का उल्लेख किया गया है कि इतिहास एवं पुरातत्त्व में भेद है। इन दोनों विषयों के बीच ये प्रमुख भेद परिलक्षित होते हैं—

(१) इतिहास के अध्ययन का काल सीमित है, अर्थात् लिखित प्रमाणों की उपलब्धि-पूर्व का युग इतिहासज्ञ के कार्यक्षेत्र की परिधि से बाहर पड़ता है। भारत का निर्विवाद ऐतिहासिक युग भगवान् बुद्ध के प्रादुर्भाव-काल से आरम्भ होता है। बुद्ध-पूर्व युग आदीतिहास और उससे भी पहले का काल प्रागितिहास का विषय है। मिश्र तथा मेसोपोटामिया के लिखित प्रमाण अधिक प्राचीन माने गये हैं, परन्तु इन

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

देशों का भी ऐतिहासिक युग पाँच सहस्र वर्षों का ही है। दूसरी ओर पुरातत्त्व की परिधि में काल की कोई सीमा निर्धारित नहीं की जा सकती।

(२) इतिहासज्ञ का अध्ययन उन स्थान-विशेषों पर केन्द्रित हो जाता है जो किसी सभ्यता के विकास के केन्द्र रहे हों। प्राचीन काल का इतिहास वस्तुतः सभ्यता के केन्द्रों का इतिहास है। प्राचीन भारत में मगध की प्रधानता थी, तो यूरोप में एथेन्स और रोम की प्रमुखता रही। परन्तु पुरातत्त्वज्ञ का प्रमुख लक्ष्य रहता है—जनजीवन का विवरण प्रस्तुत करना, अतः सभ्यता के जहाँ भी और जिस प्रकार के भी अवशेष उपलब्ध होते हैं उनका पुरातत्त्व में समुचित अध्ययन किया जाता है। झोपड़ी के अवशेष हों अथवा आलीशान महल के—सभी समान महत्त्व के माने जायेंगे। मानव समाज का यथासंभव सर्वांगीन विवरण प्रस्तुत करने के उद्देश्य से सभी उपलब्ध पुरावशेषों का समभावेन अध्ययन पुरातत्त्व में अपेक्षित माना गया है। इसके साथ ही पुरातत्त्व की विधियों का उपयोग केवल प्रागैतिहासिक युग तक ही सीमित नहीं रखा जाता—आवश्यकतानुसार इनका कहीं भी उपयोग किया जा सकता है।

(३) पुरातत्त्व को इतिहास का पूरक माना गया है। भारत, चीन, मिश्र, इजरायल, मेसोपोटामिया, इटली, यूनान, ईरान आदि अनेक देशों के इतिहास को पुरातत्त्व ने समृद्ध किया है। इन देशों के इतिहास के अनेक स्वर्णिम पृष्ठ पुरातत्त्व के अभाव में सादे ही रह जाते। यह तो पुरातत्त्व का कमाल है कि लिखित प्रमाणों पर आधारित अधूरे इतिहास को पूर्णत्व प्रदान करने में इतिहासकार को सफलता प्राप्त होती है।

यद्यपि पुरातत्त्व और इतिहास में उपर्युक्त भेद दीखते हैं, परन्तु दोनों में लक्ष्य-साम्य है—दोनों का लक्ष्य आदिकाल से लेकर आधुनिक युग पर्यन्त मानव समाज के विकास की विभिन्न अवस्थाओं का विवरण प्रस्तुत करना है। अन्तर यही है कि दोनों भिन्न-भिन्न स्रोतों से इस कार्य को सम्पन्न करते हैं। पुरातत्त्व हमारे पूर्वजों के जीवन से संबद्ध पुरावशेषों के आधार पर अतीत का विवरण प्रस्तुत करता है। यह विवरण सदा पूर्ण नहीं हो पाता है क्योंकि सभी प्रकार की पुरातात्त्विक वस्तुओं को विनष्ट होने से नहीं बचाया जा सकता। इस कारण पुरातत्त्व समाज का सर्वांगीन विवरण प्रस्तुत करने में सर्वथा सक्षम नहीं हो पाता है। इसके साथ ही यह बात भी ध्यान देने की है कि इस विवरण में तथा इतिहास-कालीन विवरण में साम्य का अभाव रहता है। इतिहास के कुछ ऐसे भी युग हैं जिनके पूर्ण विवरण प्रस्तुत करने के लिए पुरातात्त्विक तथा ऐतिहासिक—दोनों प्रकार के सूत्रों की आवश्यकता पड़ती है, अर्थात् पुरातत्त्व तथा इतिहास दोनों एक दूसरे के पूरक बन जाते हैं। वस्तुतः इतिहास को सभी युगों में पुरातत्त्व का सहयोग प्राप्त होता है, पर यही बात पुरातत्त्व

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

के साथ लागू नहीं होती, क्योंकि एक युग ऐसा भी है जहाँ पुरातत्त्व पूर्णतया आत्म-निर्भर हो जाता है—वह है, प्रागैतिहासिक काल, जिसके ज्ञान के लिए लिखित सामग्री का सर्वथा अभाव है।

पुरातत्त्व और इतिहास के सम्बन्ध में यह स्पष्ट है कि दोनों अन्योन्याश्रित हैं। सफल पुरातत्त्वज्ञ बनने के लिए इतिहास का समुचित ज्ञान प्राप्त करना अनिवार्य होता है। इतिहासज्ञ ही सफल पुरातत्त्वज्ञ बन सकता है। पुरातत्त्वज्ञ के लिए उत्खनन विधियों से अवगत होना ही पर्याप्त नहीं माना जा सकता। उसमें तिथि निर्धारण तथा ऐतिहासिक महत्त्व के अवशेषों की समुचित व्याख्या करने की पूर्ण क्षमता होनी चाहिए। आज के पुरातत्त्वज्ञ को अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिए अनेक विज्ञानों का सहयोग प्राप्त करना भी अनिवार्य हो जाता है। इसके लिए या तो उसे स्वयं ही पुरातत्त्व से सम्बन्धित विज्ञानों का ज्ञाता होना चाहिए या वैज्ञानिकों का सहयोग प्राप्त करना चाहिए। आज के विशिष्टीकरण तथा वैज्ञानिक प्रगति के युग में यह संभव नहीं है कि एक ही व्यक्ति पुरातत्त्व से सम्बद्ध सभी विज्ञानों में पारंगत हो जाय, अतः वैज्ञानिकों का निकट सहयोग प्राप्त करना अनिवार्य हो गया है।

पुरातत्त्व और प्राचीन कलात्मक वस्तुएँ—प्राचीन कलात्मक वस्तुओं और पुरातात्त्विक अवशेषों के सम्बन्धों को स्पष्ट रूप में समझ लेना चाहिए। यूरोपीय धार्मिक पुनर्जागरण युग तक पुरातत्त्व तथा कला के इतिहास का भेद स्पष्ट नहीं हो पाया था। उन दिनों इस विषय के विद्वानों का प्रमुख लक्ष्य था—यूनान तथा रोम के गौरवमय अतीत का विवरण प्रस्तुत करना—उनके कलात्मक अवशेषों का अध्ययन करना। इस युग के विद्वानों की दृष्टि में प्राचीन सांस्कृतिक कला और पुरातत्त्व अभिन्न थे। कलाकृतियों, मूर्तियों तथा भवनों की कला के मूल्यांकन को ही वे पुरातत्त्व समझते थे। परन्तु यह स्थिति उसी समय तक बनी रही जबतक पुरातत्त्व का समुचित विकास नहीं हो पाया था। पुरातत्त्व के विकास ने कलात्मक वस्तुओं के अध्ययन एवं पुरातत्त्व के सम्बन्धों को स्पष्ट कर दिया। पुरातत्त्व में कलात्मक वस्तुओं के अध्ययन का महत्त्व अवश्य है, परन्तु पुरातत्त्वज्ञ अतीत की कलाकृतियों का मूल्यांकन एक कलामर्मज्ञ के दृष्टिकोण से नहीं करता। वह अतीत की सभी कलात्मक वस्तुओं का महत्त्व उन वस्तुओं की मानव-सभ्यता के इतिहास की व्याख्या की क्षमता में निहित मानता है। जो प्राचीन कलाकृति तत्कालीन समाज के सम्बन्ध में जितनी अधिक सूचना प्रदान करेगी, उसका उतना ही अधिक महत्त्व होगा। पुरातत्त्वज्ञ किसी भी कलाकृति का मूल्यांकन उसकी कलात्मक विशिष्टताओं के आधार पर नहीं करता। इस तथ्य को सदा ध्यान में रखना चाहिए कि कोई कलाकृति कितनी भी कलात्मक विशिष्टताओं से परिपूर्ण क्यों न हो, वह मानव-जीवन के किसी पक्ष के विषय में

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

हमारा ज्ञान संवर्द्धन करने की क्षमता के अभाव में अपना महत्त्व खो देगी। पुरातत्त्वज्ञ का प्राचीन अवशेषों का मूल्यांकन सदा निरपेक्ष होता है। प्रोफेसर चाइल्ड महोदय के विचार में पुरातत्त्वज्ञ तथा कला के इतिहासवेत्ता के दृष्टिकोणों में मौलिक भेद रहता है। यद्यपि कला के इतिहासकार के अध्ययन की सामग्री भी पुरातात्त्विक वस्तुएँ होती हैं, परन्तु उन वस्तुओं के उसके अध्ययन में उस सौंदर्य की प्रधानता होती है जो कलाकार ने उसे प्रदान किया—अर्थात् उस कलाकृति का कला-पक्ष। पुनः प्राचीन चित्रों, मूर्तियों तथा प्रासादों के अध्ययन में उनके उन संदर्भों की उपेक्षा कर दी जाती है जिनमें उनको उपलब्ध किया गया हो। दूसरी ओर, पुरातत्त्वज्ञ उस संदर्भ को ही विशेष महत्त्वपूर्ण मानता है जिसमें कोई प्राचीन अवशेष मिला—अर्थात् जिस सीमा तक किसी वस्तु में ऐतिहासिक समस्याओं के समाधान की क्षमता विद्यमान होगी, उसकी महत्ता भी उसी अनुपात में आंकी जायगी। पुरातात्त्विक प्रमाणों में प्रायः ऐसी वस्तुओं का अभाव देखा जाता है जिनमें उनका अपना सौंदर्य हो। उनके महत्त्व का कारण तो वह संदर्भ होता है जिसमें वे पाये गये अथवा उनसे सम्बद्ध वे वस्तुएँ होती हैं, जिनके कारण उनके उपयोग के विषय में तथा उनके प्रयोक्ता मनुष्य के सम्बन्ध में हमारी ज्ञानवृद्धि होती है।

प्रत्येक कलाकृति में विशिष्टता होती है, उसका अपना सौंदर्य होता है, जिसका कलामर्मज्ञ मूल्यांकन करता है। परन्तु दूसरी ओर, पुरातत्त्वज्ञ विभिन्न कलाकृतियों में जो समानता निहित रहती है उसका मूल्यांकन करता है। युग-विशेष के चित्रों, मूर्तियों तथा मन्दिरों में शैली की जो समानताएँ उभर आती हैं, उनका पुरातत्त्वज्ञ के लिए विशेष महत्त्व होता है, क्योंकि उनसे तत्कालीन समाज की विचारधारा की झलक मिलती है। वह कला के उस पक्ष को महत्त्व प्रदान नहीं करता जो वैयक्तिक होता है। भिन्न-भिन्न कलाकारों की अपनी-अपनी सौंदर्यानुभूतियों का अध्ययन तो कला-विशेषज्ञ का ही कार्य है। पुरातत्त्वज्ञ का उद्देश्य मानव समाज के विकास की विभिन्न अवस्थाओं का विवरण प्रस्तुत करना रहता है, अतः इस उद्देश्य-पूर्ति के प्रयास में जो कलाकृति जितनी अधिक सहायक होगी, उसका महत्त्व उतना ही अधिक होगा।

पुरातत्त्व और सामाजिक वातावरण—प्रसिद्ध पुरातत्त्वज्ञ चाइल्ड महोदय के अनुसार पुरातत्त्व में मनुष्य के उन क्रियाकलापों तथा उपलब्धियों का अध्ययन किया जाता है जिनका सम्बन्ध समाज से रहा है। समाजशास्त्रियों के अनुसार मनुष्य के अधिकांश व्यवहार सामाजिक परम्पराओं द्वारा निर्धारित होते हैं। भोजन उपलब्ध करना, संकटों का निवारण करना तथा शारीरिक शीत-ताप नियंत्रित करना अथवा इनमें त्रुटि-पूर्ति की क्षमता आदि के विषय में मनुष्य जन्मना अनुभव-

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

शून्य रहता है। इन गुणों का विकास सामाजिक वातावरण की देन माना गया है। अपने अस्तित्व के लिए संघर्ष में मनुष्य की सफलता का प्रमुख कारण हुआ उसकी अनुसंधान-क्षमता, जिससे उसने उपकरण, वस्त्र, गृह इत्यादि के निर्माण में सफलता प्राप्त की। ये ही वस्तुएँ पुरातात्त्विक सामग्री कहलाती हैं। वस्तुतः मानव-समाज की प्रत्येक पीढ़ी अपने पूर्ववर्ती पीढ़ी के अनुभवों से लाभान्वित होती रही है। किसी मानव शिशु में उपकरण-निर्माण का ज्ञान जन्मना विद्यमान नहीं रहता है। किसी भी विषय में उसकी निपुणता का आधार होता है—उसके पूर्ववर्तियों का अनुभव। आदि अश्मकालीन मानव को अबेविलियन (Abbevillian) अथवा अशूलियन (Acheulian) हस्त-परशु (Hand-Axe) के निर्माण में निपुणता प्राप्त करने में लाखों वर्ष लग गये थे। आदि मानव ने इस दिशा में अनेकानेक भूलें करते हुए यह ज्ञान प्राप्त किया कि किसी उपकरण का निर्माण किस प्रक्रिया द्वारा किया जाय और कौन-कौन से पत्थर किस-किस उपकरण के लिए उपयुक्त होंगे। प्रत्येक पूर्वकालीन समाज के अनुभवों का परवर्ती समाज ने लाभ उठाया और इस प्रकार समाज ने प्रगति के चरण बढ़ाए। प्रत्येक उपकरण, जिसके निर्माण में मनुष्य को सफलता मिली, वह उसकी सर्जनात्मिका क्रिया का फल था और वही पुरातात्त्विक सामग्री बन गया। यों तो मनुष्य ने कई खोजें की होंगी, परन्तु उनमें सामाजिक उपयोगिता का अभाव होने से वे लुप्त हो गईं। वे ही खोजें जीवित रहीं जिन्हें समाज ने स्वीकार किया और उन्हीं का पुरातत्त्व के लिए महत्त्व हुआ।

पुरातत्त्व को अन्य विषयों की देन—पुरातत्त्व ऐसा विषय है जिसके विकास में कई अन्य विषयों का योग रहा है। ये विषय हैं—भूतत्त्व-विज्ञान, नृतत्त्व-शास्त्र, रसायन-शास्त्र, प्राणि-विज्ञान, वनस्पति-विज्ञान, भौतिक-विज्ञान इत्यादि। पुरातत्त्व को भूतत्त्व-विज्ञान की देन बड़ी महत्त्वपूर्ण है। प्रागैतिहासिक अध्ययन को भूगर्भ-शास्त्र ने ही ठोस-आधार प्रदान किया। सर्वप्रथम भूतत्त्वज्ञों को ही पृथ्वी की परतों में संचित आदिकालीन मानव के अस्थि-अवशेषों एवं लुप्त प्राणियों के कंकालों के साथ अश्मोपकरण प्राप्त करने का श्रेय है। इस सम्बन्ध में जॉन फ्रिडरिख एस्पर (Johann Friedrich Esper), राबर्ट प्लॉट (Robert Plot), परेरे (De la Payrere), बिशॉप लिटलटन (Bishop Lyttelton), जॉन फ्रेरे (John Frere) प्रभृति सत्रहवीं तथा अठारहवीं शताब्दी के शोधकर्त्ताओं की देन महत्त्वपूर्ण मानी जायगी। परन्तु उन्नीसवीं शताब्दी के भूगर्भ-शास्त्रियों की उपलब्धियों से मनुष्य की प्राचीनता अकाट्य हो गई। जेम्स हटन (Hutton) तथा लयेल (Lyell, C.) द्वारा प्रतिपादित एकरूपता-सिद्धान्त (Doctrine of Uniformitarianism), वेडेल सिमोन्सेन (Vedel Simonsen) और टॉम्सेन (Thomsen, C. J.) के त्रियुग-

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

सिद्धान्त तथा डार्विन महोदय के विकासवाद के सिद्धान्त (Doctrine of Evolution) ने मनुष्य की प्राचीनता को सर्वथा सिद्ध कर दिया। जेम्स हटन ने Theory of the Earth (१७८५) में यह मत व्यक्त किया कि भूगर्भीय परतों के निर्माण उन्हीं प्राकृतिक प्रक्रियाओं के परिणाम माने जायेंगे जो आज भी समुद्र, नदी और झील में विद्यमान हैं। चार्ल्स ल्येल ने Principles of Geology (१८३०-३३ ई०) में स्पष्ट किया कि भूगर्भीय स्तर-निर्माण की प्राचीन तथा तत् सदृश आधुनिक प्राकृतिक प्रक्रियाओं में एकरूपता है। इस सिद्धान्त को स्वीकार करने का अर्थ हुआ, भूगर्भीय परतों में संचित मानव अस्थियों की प्राचीनता सम्बन्धी संदेह का निवारण। मानव-जाति की प्राचीनता सिद्ध करने की दिशा में कार्यरत उन्नीसवीं शताब्दी के शोधकर्त्ताओं में बेलजियम के स्मर्लिंग (Schmerling) तथा इंगलैंड के मैकएनरी (Mac Enery, J.) अग्रणी माने जाते हैं। परन्तु इनके समकालीन टर्नल (Tournal), डुमा (Dumas), क्रिस्टोल (Christol) इत्यादि शोधकर्त्ता जो दक्षिणी फ्रांस की गुफाओं में खोज करते रहे, उनकी उपलब्धियों का महत्त्व भी हमें स्वीकार करना चाहिए। प्रेस्ट्विच, फाल्कोनर, जॉन इवान्स, पेन्गेली, यॉब डॉवकिन्स इत्यादि भूतत्त्वज्ञों को पुरातत्त्व के क्षेत्र में ख्याति मिली। स्मर्लिंग महोदय ने कई गुफाओं में खोज करके अनेक ऐसे मानव खोपड़ियों तथा उपकरणों को उपलब्ध किया जिनका सम्बन्ध लुप्त गैन्डों तथा मैमथ से स्थापित किया जा सका। स्मर्लिंग ने यह विचार व्यक्त किया कि उनके द्वारा उपलब्ध मानव-अस्थियाँ तथा अश्मोपकरण निःसंदेह उन लुप्त प्राणियों के समकालीन हैं जिनके साथ वे संचित मिले।[1] मैकएनरी को १८२५ ई० में टोरक्वे (Torquay) के निकट एक गुफा (Kent's cavern) के उत्खनन में स्टेलेगमाइट के मोटे स्तर के नीचे मैमथ और अन्य लुप्त पशुओं (जैसे गैंड़े) की अस्थियों के साथ मानव-निर्मित अश्मोपकरण मिले। इसी प्रकार के साक्ष्य फ्रांस, स्पेन तथा अन्य यूरोपीय देशों की गुफाओं में भी मिले। फ्रांस के बुशे दि पर्थ (Boucher de Perthes) को सोम (Somme) नदी-घाटी में ग्रेवल के संचय में प्रागतिहासिक पशुओं की हड्डियों के साथ फ्लिट उपकरण मिले। उन्होंने इस प्रकार की वस्तुओं का संग्रह करना शुरू किया और इस कारण उन्हें उपहास का पात्र बनना पड़ा। परन्तु, इस प्रकार की जो प्रागैतिहासिक वस्तुएँ उपलब्ध हो रही थीं, उनके फलस्वरूप विद्वानों को मनुष्य के आदिकाल के सम्बन्ध में निश्चित धारणा स्थापित करने की दिशा में सोचने को बाध्य होना पड़ा। १८५९ ई० में इंगलैंड के दो प्रमुख विद्वानों की एक जाँच कमीशन का इस सम्बन्ध में विचार हेतु गठन किया

1. Daniel G.E., A Hundred Years of Archaeology, पृ० ३४।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

गया। इस कमीशन के एक सदस्य सर जॉन इवान्स परातत्त्वज्ञ थे और दूसरे जोसेफ प्रेस्ट्विच (Prestwich, Sir J.) भूतत्त्व वैज्ञानिक। इन विद्वानों ने बुशे द्वारा संग्रहित प्रागैतिहासिक वस्तुओं का निरीक्षण कर यह निर्णय लिया कि उनका दावा सही था। इस प्रकार १८५९ ई० का पुरातत्त्व के इतिहास में विशेष महत्त्व हो गया क्योंकि अब मनुष्य के अस्तित्व सम्बन्धी भूगर्भशास्त्रियों का दावा सिद्ध होने से पुरातत्त्व के दायरे का असीम विस्तार हो गया। १८५७ ई० में ही प्रसा (Prussia) में न्यन्दरथल (Neantderthal) मानव की खोपड़ी पायी गई थी। तदनन्तर यूरोप, एशिया तथा अफ्रीका के कई पुरास्थलों के प्रातिनूतन (Pleistocene) भूगर्भीय संचयों में मानन अस्तित्व के साक्ष्य उपलब्ध हुए। १८९१ ई० में जावा में मानव समान प्राणी की एक खोपड़ी, दांत तथा जंघे की अस्थि प्रातिनूतन कालीन प्राचीन संचय में पायी गई। मनुष्य के इस पूर्वज को जावा-मानव की संज्ञा दी गई। १९२७ ई० में पेकिंग के निकट आदि मानव के अवशेष पाये गये। यहाँ इस बात के भी साक्ष्य मिले कि यह मानव आग की उपयोगिता से परिचित था। अफ्रीका की ओल्डुवाइ घाटी (Olduvai Gorge) में उपलब्ध मानव अवशेषों को बहुत महत्त्व प्राप्त हुआ। १९५९-७३ ई० में उपलब्ध साक्ष्य के आधार पर यहाँ के मानव को उपकरण निर्माता मानव समुदायों में प्राचीनतम माना गया। भारत में भी शिवालिक की पहाड़ियों तथा काश्मीर में प्राचीन मानव के अस्तित्व के साक्ष्य मिले। आदि मानव की प्राचीनता के सम्बन्ध में यहाँ थोड़े उदाहरण दिये गये।

मानव अस्तित्व की प्राचीनता को निर्विवाद सिद्ध करना मात्र ही पुरातत्त्व को भूगर्भशास्त्र की देन नहीं मानी जायगी। उत्खनन में स्तर-विन्यास का प्रमुख स्थान है क्योंकि इसी आधार पर किसी आबादी स्थल का संस्कृतिक्रम निर्धारित किया जाता है। स्तरीकरण मूलतः भूगर्भशास्त्र का सिद्धान्त है और पुरातत्त्व के लिए इसकी उपयोगिता को सर्वप्रथम उन पुरातत्त्वज्ञों ने समझा जो भूगर्भशास्त्री भी थे। प्रागैतिहासिक खोज तथा उत्खनन दोनों ही के विकास में भूतत्त्व की देन का महत्त्व है और यह कहना अतिशयोक्तिपूर्ण नहींहोगा कि पुरातत्त्व का जो भवन आज खड़ा है, उसकी नींव उन लोगों ने रखी जो पुरातत्त्वज्ञ के साथ भूगर्भशास्त्री भी थे।

भूतत्त्व-विज्ञान के समान नृतत्त्व-शास्त्र का भी पुरातत्त्व के साथ बड़ा घनिष्ठ सम्बन्ध है। प्रागितिहास-कालीन संस्कृतियों का विवरण प्रस्तुत करने के लिए इन दोनों शास्त्रों की अनिवार्यता असंदिग्ध है। आदिम मानव के जीवन के सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक इत्यादि विभिन्न पहलुओं के विवरणों के लिए पुरातत्त्वज्ञ को

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

नृतत्त्व-विज्ञान का आश्रय लेना पड़ता है। जो मानव-समुदाय आज भी आदिम मानव के सदृश जीवन-यापन करते हैं, उनकी जीवन-पद्धति का अध्ययन मनुष्य-जाति के आदिम समाज का विवरण प्रस्तुत करने के लिए बड़ा उपयोगी साबित हुआ है। नृतत्त्व-शास्त्र ने इस बात को प्रमाणित किया है कि संसार के सभी भूखंडों में सभ्यता के विकास के क्रम में एकरूपता रही है, यद्यपि इसकी गति कहीं तीव्र रही, तो कहीं मंद। जिस भूखंड में मनुष्य समुचित प्रगति नहीं कर सका, वहाँ उसके जीवन-यापन की पद्धति आदिम अवस्था में ही रह गई। अतः प्रागैतिहासिक संस्कृतियों के अध्ययन में नृतत्त्व-शास्त्र का बड़ा महत्त्व है। अतः पुरातत्त्व में उन विद्वानों की देन बड़ी महत्त्वपूर्ण मानी जाती है जो पुरातत्त्वज्ञ बनने के पूर्व नृतत्त्व-शास्त्री थे। प्रसिद्ध पुरातत्त्वज्ञ पिट-रिवर्स महोदय आरम्भ में नृतत्त्वज्ञ थे और जब उन्होंने पुरातत्त्व को अपनाया तो इस विद्या को नया दृष्टिकोण प्रदान किया। यह वह दृष्टिकोण था जिससे अतीत की जीवन-पद्धति को वर्तमान में देखना सम्भव हुआ। नृतत्त्वशास्त्र के जनक टाइलर महोदय माने जाते हैं और उनके दृष्टकोण का पुरातत्त्व में समावेश करने वाले थे, पिट-रिवर्स महोदय। आदि-मानव के समाज के विवरण के लिए किस प्रकार पुरातत्त्व में प्राणि-विज्ञान, ऋतु-विज्ञान, भूगोल आदि विषयों का आश्रय लिया जाता है इसका हम उल्लेख कर चुके हैं।

आज रसायन-शास्त्र और भौतिक-विज्ञान का पुरातत्त्व में विशेष महत्त्व हो गया है। जब पुरातत्त्वज्ञ को उत्खनन में प्राचीन वस्तुओं की उपलब्धि होती है तो कई वस्तुओं को विनष्ट होने से बचाने के लिए विशिष्ट रासायनिक प्रक्रियाओं द्वारा संरक्षित करना अनिवार्य हो जाता है। धातु-निर्मित उपकरणों की सफाई के लिए भी रासायनिक प्रक्रियाओं का आश्रय लिया जाता है। मान लीजिए उत्खननकर्त्ता को सिक्के या मूर्तियाँ मिल गईं, तो उनकी सफाई तथा उनके संरक्षण के लिए विशिष्ट रासायनिक प्रक्रिया को अपनाना पड़ेगा। संरक्षण का पुरातत्त्व में बड़ा महत्त्व है। प्राचीन अवशेष—मिट्टी या पत्थर के हों अथवा किसी धातु के बने हों, सिक्के के समान छोटे हों या मन्दिर अथवा महल सदृश विशाल—सभी का संरक्षण अनिवार्य होता है। अतः पुरातत्त्व में संरक्षण सम्बन्धी रसायन-शास्त्र की शिक्षा के लिए विशेष प्रबन्ध किये जाते हैं। पुरातत्त्वज्ञ रसायन-शास्त्र का संरक्षण के अलावे और भी कई अन्य उपयोग करता है, जैसे—तिथि-निर्धारण के लिए मिट्टी और हड्डी का रासानिक विश्लेषण। तिथि-निर्धारण के लिए आज भौतिक-रासायनिक परीक्षणों का विशेष महत्त्व हो गया है, जिनके विषय में तिथि-निर्धारण के प्रसंग में विचार किया जायगा।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

पुरातात्त्विक खोज एवं उत्खनन-विधियों का विकास

प्रारम्भिक अवस्था से त्रियुग-सिद्धान्त-प्रतिपादन तक—मनुष्य के हृदय में अपने अतीत के प्रति नैसर्गिक जिज्ञासा देखी जाती है, जो प्राचीन काव्यों एवं कथाओं में उपलब्ध विवरणों का आश्रय पाकर प्रखर हो उठती है। प्रायः सभी देशों के प्राचीन साहित्य में मानव जाति के आदि-काल की गाथाएँ उपलब्ध होती हैं। इनमें कुछ तो कपोल-कल्पित होती हैं, परन्तु कुछेक वास्तविकता पर आधारित होती हैं। अतः उनसे मनुष्य के अतीत की थोड़ी झलक मिल जाती है। भारत और मेसोपोटामिया में जल-प्लावन की कथा मिलती है। बहुत दिनों तक इसे काल्पनिक माना जाता रहा, परन्तु मेसोपोटामिया में पुरातत्त्वज्ञों को इस सम्बन्ध में जो प्रमाण उपलब्ध हुए, उनसे यह निश्चित हो गया कि इस कथा का आधार सत्य घटना है। भारतीय परम्परा के अनुसार मानव-समाज का विकास चार युगों—अर्थात् सत्ययुग, द्वापर-युग, त्रेता-युग और कलियुग में सम्पन्न हुआ है। पहला युग सर्वोत्तम था, क्योंकि उस समय का समाज सत्य और न्याय पर आधारित था और उस युग का मनुष्य भी देवतुल्य था। परन्तु ज्यों-ज्यों समय बीतता गया, मनुष्य की दशा एवं उसकी नैतिकता का ह्रास होता गया। इस प्रकार की कथाएँ अन्यत्र भी उपलब्ध होती हैं। यूनान-वासियों ने अपने अतीत की गाथा को महाकाव्यों का रूप दिया। होमर ने ताम्रयुग का उल्लेख किया है और हेसिऑड (Hesiod) ने मानव-समाज के विकास को क्रमशः पाँच युगों में विभाजित किया है। तदनुसार, प्रथम युग स्वर्ण एवं अमरत्व का था। उस युग में मनुष्य सुखी एवं देवप्रिय था। दूसरा, रजतयुग था जिसमें मनुष्य की महानता में कमी आने लगी। तीसरा था, कांस्य-युग। इस युग में सम्पूर्ण पृथ्वी कांस्य मानव से आबाद हो गई। यह मानव-जाति अपने उपयोग की सभी वस्तुओं का निर्माण कांसे से ही करने लगी। मनुष्य युद्धप्रिय भी हो गया। चौथा युग महाकाव्य काल हुआ। इस युग के मनुष्य कांस्ययुगीन मानव से अच्छे थे। परन्तु पाँचवें, अर्थात् लौह-युग में शोक-ग्रस्त मानव का राज्य हो गया। इस युग का मनुष्य अपराध एवं हिंसा में रुचि लेने लगा। यद्यपि हेसिऑड द्वारा की गई समाज के विकास की यह कल्पना दार्शनिक है, परन्तु इसका आधार अंशतः कांस्ययुग की वास्तविक परम्परा है।

प्राचीन काल के कई यूरोपीय दार्शनिकों ने, जैसे—अरस्तू (Aristotle), टेसिटस (Tacitus), ल्युक्रेटियस (Lucratius) तथा प्लेटो इत्यादि ने मनुष्य के आदिकाल का उल्लेख अपने-अपने ढंग से किया। इनमें कवि तथा दार्शनिक

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

ल्युक्रेटियस की देन महत्त्वपूर्ण मानी जाती है, क्योंकि उसने सभ्यता के विकास को जिस क्रम का उल्लेख किया उसमें सच्चाई है। उसकी पुस्तक De Rerum Natura में इस मत का प्रतिपादन किया गया है कि समाज के विकास के आदिकाल में मनुष्य अपने नाखून, दाँत, पत्थर, लकड़ी आदि का उपयोग करता था। तत्पश्चात् उसने ताँबे का उपयोग सीखा और अंत में उसे लोहे के प्रयोग का ज्ञान प्राप्त हुआ।

यद्यपि मनुष्य के आदिकालीन जीवन में यूनान एवं रोम के विचारकों ने अभिरुचि दिखलाई, परन्तु उन्होंने कोई ऐसा प्रयास नहीं किया जिससे पुरातत्व का विकास हो पाता। इसका प्रमुख कारण उनका दार्शनिक दृष्टिकोण था, जिससे उन्होंने प्राचीन वस्तुओं के संग्रह, उनका वर्गीकरण तथा विश्लेषण और खंडहरों की खुदाई पर ध्यान नहीं दिया। अतः यूरोपीय मध्यकाल तक इस दिशा में कोई प्रगति नहीं हो पाई। जब धार्मिक पुनर्जागरण का युग आया, तो यूरोप के प्रतिष्ठित-युग में लोगों की अभिरुचि पुनः उत्पन्न हुई। हेरोडोटस, अरस्तू तथा ल्युक्रेटियस की रचनाओं का अध्ययन एवं मनन होने लगा। लोगों के सामने ऐसे प्राचीन अवशेष भी थे जिनके विषय में कौतूहल का समाधान करना था। इस प्रकार अतीत के प्रति मनुष्य का कौतूहल बना रहा।

यूनान और रोम के निवासियों के हृदय में आदि मानव-समाज के प्रति जो जिज्ञासा बनी रही उसीका यह परिणाम हुआ कि पन्द्रहवीं शताब्दी के अंतिम दशक में रोम के नागरिकों में प्राचीन वस्तुओं के संग्रह का शौक जगा। कई लोगों ने प्राचीन वस्तुओं का अच्छा संग्रह कर लिया। इस युग के इटली में 'डिलेटैन्टी' (Dilettanti) नामक एक नये शब्द का प्रचलन हुआ। प्राचीन कलात्मक वस्तुओं में अभिरुचि-सम्पन्न लोगों को डिलेटैन्टी कहा जाता था। वे इस युग के कलाप्रेमी जन थे। इस वर्ग के लोगों की गणना पुरातत्व के जन्मदाताओं में की जाती है।

इटली-वासियों में प्राचीन कलात्मक वस्तुओं के संग्रह का जो शौक उत्पन्न हुआ था वह अठारहवीं शताब्दी के आते-आते ठंढा पड़ गया। रोम नगर के संग्रह जहाँ-तहाँ बिखर गए। परन्तु रोम में कलात्मक वस्तुओं का इतना संग्रह हो चुका था कि आदि पुरातत्त्वज्ञ जर्मनी के विंकलमन महोदय (Johan Joachim Winkelmann, १७१७-६८ ई०) ने जब कला के इतिहास पर अपने प्रसिद्ध ग्रंथ की रचना की (१७६३-६८ ई०), तो उन्हें इसके लिए अधिकांश सामग्री रोम में ही उपलब्ध हुई। विंकलमन महोदय पुरातत्त्व के जनक माने जाते हैं। वे प्रथम व्यक्ति थे जिन्होंने प्राचीन कला का समुचित अध्ययन किया। उनके पूर्ववर्तियों ने प्राचीन कलात्मक वस्तुओं का जो संग्रह कर रखा था उसका उन्होंने शैली के आधार पर वर्गीकरण

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

किया। वे अपनी पुस्तक द्वारा सम्पूर्ण यूरोप में विख्यात हो गये। यद्यपि आधुनिक मापदण्ड के अनुसार उन्हें पुरातत्त्वज्ञ नहीं कहा जा सकता, फिर भी पुरातत्त्व के विकास में उनकी देन के महत्त्व की उपेक्षा नहीं की जा सकती, क्योंकि उन्होंने इस दिशा में एक स्वस्थ परम्परा का सूत्रपात किया। उन्होंने जिस अध्ययन का समारंभ किया उसकी परिणति पुरातत्त्व के विकास के रूप में हुई।

सोलहवीं और अठारहवीं शताब्दियों के बीच की अवधि में जब इटलीवासी प्राचीन वस्तुओं के संग्रह में लगे हुए थे, उन्हीं दिनों इंगलैंड में प्राचीन वस्तुओं के अध्ययन सम्बन्धी एक अन्य प्रकार के विषय का प्रादुर्भाव हुआ। जॉन लिलैण्ड (John Leland, J.), जॉन स्टोव, (John Stow) विलियम कैमडेन (William Camden), हम्फ्री ल्वीड (Humfrey Lhwyd), जॉन नॉर्डन (John Nordon) प्रभृति तत्कालीन विद्वानों ने अपनी रचनाओं में भूतल विवरण (topographical accounts) प्रस्तुत किये। इस कार्य के लिए उन्हें देश के ऐतिहासिक महत्त्व के स्थानों की यात्राएँ करनी पड़ीं। जॉन लिलैन्ड ने वेल्स तथा इंगलैंड के ग्रामों, नगरों तथा प्रागैतिहासिक महत्त्व के स्थानों का विवरण प्रस्तुत किया। इस कार्य के लिए उन्हें घूम-घूम कर ज्ञान संचय करना पड़ा। तत्कालीन विद्वानों में सबसे अधिक महत्त्व का काम किया—विलियम कैमडेन ने। इन्होंने सम्पूर्ण ब्रिटिश द्वीप-समूह का भ्रमण करके जो पुरातात्त्विक ज्ञान संचित किया, उसका ब्रिटानिया नामक ग्रंथ के रूप में १५८६ ई० में प्रकाशन हुआ। विलियम कैमडेन को ह्वीलर महोदय ब्रिटिश पुरातत्त्व के जनक मानते हैं। इनके ग्रंथ का प्रथम प्रकाशन लैटिन भाषा में हुआ था और शीघ्र ही इसके संस्करण प्रकाशित किये गये। इस ग्रंथ ने बहुतों को ब्रिटेन के प्राचीन अवशेषों के विषय में विवरण प्रस्तुत करने की प्रेरणा प्रदान की। कैमडेन तथा उनके समकालीन विद्वानों के प्रयासों के फलस्वरूप १५७२ ई० में प्राचीन राष्ट्रीय अवशेषों के संरक्षण के विचार से एक संस्था की भी स्थापना की गई। दुर्भाग्यवश इस संस्था को जेम्स प्रथम ने यह कह कर कि इसके उद्देश्य राजनैतिक हैं, भंग कर किया। परन्तु अल्पकाल में ही इस संस्था के तत्वावधान में जो शोध-निबंध लिखे गये, उनका १७२० ई० में 'ए कलेक्शन ऑफ क्युरिओज डिस्कवर्ड बाई एमिनेन्ट एन्टिक्वेरिज' के नाम से प्रकाशन किया गया।

सत्रहवीं शताब्दी के इंगलैंड में प्राचीन वस्तुओं के अध्ययन का शौक बना रहा। विलियम कैमडेन और लिलैंड ने जिस परम्परा का समारंभ किया था, उसका इस शताब्दी में विलियम डुग्डेल (William Dugdale), रॉबर्ट प्लॉट (Robert Plot), एडवर्ड ल्वीड (Edward Lhwyd) इत्यादि विद्वानों ने निर्वाह किया। ये विद्वान् इतिहासज्ञ के साथ-साथ भूतलज्ञ भी थे। रॉबर्ट प्लॉट ने नेचुरल हिस्ट्रीज ऑफ

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

स्टैफोर्डशायर ऐन्ड ऑक्सफोर्डशायर' नामक ग्रंथ की रचना की। एडवर्ड ल्वीड और जॉन ऑब्रे उन विद्वानों में थे जो प्राचीन वस्तुओं का तदर्थ अध्ययन करते थे। इन दोनों की गणना प्रथम अंग्रेज पुरातत्त्वज्ञों में की जाती है। एडवर्ड ल्वीड ने कैमडेन रचित ब्रिटानिया के संपादन का भार ग्रहण किया और इस कार्य को संपन्न करने के लिए उन्होंने वेल्स का पाँच वर्षों तक भ्रमण किया। डेनियल महोदय के विचार में यहीं पुरातत्त्व में गंभीर क्षेत्र-अध्ययन का जन्म हुआ। ऑब्रे ने स्टोनहेंज (Stonehenge) और अवेबरी (Avebury) का विवरण प्रस्तुत किया और यह मत व्यक्त किया कि इन स्मारकों का निर्माण संभवतः मंदिरों के रूप में हुआ था। पुरातत्त्व के विकास में ऑब्रे को विशेष महत्त्व प्रदान किया गया है। लिटन स्ट्रैची महोदय इन्हें प्रथम अंग्रेज पुरातत्त्वज्ञ मानते हैं। डेनियल महोदय इस मत का पूर्ण समर्थन तो नहीं करते हैं, परन्तु वे ऑब्रे को प्रथम अंग्रेज क्षेत्र-पुरातत्त्वज्ञ स्वीकार करते हैं।[1]

सत्रहवीं शताब्दी में अंग्रेजों की एक और देन पुरातत्त्व के क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण मानी जाती है। यह देन थी—अद्भुत वस्तुओं (curios) का पहला संग्रह, जो अर्ल आरुंडेल द्वारा किया गया था। दूसरा संग्रह ड्यूक ऑफ बकिंघम ने किया। इस विषय में चार्ल्स प्रथम को भी रूचि उत्पन्न हुई तो उन्होंने इस कार्य के लिए अपने एक एडमिरल को ईजियन सागर में संग्रहकर्त्ता-प्रतिनिधि नियुक्त किया। अद्भुत वस्तुओं के संग्रहकर्त्ताओं में जॉन ट्रेड्सकांट (Tradescant) एक सामान्य व्यक्ति थे, परन्तु उन्होंने जो संग्रह किया, वह बड़े काम का निकला। इनका ही संग्रह आगे चल कर ऐश्मोलियन संग्रहालय का केन्द्र बन गया। उन्हीं दिनों जेम्स प्रथम ने, जिन्होंने प्राचीन वस्तु संग्रहकर्त्ताओं की संस्था को मान्यता प्रदान करना अस्वीकार किया था, यह निर्णय किया कि प्राचीन वस्तुओं का अध्ययन राज्य तथा कॉमनवेल्थ के लिए हितकर होगा। इस प्रकार हम पाते हैं कि सोलहवीं तथा सत्रहवीं शताब्दियों में प्राचीन वस्तुओं के संग्रह और अध्ययन की अच्छी प्रगति हुई।

अठारहवीं शताब्दी में प्राचीन वस्तुओं के अध्ययन को तीन बातों से बड़ा बल मिला। ये बातें थी—(१) यूनानी सभ्यता की खोज, (२) रोमांटिक आंदोलन और (३) प्रकृति के इतिहास का विकास। इस शताब्दी के विद्वानों में यूनायी सभ्यता के प्राचीन अवशेषों की खोज एवं उनके अध्ययन की विशेष अभिरुचि देखने को मिलती है। इसका कारण यह था कि सन् १७५०-१८३० ई० की अवधि में अंग्रेज विद्वानों ने प्राचीन यूनान के अवशेषों को प्रकाश में लाया। इस नई खोज से संग्रह-

1. Daniel, G. E., A Hundred Years of Archaeology, पृ० १९

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

कर्त्ताओं तथा घुमक्कड़ों को यूनान जाकर वहाँ के अवशेषों पर टिप्पणियाँ लिखने, उनके चित्र बनाने तथा वहाँ उत्खनन करने की प्रेरणा मिली।

जेम्स स्टुआर्ट (James Stuart) तथा रेवेट (Revett, N.) महोदयों की सन् १९५१-५३ ई० की यात्राओं के साथ संग्रहकर्त्ताओं के एक महान् युग का सामारंभ हुआ जो उन्नीसवीं शताब्दी के आरम्भ तक चला। चित्रकार स्टुआर्ट तथा वास्तुशिल्पी निकोलस रेवेट ने तीन वर्षों तक एथेन्स नगर में रहकर वहाँ के प्राचीन स्मारकों का अध्ययन करके जो विवरण प्रस्तुत किया वह एथेंस के पुरावशेष (Antiquities of Athens) नामक चार जिल्दों में प्रकाशित हुआ (१७६२-१८१६ ई०)। इसी बीच सोसाइटी ऑफ डिलेटैन्टी ने भी एक अध्ययन दल आयोनिया भेजा (१७६४ ई०) जिसकी उपलब्धियाँ 'एन्टिक्विटिज ऑफ आयोनिया' (Antiquities of Ionia) नामक पुस्तक के रूपमें प्रकाशित हुई (१७६९-९७ ई०)। रॉबर्ट वुंड और जेम्स डॉकिन्स (James Dawkins) द्वारा यूनान, एशिया माइनर, सीरिया, फिलस्तीन तथा मिश्र का भ्रमण करके जो सामग्री संग्रहित की गयी, उसका पुस्तकाकार प्रकाशन 'रूइन्स ऑफ पल्मिरा (Ruins of Palmyra) और 'रूइन्स ऑफ बाल्बेक (Ruins of Balbec) के नाम से किया गया (क्रमशः १७५३ और १७५७ ई०)। अठारहवीं शताब्दी के इन घुमक्कड़ों की उपलब्धियों ने जनता को भूमध्यसागरीय सभ्यताओं की कलात्मक विशेषताओं से भिज्ञ कराया। ये अपने साथ ऐसी प्राचीन वस्तुओं को भी लेते आते थे जो भविष्य में पुरातात्त्विक संग्रहालयों की बहुमूल्य निधि बन गईं।

पाश्चात्य जगत् को मिश्र के गौरवशाली अतीत का वास्तविक ज्ञान उन्नीसवीं शताब्दी में प्राप्त हुआ। परन्तु उस देश के पुरातात्त्विक अवशेषों में यूरोपीय जनता की रुचि जाग्रत करने का सर्वप्रथम श्रेय नेपोलियन बोनापार्ट को दिया जाता है। नेपोलियन के मिश्र पर आक्रमण करने के पूर्व यूरोपवासी उस देश के विषय में केवल इतना ही जानते थे कि वह अतीत में एक समृद्ध सभ्यता का केन्द्र था। परन्तु नेपोलियन के सैनिक अभियान (१७९८) ने मिश्र के सही रूप को यूरोपवासियों के समक्ष प्रस्तुत कर दिया। उस महान् विजेता के हृदय में अतीत के प्रति स्वाभाविक जिज्ञासा थी, अतः मिश्र पर आक्रमण करने वाली सेना में उसने एक ऐसा दल भी रखा था जिसका कार्य उस देश के भूगोल तथा प्राचीन अवशेषों का अध्ययन करना था। मिश्र के अतीत गौरव का विवरण प्रस्तुत करने के उद्देश्य से एक फ्रांसीसी-मिश्री संस्था (French-Egyption Institute) की स्थापना की गई। इस संस्था ने उत्साहपूर्वक कार्यारम्भ किया, परन्तु नेपोलियन की पराजय के फलस्वरूप विघ्न उत्पन्न हो गया। यद्यपि इस संस्था को भंग नहीं किया गया, किन्तु इसके द्वारा संग्रहित प्राचीन वस्तुओं पर अंग्रेजों का अधिकार हो जाने से वे इंगलैंड के संग्रहालयों में पहुँच गईं।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

परन्तु फ्रांसीसी-मिश्री संस्था के सदस्यों की उपलब्धियों का अनेक जिल्दों में Description de l'Egypte के नाम से प्रकाशन हो जाने से उस देश के प्राचीन अवशेषों के विषय में पाश्चात्य जगत् के विद्वानों की जिज्ञासा में वृद्धि हुई।

प्राचीन अवशेषों के अध्ययन सम्बन्धी जिस प्रकार के कार्य हो रहे थे वे सभी बड़े खर्चीले पड़ते थे, अतः अंग्रेज शोधकर्त्ताओं ने स्वदेशी प्राचीन अवशेषों पर ध्यान केन्द्रित करना आरंभ कर दिया। प्राचीन काल के कब्रों, किलों, पत्थर के बने स्मारकों, झोपड़ियों इत्यादि के अध्ययन में उनको रुचि होने लगी। इस प्रकार के अध्ययन में जिन अनेक अंग्रेज विद्वानों ने कार्य किया उनमें विलियम स्टुकेली (William Stukeley, १६८७-१७५५ ई०) की देन सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण मानी जाती है। सिद्धान्ततः तथा व्यवहारतः दोनों दृष्टियों से वे एक महान् पुरातत्त्वज्ञ थे—उन्होंने जो कुछ भी पुरातात्त्विक विवरण प्रस्तुत किया वह तत्सम्बन्धी स्थानों एवं वस्तुओं का पूरी तरह से स्वयं निरीक्षण करके सम्पन्न किया।

अठारहवीं शताब्दी में अनेक संस्थाओं की स्थापना की गई जिनके माध्यम से प्रकृति के इतिहास और पुरातन वस्तुओं के अध्ययन के विकास का मार्ग प्रशस्त होता गया। इस प्रकार की संस्थाओं में लंदन की दो संस्थाओं-का विशेष महत्त्व है। एक थी, सोसाइटी ऑफ एंटिक्वेरिज ऑफ लंदन और दूसरी थी, सोसाइटी ऑफ डिलेटैन्टी। इन संस्थाओं का प्रमुख उद्देश्य यह था कि इस क्षेत्र में कार्यरत विद्वान् आपस में मिल कर विचारों का आदान-प्रदान करें। परन्तु पुरातत्त्व के क्षेत्र में अबतक जो कुछ भी प्रगति यूनान की खोज तथा प्रकृति-विज्ञान के विकास के फलस्वरूप हुई, वह उस समय तक अधूरी ही रही जबतक कि भूतत्त्व-विज्ञान का सहयोग इस शास्त्र को नहीं मिल पाया। अतः वस्तुतः भूतत्त्व-विज्ञान के अभाव में पुरातत्त्व का अस्तित्व नहीं के बराबर माना जायगा। पुरातत्त्व को भूतत्त्व-विज्ञान की देन के विषय में हम पहले ही विचार कर चुके हैं।

पुरातत्त्व के इतिहास में उन्नीसवीं शताब्दी का बड़ा महत्त्व है, क्योंकि इस अवधि में ही इस विषय की वैज्ञानिक विधियों का विकास हुआ तथा महत्त्वपूर्ण पुरातात्त्विक खोज संपन्न किये गये। इंगलैंड, फ्रांस, जर्मनी, डेनमार्क, बेलजियम, स्विट्जरलैंड, स्वीडेन, अमेरिका प्रभृति देशों के जिज्ञासु शोधकर्ताओं की साधना के फलस्वरूप ही पुरातत्त्व को वैज्ञानिक स्वरूप प्रदान करना संभव हुआ। इस सम्बन्ध में प्रकृति विज्ञान के विकास से पुरातत्त्व को जो लाभ हुआ वह भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं माना जायगा। उन्नीसवी शताब्दी के आरंभिक वर्षों में तत्कालीन खोजकर्मियों ने अन्वेषण तथा उत्खनन कार्यों द्वारा मिश्र तथा निकटपूर्व के देशों के प्राचीन गौरव को उद्घाटित करने के महत्त्वपूर्ण कार्य को संपन्न किया। प्राचीन मिश्र, मेसोपोटामिया

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

और ईरान की प्राचीन लिपियाँ पढ़ ली गईं, अनेक पुरावशेषों का पता लगया गया और भूविवरण सम्बन्धी अध्ययन के क्षेत्र में भी पर्याप्त प्रगति हुई।

इस शताब्दी के आरंभ में अंग्रेज विद्वानों की कला-वस्तुओं में रुचि घटने लगी। परन्तु उन दिनों इस विषय में जर्मनी के विद्वानों ने अपनी धाक जमानी शुरु की। दूसरी ओर अंग्रेज विद्वान क्लासिकल पुरातत्त्व के स्थान पर प्रागैतिहासिक वस्तुओं के अध्ययन पर विशेष ध्यान देने लगे। अतः विलियम कनिंगटन (William Cunnigton) सर रिचार्ड कोल्टहोर (Richard Colt-Hoare) प्रभृति विद्वानों ने कई प्राचीन स्थानों की खुदाई कर डाली। इन्हीं दिनों सम्पूर्ण देश का भू-सर्वेक्षण भी पूरा कर लिया गया।

उत्खननकर्त्ताओं में कोल्ट होर महोदय का नाम उल्लेखनीय है। इन्होंने ३७९ बैरों को सावधानी के साथ खोदा। इन्होंने न केवल विभिन्न प्रकार के बैरों का भेद बतलाया, अपितु मूल तथा गौण कब्रों के अन्तर को भी स्पष्ट किया। इनके साथ ही कनिंगटन महोदय का नाम लिया जाता है। क्षेत्र-पुरातत्त्व को इन दोनों विद्वानों की देन बड़े महत्त्व की मानी जाती है और इन्हें इंगलैंड में उत्खनन के जनक की संज्ञा से विभूषित करना सर्वथा उपयुक्त माना जायगा।

उन्नीसवीं शताब्दी के आरंभ के वर्षों तक फ्रांस में पुरातत्त्व के विकास की प्रगति इंगलैंड के समान ही रही। वहां सत्रहवीं शताब्दी में प्राचीन वस्तुओं के अध्ययन का आरंभ हुआ। उन दिनों क्लासिकल प्राचीन अवशेषों का अध्ययन किया जाता था। कालान्तर में फ्रांसीसी विद्वान स्वदेशी पुरावशेषों के लिए गर्व का अनुभव करने लगे। फलस्वरूप १८०४ ई० में L' Academic Celtique की स्थापना की गई जो १८१४ ई० में Societe Royale des Antequeries de France में परिणत हो गया। इस प्रकार फ्रांस में स्वदेशी प्राचीन वस्तुओं के अध्ययन पर पूरा ध्यान दिया गया, परन्तु प्रागैतिहासिक संस्कृतियों के क्रमिक विकास की समस्याओं के समाधान की दिशा में कोई कार्य नहीं किया गया। इस महत्त्वपूर्ण कार्य को अन्ततोगत्वा डेनमार्क और स्वीडेन के विद्वानों ने सम्पन्न किया।

उन्नीसवीं शताब्दी में ये चार बातें ऐसी हुईं जिनके फलस्वरूप सृष्टिसम्बन्धी मनुष्य की प्राचीन धारणा पूरी तरह बदल गई—(१) लेयल (Lyell) द्वारा प्रतिपादित एकरूपता-सिद्धांत, (२) त्रियुग सिद्धान्त का प्रतिपादन, (३) डार्विन के विकासवाद का सिद्धांत और (४) भूगर्भशास्त्रियों तथा पुरातत्त्वज्ञों द्वारा मनुष्य की प्राचीनता के विश्वसनीय साक्ष्य उपलब्ध करना। भूतत्त्वज्ञों द्वारा मानव-अस्तित्व के प्रमाण की उपलब्धि तथा डार्विन के विकासवाद के सिद्धान्त ने तत्कालीन विचार-जगत् में

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

क्रांतिकारी परिवर्तन किये। नई खोजों के परिणाम-स्वरूप मनुष्य के इतिहास का काल लाखों वर्षों का हो गया। भूतत्त्व-विज्ञान में प्रकृति की एकरूपता के सिद्धान्त को मान लिया गया। इस सिद्धान्त के अनुसार पृथ्वी की परतों का निर्माण उन्हीं प्रक्रियाओं द्वारा सम्पन्न हुआ है जो आज भी समुद्रों, नदियों तथा झीलों में गतिशील हैं—भूगर्भीय परतों के निर्माण की व्याख्या करना तबतक संभव नहीं, जबतक हम यह नहीं मानते कि एक ऐसी प्रक्रिया ने उनका निर्माण किया, जो वर्तमान समय में भी सदृश साधनों द्वारा सम्पन्न हो रहा है। इस सिद्धान्त ने मनुष्य के अस्तित्व की प्राचीनता को संदेह से परे कर दिया।

प्राचीन वस्तुओं के संग्रह का जो शौक मनुष्य ने अपनाया था, उस कारण संग्रहित वस्तुओं के यत्र-तत्र बड़े-बड़े भाण्डार बन गये। इनका असली लाभ मनुष्य को डेनमार्क में बने भाण्डार से उपलब्ध हुआ। डेनमार्क के प्रोफेसर रैसमस न्येरप (Rasmus Nyerup) के प्रयासों से वहाँ की सरकार ने १८०७ ई० में स्वदेशी प्राचीन वस्तुओं के संरक्षण एवं संग्रह के उद्देश्य से एक समिति का गठन किया। प्रो० न्येरप इस संस्था के सचिव थे। जब कोपेनहेगेन में राष्ट्रीय संग्रहालय का निर्माण हुआ तो उसमें इस संस्था द्वारा संग्रहित वस्तुएँ प्रमुख थीं। इस संग्रहालय में प्राचीन वस्तुओं के संग्रह को देखकर तत्कालीन विद्वानों का ध्यान उनके अध्ययन, वर्गीकरण एवं डेनमार्क के प्राचीन इतिहास से उनका सम्बन्ध निर्धारित करने की ओर आकृष्ट हुआ और अंततोगत्वा पुरातत्त्व के त्रियुग-सिद्धान्त का प्रतिपादन किया गया। प्रायः श्री टॉम्सेन (Thomsen, C. J.) महोदय का नाम इस सिद्धान्त के जनक के रूप में लिया जाता है, परन्तु वेडेल-सिमोंसेन ने सर्वप्रथम त्रियुग की धारणा की परिकल्पना की थी। उन्होंने १८१३ ई० में लिखा कि स्कैंडिनेविया के मूल निवासी सबसे पहले पत्थर और लकड़ी के हथियार और उपकरण काम में लाते थे; तत्पश्चात् उन्हें ताँबे के उपयोग का ज्ञान प्राप्त हुआ और कालान्तर में वे लोहे का प्रयोग करने लगे। अतः इस दृष्टिकोण से उनके इतिहास को अश्मयुग, ताम्रयुग एवं लौहयुग में विभाजित किया जा सकता है। इन युगों में समय का ऐसा स्पष्ट विभाजन नहीं था कि दो सभ्यताएँ साथ-साथ नहीं पनप पाई हों। इसमें कोई सन्देह नहीं कि ताम्रयुग का आविर्भाव होने पर भी निर्धन जनता पत्थर के बने उपकरणों का प्रयोग करती रही और जब लौहयुग आया तो ताँबे के उपकरण काम में लाये जाते रहे। परन्तु वेडेल सिमोंसेन के इन विचारों की लोगों ने उस समय तक उपेक्षा की जबतक कि टॉम्सेन ने सबल प्रमाणों द्वारा इसकी पुष्टि नहीं की।

प्राचीन वस्तुओं के संग्रह एवं संरक्षण के लिए स्थापित डेनमार्क की राष्ट्रीय समिति के सचिव के रूप में टॉम्सेन महोदय, न्येरप के उत्तराधिकारी थे और उन्हें

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

राष्ट्रीय संग्रहालय का प्रथम क्युरेटर (१८१६-६५ ई०) भी नियुक्त किया गया था। उन्होंने संग्रहालय की प्राचीन वस्तुओं को तीन वर्गों में विभाजित किया—पत्थर; ताँबे और लोहे की बनी वस्तुओं को अलग-अलग रखा। इस प्रकार का जो विभाजन हुआ, उससे प्राचीन वस्तुओं के अध्ययन में एक विशिष्ट व्यवस्था का सूत्रपात हुआ; और साथ ही इससे मानव सभ्यता के विकास के तीन क्रमिक युगों का निर्धारण संभव हुआ। टॉम्सेन ने त्रियुग-सिद्धान्त को राष्ट्रीय संग्रहालय के मार्गदर्शक ग्रंथ में प्रामाणिक रूप में प्रस्तुत किया। तदनन्तर उनके शिष्यों ने इसे विकसित किया और अन्य देशों में भी इसका प्रचार हुआ। स्वीडेन के विद्वानों के बीच यह सिद्धान्त बहु चर्चित होकर उस देश में पुरातत्त्व के विकास में लाभदायक हुआ। लुंड और स्टॉकहोम के संग्रहालयों के पुरावशेषों का इस आधार पर वर्गीकरण किया गया। उन्हीं दिनों जर्मनी के संग्रहालयों में भी पुरावशेषों के वर्गीकरण हेतु इस सिद्धान्त को अपनाया गया। त्रियुग सिद्धान्त के सम्बन्ध में टॉम्सेन लिखित गाइड (१८३६ ई०), जिसके जर्मन और अंग्रेजी संस्करण क्रमशः १८३७ ई० और १८४८ ई० में प्रकाशित हुए) तथा वोर्से (Worsaae, J. J. A.) की टॉम्स (Thoms, W. J.) द्वारा अंग्रेजी में अनूदित The Primeval Antiquities of Denmark (१८४९ ई०) उन्नीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में प्रकाशित पुरातत्त्व की संभवतः सर्वाधिक महत्त्व की रचनाएँ थीं। आगे चल कर इस दिशा में जो कार्य हुए उनसे प्रागैतिहासिक अध्ययन के क्षेत्र का उत्तरोत्तर विस्तार होता गया।

पुरातत्त्व के इतिहास में १८५९ ई० अत्यन्त महत्त्वपूर्ण माना जायगा। इस वर्ष डार्विन के Origin of Species का प्रकाशन हुआ और सही अर्थ में प्रागितिहास का अस्तित्व भी इसी वर्ष से माना जाता है। १८५९ ई० में ही दो प्रमुख वैज्ञानिकों ने भूगर्भशास्त्रियों द्वारा उपलब्ध मनुष्य की प्राचीनता सम्बन्धी साक्ष्य को प्रामाणिक घोषित किया। इस घटना का पुरातत्त्व के विकास में अत्यन्त दूरगामी प्रभाव पड़ा।

मिश्र तथा मेसोपोटामिया में क्षेत्र पुरातत्त्व सम्बन्धी बृहत् कार्य संपन्न किये गये। १८२२ ई० में चेम्पोलियन (Champollion) द्वारा रोसेटा अश्मफलक में उत्कीर्ण मिश्र की चित्रात्मक लिपि का पढ़ा जाना इस देश की प्राचीन सभ्यता का ज्ञान प्राप्त करने की दिशा में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण घटना मानी गई। मिश्र की भूमि में उत्खनन कार्य का समारंभ करने वालों में बेलजोनी का नाम उल्लेखनीय है। यद्यपि इस व्यक्ति में उत्खनन सम्बन्धी वैज्ञानिक दृष्टिकोण का अभाव था, परन्तु उसने १८१७-१९ ई० में अनेक कब्रों को खोदकर उनमें उपलब्ध पुरावस्तुओं को इंगलैंड स्थानांतरित किया। मरिएटी महोदय ने तत्कालीन मिश्र में किये जा रहे उत्खनन और अन्वेषण कार्यों को नियोजित किया। वे १८५० ई० में वहाँ गये और

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

आजीवन (१८८० ई० तक) कार्यरत रहे। उन्होंने मेंफिस सहित तीस महत्त्वपूर्ण पुरास्थलों का उत्खनन किया, परन्तु उत्खनन के सही तकनीक का सहारा नहीं लेने के कारण मरिएटी ने बहुमूल्य पुरातात्त्विक साक्ष्यों को विनष्ट कर डाला। इनके पश्चात् जब पेट्री महोदय ने १८८० ई० में मिश्र में पुरातात्त्विक कार्य का श्री गणेश किया तो वहाँ पुरातत्त्व का स्वरूप ही बदल गया। इनकी उपलब्धियाँ बड़ी महत्त्वपूर्ण मानी गईं। राजवंशपूर्व मिश्र की सभ्यता का सर्वप्रथम विवरण पेट्री के प्रयास से ही प्रस्तुत किया जा सका। मेसोपोटामिया में बोटा, लायर्ड और रसम ने महत्त्वपूर्ण उत्खनन संपन्न किये। बोटा ने नाइन्वे (Nineveh) का और लायर्ड ने निमरूद तथा असुर का उत्खनन किया। लायर्ड के कार्य को रसम ने जारी रखा और १८५३ ई० में इन्हें असुर-बनी-पाल के महल का पता लगा। यूरोप में १८५३-५४ ई० में स्विट्जरलैंड के जलाशय बस्तियों के २०० स्थानों का पता लगा। प्रागितिहास के क्षेत्र में पुराश्मकाल तथा नवाश्मकाल की 'अवधारणा का विकास हुआ और इस प्रकार पुरातत्त्व के इतिहास में इस शताब्दी की उपलब्धियों का महत्त्व निर्विवाद है।

उत्खनन की वैज्ञानिक विधियों का विकास—उत्खनन की सभी वैज्ञानिक विधियाँ उन्नीसवीं शताब्दी तथा तत्पश्चात् विकसित की गईं। इनकी नींव वस्तुतः उन पुरातत्त्वज्ञों से रखी जो मिश्र और मेसोपोटामिया की प्राचीन ऐतिहासिक वस्तुओं को जैसे-तैसे खोद-खाद कर इंगलैंड और फ्रांस स्थानान्तरित करने के लिए बदनाम हुए। इन विद्वानों में बोटा (Botta), लायर्ड (Layard, A. H.), रसम Rassam, H), बेल्जोनी (Belzoni, G.), ड्रॉएटी (Drouette), प्रभृति प्रमुख थे। इन अग्रगामी पुरातत्त्वज्ञों ने कई महत्त्वपूर्ण पुरातात्त्विक प्रमाणों को नष्ट किया, परन्तु इनके द्वारा उत्खनन की परम्परा का सूत्रपात किया गया और इस क्रम में मरिएटी (Mariette), कोन्जे (Conze, A.), न्यूटन (Newton, C.), कर्टियस (Curtius, E.), श्लीमन, पेट्री, पिट-रिवर्स इत्यादि पुरातत्त्वज्ञों का प्रादुर्भाव हुआ, जिन्होंने उत्खनन की वैज्ञानिक तकनीक एवं विधियों को विकसित किया। वस्तुतः इंगलैंड तथा अन्य यूरोपीय देशों, मिश्र तथा मेसोपोटामिया में जो उत्खनन-कार्य उन्नीसवीं शताब्दी में सम्पन्न किये गये उनमें संलग्न अनेक पुरातत्त्वज्ञों ने शनैःशनैः उत्खनन की वैज्ञानिक विधियों को विकसित किया। इसका श्रेय मुख्यतः अंग्रेज, फ्रांसीसी, जर्मन, डच तथा स्कैंडिनेवियाई विद्वानों को दिया जाता है। डेनियल महोदय के अनुसार उत्खनन में स्तरीकरण के सिद्धान्त का विकास डेनमार्क तथा स्विट्जरलैंड में हुआ। पुरातत्त्व के इतिहास में सर्वप्रथम वैज्ञानिक उत्खनन करने का श्रेय व्हीलर महोदय एक ऐसे व्यक्ति को देते हैं जो पुरातत्त्वज्ञ न होकर एक शौकिया खुदाई करने वाला था। यही व्यक्ति आगे चलकर संयुक्त राज्य अमेरिका का तीसरा राष्ट्रपति बना।

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

अमेरिका के भावी राष्ट्रपति टॉमस जेफरसन (Thomas Jefferson) ने सन् १७८४ ई० में वर्जिनिया में एक टीले का उत्खनन किया था, जिसके विवरण का अवलोकन करने से पता चलता है कि वह बिल्कुल आधुनिक वैज्ञानिक उत्खननों के समान था। अपनी रिपोर्ट में जेफरसन महोदय ने टीले की स्थिति, मानव आजीविकाओं के प्रमाण, स्तरीकरण के अवस्थान, अस्थि-पंजरों के अवशेषों की विशेषताओं इत्यादि का समुचित उल्लेख किया है। उन्होंने तत्कालीन सिद्धांतों के आधार पर अपने प्रमाणों की विषयाश्रित व्याख्या प्रस्तुत की है। परन्तु जेफरसन महोदय की विधियों का किसी ने अनुसरण नहीं किया। व्यवहार में सर्वत्र बड़े पैमाने पर अव्यवस्थित उत्खनन ही होते रहे। जेफरसन महोदय के पश्चात् यथार्थ रूप में वैज्ञानिक उत्खनन १८५१ ई० में भारत में कैप्टन मिडोज टेलर (Meadows Taylor) नामक एक अंग्रेज पदाधिकारी ने कराया। ये भी एक शौकिया उत्खनक थे। वैज्ञानिक उत्खनन का आधार माना गया है—सेक्शनों, अर्थात् उत्खनित खात की दीवारों का सूक्ष्मतापूर्वक निरीक्षण एवं उनका पर्याप्त विवरण प्रस्तुत करना। वस्तुतः पुरातत्त्व में मनुष्य की आबादी के किसी भी खंडहर के उत्खनन में विभिन्न मानव-उपजीविकाओं के संचयों की परतों का वही महत्व होता है जो पुस्तक में विभिन्न पृष्ठों का। अतः स्तर-क्रम को ठीक से समझना चाहिए। यथार्थ स्तर-विन्यास ही आधुनिक उत्खनन का आधार है। अव्यवस्थित खुदाई करने का वही अर्थ होगा जो किसी पुस्तक के पृष्ठों को अस्त-व्यस्त करके उसमें प्रतिपादित विषय को तोड़-मरोड़ देना। उत्खनन के इस महत्त्वपूर्ण पक्ष को टेलर महोदय ने बड़ी बारीकी से समझा था। ह्वीलर महोदय यह मानते हैं कि टेलर की उपलब्धि अपने समय से काफी आगे थी जिसका प्रमाण जे० बी० बी० आर० ए० एस० (१८५१-५२ ई०) में प्रकाशित उनका उत्खनन-विवरण है। टेलर महोदय ने भूतपूर्व हैदराबाद राज्य में अनेक महाश्म शवाधानों का उत्खनन किया था। अपने उत्खनन-विवरण में इन्होंने सेक्शनों का चित्र तो दिया ही है, साथ ही विभिन्न स्तरों का ऐसा वर्णन किया है जो सर्वथा विश्वसनीय है। ह्वीलर महोदय के मत में उत्खनन के क्षेत्र में टेलर की देन अत्यन्त ही महत्त्वपूर्ण है. परन्तु पुरातत्त्व का यह दुर्भाग्य रहा कि अवैज्ञानिक विधियों से सम्पन्न किये जाने वाले उत्खनन नहीं रूक सके। दूसरी ओर, नवीन विधियों का विकास भी होता रहा। फ्रांस में कर्नल स्टोफेल ने वैज्ञानिक उत्खनन को आगे बढ़ाया। इस व्यक्ति ने इस तथ्य को भली-भाँति समझा कि जमीन को यदि एक बार भी खोदा जायगा तो उसका अमिट चिह्न रह जायगा--मानव उपजीविका के प्रमाणों को हम स्पष्टतया सेक्शन में उपलब्ध कर सकते हैं। इन्होंने जूलियस सीजर के शिविरों की परिखाओं को खोज निकाला, यद्यपि उनको बिल्कुल समतल कर

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

दिया गया था। इनके उत्खनन की विधि इस प्रकार थी—गैंतों और फावड़ों से लैस खोदने वाले कई पंक्तियों में भूमिस्थ शिविर के अनुमानित पार्श्वों की सीध में नियुक्त कर दिए जाते थे। प्रत्येक पंक्ति के मजदूरों की दूरी एक-दूसरे से बीस-तीस मीटरों की हुआ करती थी। प्रत्येक व्यक्ति दो फीट चौड़ी भूमि की ऊपरी परत को साफ करके सत्तर सेंटीमिटर की गहराई तक खोदता था, इसके पश्चात् यदि गैंते कठोर मिट्टी से टकराते, तो यह अनुमान लगा लिया जाता था कि रोमन-काल की परिखा मिल गई।

उत्खनन की विधियों के विकास के प्रसंग में फायोरेली (Fiorelli,G.) और न्यूटन (Newton,C. T.) को नहीं भूला जा सकता। इन दोनों ने अपने उत्खनन में वैज्ञानिक सूझ-बूझ का परिचय दिया था। फायोरेली ने पौम्पाई नगर का सर्वांगीन विवरण प्रस्तुत करने का प्रयास किया। इन्होंने १८६० ई० में पौम्पाई के उत्खनन में पूरे मकान को सतर्कतापूर्वक खोद निकाला था। इनके पूर्व के उत्खननों में मकानों की ऊपरी छत गिर जाया करती थी। इनके उत्खनन की यह भी विशेषता थी कि इन्होंने निर्धन नागरिकों के आवासों तथा अभिजात वर्ग के भव्य अट्टालिकाओं को खोद निकालने में समान सावधानी का परिचय दिया।

चार्ल्स टॉमस न्यूटन (Charles Thomas Newton) ब्रिटिश म्यूजियम के एक पदाधिकारी थे। इन्होंने १७५७-५९ ई० में स्निडौस (Cnidos) के एक प्राचीन यूनानी नगर की योजना का पुनर्निर्माण किया। इनके पूर्व के उत्खनकों में किसी ने प्राचीन नगर की योजना का हुबहू पुनर्निर्माण नहीं किया था।

अलेक्जेंडर कोंजे (Alexander Conze) ने १८७३ ई० में सैमोथ्रेस में उत्खनन किया जिसका पूर्ण विवरण प्रकाशित हुआ। यह पुरातत्त्व के इतिहास में पहला आधुनिक उत्खनन विवरण माना जाता है। इसमें सभी प्लानों के रेखांकन तथा चित्रांकन दिये गये हैं। कोंजे महोदय ने इस उत्खनन में वास्तुशास्त्रज्ञ तथा फोटोग्राफर से काम लिया था।

१८७५-८० ई० में जर्मनी की सरकार ने अर्न्स्ट कर्टियस (Ernst Curtius) के निर्देशन में ओलिम्पिया के उत्खनन के लिए तीस हजार पौंड का व्यय वहन किया। इस उत्खनन में उपलब्ध वस्तुओं के संरक्षण के लिए उसी स्थान पर एक संग्रहालय का निर्माण किया गया। कोंजे और कर्टियस द्वारा तीस वर्षों तक उत्खनन किये जाते रहे और इस अवधि में एतद्विषयक कई नई विधियाँ विकसित की गईं। इन सबों के अतिरिक्त भी अनेक स्थानों में ऐसे कार्य किये जा रहे थे। इस प्रसंग में फ्रांसीसियों, यूनानियों तथा अमेरिकी पुरातत्त्वज्ञों की देन भी श्लाघनीय है, परन्तु यहाँ सभी का विवरण देना संभव नहीं है। पुरातत्त्व की वैज्ञानिक विधियों

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

एवं तकनीक का विकास करने वालों में पहला महत्त्वपूर्ण व्यक्ति श्लीमन महोदय माने जाते हैं। वस्तुत: उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम चतुर्थांश में श्लीमन, पिट-रिवर्स तथा फ्लिंडर्स पेट्री ने उत्खनन की अधिकांश आधुनिक विधियों को विकसित किया। इन्हीं के प्रयासों से इस विषय के आधुनिक एवं वैज्ञानिक स्वरूप का निर्माण संभव हुआ। जिसे हम अर्वाचीन वैज्ञानिक उत्खनन कहते हैं उसका आधार वे विधियाँ हैं जिनका आश्रय इन पुरातत्त्वज्ञों ने लिया था। यह बात अलग है कि आज हम इनसे बहुत आगे निकल गये हैं।

श्लीमन, पेट्री, पिट-रिवर्स तथा इवान्स की देन—पुरातत्त्व के इतिहास में जर्मनी के श्लीमन (Heinrich Schliemann) महोदय का नाम बड़े आदर के साथ लिया जाता है। कई विद्वानों के मत में इन्होंने आधुनिक पुरातत्त्व की नींव रखी। परन्तु, पुरातत्त्व को इनकी देन के मूल्यांकन में विद्वानों में मतैक्य का अभाव है। कुछ तो यह मानते हैं कि इन्होंने पुरातत्त्व की आधुनिक पद्धतियों की नींव रखी। दूसरों का कहना है कि इन्होंने अनेक बहुमूल्य पुरातात्त्विक साक्ष्यों को नष्ट कर डाला। कैसन के विचार में श्लीमन ने विधिवत् उत्खनन के ऐसे सुदृढ़ आधार का निर्माण किया जिसका अनुसरण किसी भी क्षेत्र में संभव था। दूसरी ओर माईकेलिस का कहना है कि श्लीमन को अपने विषय के वैज्ञानिक विवेचन का कतई ज्ञान नहीं था। परन्तु इस प्रकार के परस्पर-विरोधी विचारों के बावजूद इतना तो मानना ही पड़ेगा कि पुरातत्त्व के विकास में इस व्यक्ति की देन बड़े महत्त्व की है और उसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती।

श्लीमन जर्मनी के एक प्रसिद्ध व्यापारी थे, परन्तु उन्होंने अपने शैशव के सपनों को पूरा करने के उद्देश्य से पुरातत्त्व को अपनाया। क्रॉफोर्ड महोदय इनको इस बात का श्रेय प्रदान करते हैं कि इन्होंने जो खुदाइयाँ कीं उनका उद्देश्य विशुद्ध ज्ञान था और इस कार्य को विधिवत् सम्पन्न किया गया। आलोचनाओं के बावजूद इनके द्वारा अपनाई गई उत्खनन की पद्धति सराहनीय थी। उत्खनन की उपलब्धियों का विवरण भी ये पुस्तकरूप में प्रकाशित कर देते थे, यद्यपि उनमें प्लान और सेक्शन नहीं होते। यह सही है कि जब इन उत्खनन-विवरणों को आज का पुरातत्त्वज्ञ पढ़ेगा, तो उसे बड़ी निराशा होगी। परन्तु इतने से ही श्लीमन के विषय में कोई धारणा बना लेना अनुचित होगा। इनकी जो अप्रकाशित टिप्पणियाँ उपलब्ध हैं उनको पढ़ने से पता चलता है कि इन्होंने उन सभी वस्तुओं तथा परिस्थितियों का, जिन पर किसी भी पुरातत्त्वज्ञ का ध्यान जाना चाहिए, सूक्ष्मतापूर्वक अवलोकन किया था। उत्खनन में सर्वाधिक महत्त्व की बात होती है स्तरीकरण सम्बन्धी, जिसकी श्लीमन ने कभी उपेक्षा नहीं की। उनमें यह विशेषता भी विद्यमान थी कि वे अपनी

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

गलतियों को मान लेते थे। यह बात अलग है कि आधुनिक मापदंड से मूल्यांकन करने पर श्लीमन महोदय की उत्खनन सम्बन्धी तकनीक अविकसित लगेगी, परन्तु अपने पूर्ववर्ती तथा समकालीन पुरातत्त्वज्ञों की तुलना में उन्होंने पुरातात्त्विक प्रगति को महत्त्वपूर्ण गति प्रदान किया था। जो भी वस्तु उनको उत्खनन में मिलती उसे वे सावधानी से रखा करते थे, क्योंकि वे इस तथ्य से भिज्ञ थे कि किसी भी संस्कृति का सर्वांगीन विवरण प्रस्तुत करने के लिए उससे सम्बन्धित प्रत्येक वस्तु का महत्त्व होता है। जिस परत पर कोई वस्तु मिलती थी उसका वे सावधानी से विवरण लिख लिया करते थे और प्रत्येक महत्त्वपूर्ण वस्तु का फोटो भी उतरवा लेते थे। उनका ध्यान इस बात पर भी रहता था कि उत्खनन-विवरण के प्रकाशन में विलंब न हो।

श्लीमन के निर्देशन में की गई हिसारलिक (Hissarlik) की खुदाई अपने ढंग की पहली थी—यह शुष्क भूमि के एक ऐसे प्राचीन आबादी के टीले (अथवा खंडहर) का बृहत् उत्खनन था जहाँ पर किसी बड़े स्मारक का कोई अवशेष नहीं दीखता था। निकटपूर्व में उत्खनन की एक लम्बी शृंखला का सूत्रपात करने का श्रेय भी इन्हें ही दिया जाता है। जब श्लीमन महोदय किसी टीले की खुदाई करते, तो वे उसके ठीक मध्य भाग में खात डालते थे और आबादियों के विभिन्न स्तरों को क्रमशः उद्घाटित करते जाते थे। इनके पूर्व पुरातत्त्व में स्तरीकरण के सिद्धान्त का व्यवहार भूतत्व-विज्ञान के संदर्भ में ही किया जाता था, परन्तु श्लीमन को इस बात का श्रेय है कि इन्होंने बड़े टीलों के उत्खनन में इसे व्यावहारिक कर दिखलाया।

यह सच है कि श्लीमन ने कई गलतियाँ कीं, परन्तु सभी अग्रगामी विद्वानों से स्वभावतः भूलें होती हैं। लोगों का यह कहना भी उचित नहीं है कि इनके पास अपने कार्य के अनुरूप शैक्षणिक योग्यता का अभाव था। इनकी स्मृति तीव्र थी और ये कई भाषाओं के ज्ञाता थे। ट्रॉय जाने के पूर्व इन्होंने चार-पाँच वर्षों तक प्राचीन ऐतिहासिक वस्तुओं का अध्ययन किया था। इन सबों के अतिरिक्त रोस्टॉक विश्वविद्यालय, मेक्लेनबर्ग से इन्होंने डॉक्टर की उपाधि भी प्राप्त कर ली थी।

श्लीमन महोदय की खुदाइयाँ समय के हिसाब से दो भागों में विभाजित की जाती हैं—(१) १८७०-१८८२ ई० और (२) १८८२ ई० से इनके मृत्यु-पर्यन्त। प्रथम भाग की खुदाइयों में वे एकाकी थे, परन्तु सन् १८८२ से उन्हें डोर्फ्फेल्ड (Dorpfeld) महोदय का सहयोग उपलब्ध होने लगा। डोर्फ्फेल्ड एक कुशल वास्तुशिल्पी थे और उन्होंने श्लीमन के उत्खनन-कार्यों में ऐसी नूतन पद्धति एवं निपुणता का समावेश किया जो जर्मनी के शास्त्रीय पुरातत्त्वज्ञों की विशेषताएँ थीं। कहा जाता है कि डोर्फ्फेल्ड ने श्लीमन की उत्खनन-विधि को विश्लेषण का स्वरूप प्रदान कर दिया।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

परन्तु यह कहना सरासर गलत होगा कि श्लीमन की खुदाइयों में जो भी अच्छाइयाँ थीं वे सभी डोर्प्फेल्ड की देन थीं, क्योंकि वे अपने सहयोगी का सहयोग प्राप्त करने के बहुत पहले से ही उन सिद्धान्तों के आधार पर काम कर रहे थे जो किसी सफल उत्खनन के लिए आवश्यक माने जाते हैं।

सर मॉर्टिमर ह्वीलर के मत में यदि किसी व्यक्ति ने उत्खनन की तकनीक और उसका रेकर्ड रखने के कार्य को सर्वप्रथम ठोस आधार प्रदान किया, तो वह जेनरल लेन फॉक्स नामक एक अंग्रेज था, जो १८८० ई० में रिवर्स नाम की जमींदारी का स्वामी बनने पर पिट-रिवर्स (Pitt-Rivers) के नाम से विख्यात हुआ। ये ही वस्तुतः पुरातत्त्व की आधुनिक पद्धति के अन्वेषक थे। इन्होंने अपनी जमींदारी के सीमा-संलग्न भूभागों के प्राचीन स्थानों का बीस वर्षों तक वैज्ञानिक दृष्टिकोण से बड़ा ही विद्वतापूर्ण अन्वेषण किया। पुरातत्त्व के प्रति इनका सम्पूर्ण दृष्टिकोण आधुनिक था। ये निरंतर उत्खनन में अधिकाधिक यथार्थता एवं विस्तार पर जोर डालते रहे। ये अपने उत्खननों के जो विवरण रखा करते थे उनमें प्रचलित परम्परा की अपेक्षा अधिक विस्तार हुआ करता था। इनका यह स्पष्ट विचार था कि सविस्तार लेखा-जोखा के अभाव में बड़े महत्त्वपूर्ण साक्ष्य नष्ट हो जा सकते हैं। पुरातत्त्वज्ञों को केवल उन बातों का ही विवरण नहीं लिख लेना चाहिए जो तत्काल महत्त्वपूर्ण प्रतीत हों, परन्तु उनका भी जो सामान्य लगें, क्योंकि पुरातत्त्व में नित्य नई समस्याएँ उत्पन्न होती रहती हैं। हो सकता है कि जो वस्तु आज बिल्कुल महत्त्वहीन जान पड़े, कल वही किसी प्रमुख समस्या के समाधान में निर्णायक सिद्ध हो। अतएव पुरातत्त्वज्ञों को चाहिए कि वे उत्खनन में उपलब्ध सभी वस्तुओं का सविस्तार रेकर्ड पूर्ण करते जायें, जिससे उनका उपयोग नई समस्याओं के समाधान में किया जा सके। पिट-रिवर्स महोदय ने रेकर्ड रखने की जिस विधि को अपनाया था वह त्रिदिशात्मक-विधि का सार है, जो आधुनिक उत्खनन का मूल आधार है।

पिट-रिवर्स की उत्खनन-विधियों का भविष्य में बहुत कुछ परिष्कार किया गया और आजकल के उत्कृष्ट उत्खनन-विवरण उनके विवरणों की तुलना में अधिक उत्तम माने जायेंगे, परन्तु उन्होंने अपने समय में जो किया वह महत्त्वपूर्ण उपलब्धि मानी जायगी। उन्हें इस बात का भी श्रेय मिलेगा कि उत्खनन सम्बन्धी अन्य व्यावहारिक समस्याओं पर भी उनका ध्यान गया। उदाहरणार्थ—उन्हें यह अनुभव हुआ कि पर्याप्त कार्यकर्त्ताओं के अभाव में उत्खनन का संचालन समुचित ढंग से नहीं किया जा सकता। वे अपने साथ नियमित सहायक रखा करते थे जिनको समुचित प्रशिक्षित करके उपयुक्त काम में लगा दिया जाता था। जब उत्खनन चालू हो जाता तो वे सदा निरीक्षण किया करते, जिससे उनकी अनुपस्थिति के कारण वहीं किसी

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

प्रकार की भूल न हो जाय। उन्होंने अपने अनुभव से यह निश्चित किया कि उत्खनन-कार्य सदा एक अनुभवी एवं दक्ष पुरातत्त्वज्ञ के प्रत्यक्ष पर्यवेक्षण में सम्पन्न होना चाहिए। उन्होंने विंकेलबरी के उत्खनन को अपने प्रत्यक्ष निर्देशन में शिक्षित सहायकों के सहयोग से पूरा किया। वे सदैव उस स्थल पर उपस्थित रहे और उनके सहायक मजदूरों के कार्यों का निरीक्षण, रेखांकन, टूटे-फूटे खोपड़ियों एवं पात्रों को जोड़ना जैसे कामों में संलग्न रहे।

उत्खनन-विधि को वैज्ञानिकता प्रदान करने के अतिरिक्त पिट-रिवर्स महोदय की पुरातत्त्व को जो महत्त्वपूर्ण देन है, वह है—मानव-जीवन के अतीत के पुनर्निर्माण सम्बन्धी। ये पुरातत्त्वज्ञ बनने के पूर्व नृतत्त्वशास्त्री थे और इन्होंने इस विषय के ज्ञान से पुरातात्त्विक अध्ययन को एक नूतन दृष्टिकोण प्रदान किया। इस दृष्टिकोण से मानव-समाज के अतीत के नवनिर्माण का मार्ग प्रशस्त हुआ। नृतत्त्वशास्त्र का यह सिद्धान्त है कि मानव-समाज का इतिहास वस्तुतः उसके सांस्कृतिक विकास के विभिन्न, क्रमिक अवस्थाओं का इतिहास है। इस सिद्धान्त के अनुसार मानव-समाज का निरन्तर विकास होता है और आज भी विभिन्न मानव-समुदाय सामाजिक विकास की भिन्न-भिन्न अवस्थाओं में देखे जा सकते हैं। इस विकास की प्रथम अवस्था रही है—अश्म-संस्कृति की। टाइलर (Tylor, E. B.) महोदय नृतत्त्वशास्त्र के जनक माने जाते हैं और उन्होंने संसार को देखने का जो नवीन दृष्टिकोण इतिहासज्ञों को प्रदान किया उससे अतीत को वर्तमान में देखना संभव हुआ। पिट-रिवर्स महोदय को इसका श्रेय है कि इन्होंने टाइलर महोदय के दृष्टिकोण को पुरातत्त्व के लिए व्यावहारिक बनाया। इन्होंने इस मत का प्रतिपादन किया कि उत्खनन स्वयमेव लक्ष्य नहीं माना जा सकता—यह तो लक्ष्यपूर्ति का साधन है। उत्खनन का लक्ष्य तो मानव-जीवन के अतीत का नव-निर्माण है। इन्होंने इस उद्देश्य को अपना मार्गदर्शक मानकर अपने जीवन की सांध्य-वेला में रॉथर्ली (Rotherley) तथा वुडकट्स (Woodcuts) में पहाड़ियों के शिखर पर बसे दो गांवों का उत्खनन किया था। इन्होंने अपनी विधि से न केवल इन ग्रामों के नमूनों का यथावत् नव-निर्माण किया, वरन् यहाँ के निवासियों की जीवन-पद्धति का बड़ा ही सुन्दर और प्रामाणिक विवरण भी प्रस्तुत किया। इन्हें इस बात का भी श्रेय है कि इन्होंने सर्वप्रथम लकड़ी की बनी झोपड़ियों के आकार के पुनर्निर्माण के लिए स्तम्भ-गर्तों के चिह्नों के उपयोग की विधि को अपनाया। इन्होंने बैरो नामक कब्रों का जिस कुशलतापूर्वक उत्खनन किया उसकी समानता बहुत कम देखने को मिली। इनकी विशेषता यह भी थी कि इन्हें अपनी भूलें स्वीकार करने और उनसे शिक्षा ग्रहण करने में कभी संकोच नहीं हुआ, जबकि इनके पूर्ववर्ती अपनी भूलें स्वीकार करने से भय खाते थे।

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

सर फिलंडर्स पेट्री (Flinders Petrie) को प्रमुखतः मिश्र एवं पैलेस्टाइन में किये गये उत्खननों से ख्याति मिली, परन्तु इन्होंने अपने पुरातात्त्विक कार्यों का समारंभ दक्षिणी ब्रिटेन में किया था। १८८०. ई० में ही इनकी स्टोनहेंज पर पुस्तक प्रकाशित हुई। अगले वर्ष से इनका ध्यान मिश्र पर चला गया। मनुष्य की सामान्य आयु की अपेक्षा ये काफी लंबी अवधि तक एक विशिष्ट क्षेत्र में कार्यरत रहे और इस बीच पुरातत्व की कई विधियों को इन्होंने विकसित किया। इनका यह दृढ़ विश्वास था कि पुरातत्व एक कष्ट-साध्य एवं श्रम-साध्य विद्या है। अपनी आत्मकथा में इन्होंने इस बात का उल्लेख किया है कि पृथ्वी की एक-एक इंच को सतर्कतापूर्वक खोदना चाहिए, जिससे इसके अंदर का कोई अवशेष अनदेखा न रह जाय। ये जन्म-जात पुरातत्वज्ञ थे—इनके विषय में कहा जाता है कि जब इनकी वय मात्र आठ वर्षों की थी तभी से इनको पुरातत्व में रुचि हो गई।

१९०४ ई० में प्रकाशित पेट्री की पुस्तक पुरातत्व की विधियाँ एवं उसके उद्देश्य' (Methods and Aims in Archaeology) इस विषय का एक उत्कृष्ट ग्रंथ है। पेट्री के विषय में क्राँफोर्ड महोदय ने अपना मत इन शब्दों में व्यक्त किया है—"पुरातत्व का उद्देश्य इतिहास का दिग्दर्शन मात्र न होकर इसका निर्माण है और इसे पेट्री ने कर दिखलाया। प्राचीन वस्तुओं का लेखा-जोखा रखने की विधि, प्रकार-विज्ञान और विवरण तैयार करके प्लानों अथा रेखांकन सहित उनके प्रकाशन की परिपाटियों का समावेश करके तत्कालीन उत्खनन की विधि में इन्होंने क्रांति ला दी। उत्खनन की जिन विधियों एवं तकनीक का इन्होंने उपयोग किया वे इनके द्वारा परिष्कृत थे।" पेट्री महोदय इस तथ्य को भली-भाँति समझते थे कि उत्खनन में विध्वंस एवं निर्माण की प्रक्रियाएँ साथ-साथ चलती हैं, अतः उन्होंने यह मत व्यक्त किया कि उत्खनन के पश्चात् किसी स्थल के प्राचीन अवशेषों के प्रमाणों का अस्तित्व कागज में ही रह जाता है। अन्य पुरातत्वज्ञों के समान वे भी यह मानते थे कि उत्खनन के समय उपलब्ध सभी वस्तुओं का विवरण तैयार करना चाहिए जिससे भविष्य में काम करने वाले पुरातत्वज्ञ लाभान्वित हो सकें। विवरण ऐसा होना चाहिए जिसके आधार पर उत्खनन किये गये स्थल के अतीत को कल्पना की आँखों से देखा जा सके।

पेट्री ने पुरातत्व की शिक्षा नहीं पायी थी अतः इन्होंने इस विषय की तकनीकियों का स्वयं विकास किया था। इनकी विधियाँ इन चार सिद्धान्तों पर आधारित थीं—

(१) जिस पुरावशेष का उत्खनन हो रहा हो उसके विषय में पूरी सावधानी रखना और भावी उत्खनकों के प्रति आदर।

 CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

(२) उत्खनन में पूर्ण सतर्कता एवं उपलब्ध प्रत्येक वस्तु का संग्रह और वर्णन।
(३) प्रत्येक पुरावशेष एवं उत्खनन का यथावत् प्लान बनाना।
(४) उत्खनन के विवरण का यथासंभव शीघ्र प्रकाशन।

इन सिद्धान्तों के आधार पर १८८९ ई० के लगभग पेट्री ने काम करना आरंभ कर दिया था। इस प्रकार के वैज्ञानिक विधियों से अबतक मिश्र में काम नहीं हुए थे, अतः उस देश के लिए यह गर्व की बात थी। पेट्री ने मरिएटी की आलोचना करते हुए कहा—'इस व्यक्ति ने सैनिकों की एक बड़ी टुकड़ी के सहयोग से ग्रेनाइट-निर्मित मन्दिर के गिरे हुए भाग को अत्यन्त धृष्टतापूर्वक टुकड़े-टुकड़े कर डाला। पुरातत्त्व को पेट्री की प्रमुख देन की संख्या तीन मानी गई है[1]—(१) मिश्र एवं यूनान के प्राचीन अवशेषों का सम-सामयिकीकरण द्वारा तिथि-निर्धारण। (२)प्रागैतिहासिक एवं आद्यैतिहासिक मानव-समुदायों द्वारा प्रयुक्त वस्तुओं का वैज्ञानिक अध्ययन। पेट्री का कहना था कि पुरातत्त्वज्ञ को अनिवार्यतः मानव-प्रयुक्त उपकरणों का सर्वांगीन अध्ययन करना चाहिए—जैसे, उसका द्रव्य, रंग, संरचना तथा यांत्रिक पक्ष आदि। इन्होंने ही पुरातत्त्व में पुरावशेष-विश्लेषण (artifact analysis) विधि के आधार का निर्माण किया, और इस विधि के माध्यम से बीसवीं शताब्दी में पुरातत्त्व ने रोचक फल उपलब्ध किये। (३) सापेक्ष तिथि-निर्धारण विधि का विकास—इसी विधि द्वारा मिश्र की प्रागैतिहासिक मृत्पात्रों का प्रकार-विज्ञान के आधार पर अनुक्रम निर्धारित किया गया। इस विधि से उन वस्तुओं का भी तिथि निर्धारित करना संभव हो गया जो किसी भी निश्चित तिथि की वस्तु से सम्बद्ध नहीं पाये गये थे।

यद्यपि पेट्री महोदय ने पुरातत्त्व की अनुपम सेवा की, परन्तु वे भी आलोचनाओं से मुक्त नहीं रह पाये। ह्वीलर महोदय ने उनकी इसलिए आलोचना की है कि उनके प्रकाशित उत्खनन-विवरणों में प्रामाणिक सेक्शन नहीं मिलते और दूसरी बात, कि वे मजदूरों को व्यस्त रखने पर विशेष जोर देते थे, परन्तु इतनी आलोचना के पश्चात् उन्होंने यह स्वीकार किया कि पेट्री की देन वस्तुतः महान् है। उनका व्यक्तित्व बड़ा ही अनुप्रेरक था जिससे उनके प्रति शिष्यों के हृदय में सच्ची श्रद्धा उत्पन्न हो जाती थी। उनका क्रियाशील मस्तिष्क आजीवन अनेकानेक पुरातात्त्विक समस्याओं एवं संभावनाओं में उलझा रहा।

हैरो, ऑक्सफोर्ड और गटिंजन में शिक्षा प्राप्त सर आर्थर इवान्स (Arther Evans, १८५१-१९४१ ई०) का जन्म एक सम्पन्न अंग्रेज परिवार में हुआ था। पिट-रिवर्स महोदय की भांति ये नृतत्त्वज्ञ थे, परन्तु पीछे चलकर इनकी रुचि मुद्राशास्त्र में हो गई, और अन्त में जब इनको बालकन-देशों के भ्रमण का मौका

---

१. डेनियल, पृ० १७६-७७

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

मिला, तो इन्होंने पुरातत्व में ध्यान केन्द्रित कर लिया। इनको अपने जीवनकाल में पुरातत्व के विकास की सभी अवस्थाओं को देखने का अवसर मिला। इन्होंने उत्खनन एवं पुनर्निर्माण की नवीन विधियों को कार्यरूप देकर उन्हें यत्नपूर्वक सिद्ध कर दिखलाया। अतीत-जीवन के पुनर्निर्माण में इन्होंने कल्पना का काफी उपयोग किया, जिससे इनके कार्यों की आलोचनाएँ भी की गई हैं। परन्तु इससे इनका महत्त्व घटता नहीं। इवान्स महोदय की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण उपलब्धि थी, क्रीट की प्राचीन सभ्यता की खोज। इन्होंने इस भूतल की एक विलुप्त सभ्यता, उसकी कला, लिपि एवं भाषा का कई जिल्दों में उत्कृष्ट विवरण प्रस्तुत किया। इस विवरण से संसार को पता चला कि लगभग तीसरी सहस्राब्दी ई० पू० के मध्य में क्रीट में मिनॉन (Minoan) सभ्यता के विकास का श्रीगणेश हुआ, जिसने ई० पू० दूसरी सहस्राब्दी में एक सुव्यवस्थित नगर-सभ्यता का रूप धारण कर लिया। इस खोज से तत्कालीन विश्व में बड़ी सनसनी पैदा हुई। अबतक के पुरातत्व के इतिहास में जैसी सनसनी इस खोज से उत्पन्न हुई उसकी तुलना केवल अबेविल में की गई खोज से की जा सकती है। सर आर्थर इवान्स की ही यह महानता थी कि इन्होंने क्रीट में जो उत्खनन किया उसका व्यय भी स्वयं उठाया।

वुली (Wooley, Sir Leonard) ने उर के उत्खनन का समारंभ १९२२ ई० में किया और इस पुरातात्त्विक उत्खनन का प्राचीन मेसोपोटामिया की सभ्यता के ज्ञान के लिए बड़ा महत्त्व माना गया। मार्शल महोदय द्वारा किये गये मोहेंजोदारों (१९२२-२७ ई०) के उत्खनन से पुरातत्त्व जगत में हलचल पैदा हो गई और प्राचीन भारत से सम्बन्धित नये अध्याय का समारंभ हुआ। अफ्रीका में लीकी (Leakey, L. B. S.) महोदय की उपलब्धियाँ प्रागितिहास के क्षेत्र में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण मानी गईं। १९४७ ई० में काल-निर्णय की कार्बन—१४ विधि के विकास ने पुरातत्त्व का स्वरूप ही बदल दिया। अब तो दिनोंदिन पुरातत्त्व में वैज्ञानिक विधियों का समावेश होता जा रहा है और यह विषय विज्ञान की श्रेणी में आ गया है।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

भारतीय पुरातत्त्व का विकास

कनिंघम-पूर्व-काल—भारतीय पुरातत्त्व के इतिहास में १५ जन १७८४ ई० का दिन अत्यन्त शुभ माना जायगा, क्योंकि उस दिन सर विलियम जोन्स ने कलकत्ते में एशियाटिक सोसाइटी ऑफ बँगाल की स्थापना की और उन्होंने इस संस्था के माध्यम से भारतीय विद्या के कार्यों को सुव्यवस्थित ढंग से आगे बढ़ाया। यद्यपि उन दिनों जो कार्य किये गये उनको सही अर्थ में पुरातत्त्व नहीं कहा जा सकता, परन्तु उनसे इतना लाभ अवश्य हुआ कि पुरातन वस्तुओं के अध्ययन के प्रति विद्वानों में अभिरुचि जाग्रत हुई। एशियाटिक सोसाइटी की ओर से एशियाटिक रिसर्चेज नामक पत्रिका के प्रकाशन और एक संग्रहालय के निर्माण के महत्त्व को नकारा नहीं जा सकता।

यह सच है कि एशियाटिक सोसाइटी की ओर से जो कार्य हुए वे साहित्य पर आधारित अनुसंधान थे। परन्तु सर विलियम जोन्स ने ऐसे कई कार्य किये जो महत्त्वपूर्ण माने जायेंगे—चन्द्रगुप्त और सैन्ड्रोकोट्टस की अभिन्नता प्रमाणित करना और पालिबोथ्रा की खोज में सफलता भारतीय इतिहास की महत्त्वपूर्ण उपलब्धियाँ थीं। जोन्स महोदय के सहयोगियों की उपलब्धियाँ भी महत्त्वहीन नहीं मानी जायेंगी। चार्ल्स विल्किंसन और कोलब्रुक ने लिपि सम्बन्धी उल्लेखनीय कार्य किये। उन्हीं दिनों एलौरा, एलीफेंटा, कन्हेरी इत्यादि पश्चिम भारत के महत्त्वपूर्ण पुरावशेषों पर कार्य किये गये।

उन्नीसवीं शताब्दी के आरंभ में एक नई बात यह हुई कि भारत सरकार ने सर्वेक्षण के कार्य पर ध्यान देना शुरू किया। इस कार्य का भार फ्रांसिस बुखानन महोदय को सौंपा गया। उन्होंने दिनाजपुर, रंगपुर, पूर्णिया, भागलपुर, बिहार, शाहाबाद और गोरखपुर जिलों के सर्वेक्षण के श्रमसाध्य कार्य को आठ वर्षों में पूरा किया। इस सर्वेक्षण का विवरण ३७ जिल्दों में प्रस्तुत किया गया, किन्तु इनमें अधिकांश के अप्रकाशित रह जाने से इस प्रकार का कार्य यहीं ठप हो गया।

जब १८३३ ई० में जेम्स प्रिंसेप महोदय ने एशियाटिक सोसाइटी के सचिव का पद संभाला, तो पुरातात्त्विक कार्यों को बड़ा प्रोत्साहन मिला। वे मूलतः वैज्ञानिक थे, अतः उन्होंने अपने कार्यक्षेत्र में वैज्ञानिक दृष्टिकोण को प्रश्रय दिया। उन्हें अपने शोध-कार्यों में द्रुतगति से सफलताएँ मिलती गईं। प्रिंसेप महोदय ने ही ब्राह्मी एवं खरोष्टी लिपियों को पढ़ा और अशोक एवं पियदसी को अभिन्न प्रमाणित किया। वे मुद्राशास्त्र

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

एवं अभिलेख के पंडित थे, किन्तु उन्होंने सर्वेक्षण तथा सही रेकर्ड रखने की महत्ता की कभी उपेक्षा नहीं की और वे उत्खनन के महत्त्व से भी अनभिज्ञ नहीं थे। वस्तुतः उन दिनों भारत के बाहर भी जहाँ-जहाँ पुरातात्त्विक कार्य हो रहें थे, जैसे—मिश्र और मेसोपोटामिया में, वहाँ प्राचीन वस्तुओं के संग्रह का प्रमुख उद्देश्य अध्ययन न होकर संग्रहालयों को सजाना था और इसमें तत्कालीन भारतीय विद्वानों की देन विदेशों की तुलना में न्यून नहीं थी।

प्रिंसेप महोदय से बड़ी-बड़ी आशाएँ थीं, परन्तु उनके असामयिक निधन से भारत में पुरातात्त्विक प्रगति की महती क्षति हुई। लेकिन उनके उत्तराधिकारी देश के विभिन्न भागों में कार्यरत रहे और कई, जैसे—जेम्स फर्ग्युसन, अलेक्जेंडर कनिंघम, इलियट, कर्नल मिडोज टेलर प्रभृति उत्साही विद्वानों ने अपनी महत्त्वपूर्ण उपलब्धियों से भारतीय पुरातत्त्व को समृद्ध किया।

इस प्रकार भारत के अतीत गौरव के ठोस प्रमाणों को प्रकाश में लाने के कार्यों का निरन्तर विस्तार हो रहा था। परन्तु यथार्थतः भारतीय पुरातत्त्व को पनपने का सुअवसर तो तब मिला जब १८६१ ई० सन् में भारत सरकार ने पुरातत्त्व विभाग की स्थापना कर उसका कार्यभार अलेक्जेंडर कनिंघम महोदय को सौंपा। वस्तुतः १८६१-१९०२ ई० की अवधि में भारतीय पुरातत्त्व की निर्बाध प्रगति नहीं हो पाई क्योंकि नव-स्थापित पुरातत्त्व सर्वेक्षण विभाग कई बार बंद कर दिया गया। फिर भी, इस बीच जो कार्य किये गये वे इस देश में पुरातत्त्व के विकास के दृष्टिकोण से महत्त्वपूर्ण थे। विशेषतः तीन व्यक्तियों—जेनरल कनिंघम, जेम्स बर्गेस और फर्ग्युसन की देन महत्त्वपूर्ण मानी जाती है। फर्ग्युसन महोदय का नाम भारतीय वास्तुकला का चित्रात्मक इतिहास प्रस्तुत करने वालों मे सर्वप्रथम है। इसी अवधि में फ्लीट, बूलर, भगवानलाल इन्द्र जी और हुल्ट्ज ने भारतीय अभिलेखों के क्षेत्र में उल्लेखनीय कार्य किये।

कनिंघम-युग—पुरातत्त्व सर्वेक्षण के प्रधान के रूप में कनिंघम महोदय ने बड़ी लगन तथा उत्साह के साथ इस देश में पुरातत्त्व के कार्य को आगे बढ़ाया। उन्होंने पंजाब, उत्तर प्रदेश, राजस्थान, मध्य प्रदेश, बिहार और बंगाल के विस्तृत भूभाग का सर्वेक्षण कर समस्त प्राचीन अचल अवशेषों या स्मारकों एवं ऐतिहासिक महत्त्व के स्थलों का जो विवरण प्रस्तुत किया वह भारतीय पुरातत्त्व की बहुमूल्य निधि मानी जायगी, क्योंकि इसने पुरातात्त्विक स्थलों की खोज में भावी पुरातत्त्वज्ञों का सफल मार्गदर्शन किया। परन्तु कनिंघम महोदय के पुरातात्त्विक सर्वेक्षण का प्रमुख उद्देश्य प्राचीन बौद्ध स्थलों की खोज था, अतः उन्होंने इस उद्देश्य की पूर्ति हेतु चीनी यात्री ह्यूएनसांग के यात्रा-विवरण को अपना मार्ग-दर्शक

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

बनाया। जहाँ-जहाँ इस चीनी यात्री के चरण पड़े थे, वहाँ-वहाँ कनिंघम भी गये। यात्रा-सम्बन्धी तत्कालीन समस्याओं को देखते हुए यह कार्य बड़ा कष्ट-साध्य था। कनिंघम महोदय को अधिकांश यात्राएँ न केवल घोड़े और बैलगाड़ी पर करनी पड़ी, बल्कि पैदल भी चलना पड़ा। भारत में जिस पैमाने पर कनिंघम महोदय ने पुरातात्त्विक क्षेत्र-कार्य किया उतना इनके पूर्व किसी ने नहीं किया था। अतः इनको भारतीय पुरातत्त्व का जनक कहना अनुपयुक्त नहीं होगा। यह सही है कि कनिंघम महोदय ने कई पुरातात्त्विक प्रमाणों को क्षति पहुँचाई, पर इसके लिए उन्हें दोष भी नहीं दिया जा सकता, क्योंकि उन दिनों पुरातत्त्व की वैज्ञानिक विधियों का विकास नहीं हो पाया था। दूसरी बात यह थी कि वे कम समय में अधिक से अधिक प्राचीन वस्तुओं को खोज निकालना चाहते थे।

अपने पद से जेनरल कनिंघम के अवकाश ग्रहण करने के पश्चात् पुरातत्त्व-सर्वेक्षण का जो पुनर्गठन हुआ उसके अनुसार प्रमुख निदेशक के समन्वयात्मक अधिकार समाप्त कर दिये गये। पश्चिमी भारत का कार्य जेम्स बर्गेस के हाथों रह गया। बर्गेस महोदय पेशा और रुचि—दोनों तरह से वास्तुशिल्पी थे। उन्होंने पश्चिमी भारत के उन सभी पुरावशेषों का, जिनका वास्तुकला की दृष्टि से महत्त्व था, सर्वेक्षण करके विवरण प्रस्तुत किया। बर्गेस द्वारा प्रस्तुत विवरण में प्रत्येक स्मारकों के रेखांकन, चित्रांकन तथा वर्णन मिलते हैं। बर्गेस महोदय तथा उनके अनुयायियों की कृपा से ही तत्कालीन विद्वज्जगत् को सातवाहन, चालुक्य, राष्ट्रकूट पल्लव और होयशल इत्यादि राजवंशों द्वारा निर्मित गुफाओं एवं मंदिरों की कलात्मकता का ज्ञान प्राप्त हुआ। परन्तु उनके पश्चात् भारतीय पुरातत्त्व के क्षेत्र में अव्यवस्था का साम्राज्य हो गया, जिसका अंत तब हुआ, जब लार्ड कर्जन की राजाज्ञा से पुरातत्त्व सर्वेक्षण विभाग का सन् १९०० ई० में पुनर्गठन किया गया, और इसके महा निदेशक पद पर जॉन मार्शल महोदय की नियुक्ति हुई। इस पद पर वे १९०४ से १९३४ ई० तक बने रहे।

सर जॉन मार्शल—पुनर्गठित पुरातत्त्व सर्वेक्षण के नये महा निदेशक सर जॉन मार्शल को क्रीट, यूनान और टर्की में पुरातत्त्व का प्रशिक्षण प्राप्त हुआ था। इस सुयोग्य एवं समुचित प्रशिक्षित पुराविद की इस पद पर नियुक्ति से इस देश में पुरातत्त्व की उल्लेखनीय प्रगति हुई। अपने तीस वर्षों के सुदीर्घ सेवाकाल में उन्होंने नई-नई खोजों से भारतीय पुरातत्त्व को समृद्ध किया। इस बीच इस देश में एक नई बात यह हुई कि कई देशी राज्यों, जैसे—मैसूर, ट्रावनकोर, जयपुर और बड़ौदा में पुरातत्त्व विभाग स्थापित किये गये। मार्शल महोदय ने यूनान के क्लासिकल पुरातत्त्व का विशेष प्रशिक्षण प्राप्त किया था, अतः वे प्रायः भारतीय

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

संस्कृति में यूनानी तत्त्वों की खोज में लगे रहते थे। परन्तु इस कथन का तात्पर्य यह नहीं कि उन्होंने मुख्य रूप से यही कार्य किया। वस्तुतः भारतीय पुरातत्त्व को उनकी देन अनुपम मानी जायगी। उन्होंने न केवल भारत के गौरवशाली अतीत के कई अध्यायों को उत्खननों के माध्यम से उद्घाटित किया, वरन् अपने विभाग का भी पुनर्गठन किया। भारत का पुरातत्त्व सर्वेक्षण विभाग कई मंडलों में विभाजित कर दिया गया जिससे प्रमुख स्मारकों के संरक्षण और नई खोजों का कार्य अधिक सुव्यवस्थित हो गया।

ई० सन् १६०४-२० का काल भारतीय पुरातत्त्व की प्रगति के लिए बुरा रहा, क्योंकि प्रथम महायुद्ध के कारण कई वर्षों तक पुरातत्त्व का कार्य ठप पड़ गया। परन्तु काम करने का जो थोड़ा-बहुत समय मिला उसमें अनेक अभिलेख एवं स्मारक खोज निकाले गये और कई स्थलों का उत्खनन किया गया। उत्तर भारत में जिन स्थलों का उत्खनन हुआ, उनमें सर्वाधिक महत्त्व तक्षशिला का है और दूसरा स्थान आता है, नालन्दा का। इसी अवधि में साँची, सारनाथ, भीटा इत्यादि स्थानों का भी उत्खनन हुआ।

इस प्रकार भारतीय पुरातत्त्व के क्षेत्र में उल्लेखनीय प्रगति तो हुई अवश्य, परन्तु इससे पुरातत्त्व का वह पक्ष जिसका मानव के आदिकाल से सम्बन्ध है, अछूता रह गया। अबतक ऐसी खोजें न की जा सकीं जिनके आधार पर आदिम-काल से सभ्यावस्था तक के मानव-समाज की प्रगति की विभिन्न अवस्थाओं का विवरण प्रस्तुत करना संभव होता। परन्तु इसके लिए भारत के पुरातत्त्वज्ञों को दोष भी नहीं दिया जा सकता, क्योंकि उन दिनों प्रायः सभी देशों में पुरातत्त्व सम्बन्धी कार्यों का प्रमुख उद्देश्य था—प्राचीन कलात्मक वस्तुओं के संग्रह द्वारा संग्रहालयों की शोभा-वृद्धि और बीते युगों का सनसनीखेज विवरण प्रस्तुत करना। दूसरी बात यह थी कि अभी तक पश्चिमी विद्वानों की यह धारणा बनी हुई थी कि भारत के इतिहास की प्राचीनता उल्लेखनीय नहीं हो सकती—इसके तिथिबद्ध इतिहास का समारंभ मौर्यकाल से पूर्व नहीं किया जा सकता। अतएव भारत के आदिकाल पर ध्यान नहीं दिया गया। अनेक वर्षों तक तक्षशिला के अतिरिक्त ऐसा कोई अन्य स्थल उत्खनित नहीं हुआ जिससे भारतीय इतिहास के किसी युग-विशेष के लोगों के रहन-सहन का ज्ञान प्राप्त होता। साधारणतः लोगों ने यह धारणा बना ली थी कि धर्मप्रधान देश भारत में केवल धार्मिक महत्त्व के पुरावशेषों का अध्ययन उपयोगी होगा। अतः विभिन्न सम्प्रदायों से सम्बन्धित स्मारकों को ही इस देश की पुरातात्त्विक संपत्ति मान लिया गया और पुरातत्त्व सर्वेक्षण विभाग ने भी इनके संरक्षण को अपना मुख्य कर्त्तव्य समझा।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

मार्शल महोदय इसे तथ्य का अनुभव करते थे कि भारत के अतीत के निर्माण के लिए वास्तविक अवशेषों का समुचित उपयोग नहीं किया जा रहा था। उन्होंने इस सम्बन्ध में अपने विचार कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ इंडिया में इन शब्दों में व्यक्त किया—'भारतीय इतिहास का यह दुर्भाग्य है कि इसके आदिकाल एवं अंधकार युगों का ज्ञान तत्कालीन अवशेषों से प्राप्त नही किया जाता।' ऐसा लिखने के दो वर्षों के पश्चात् ही उन्होंने हड़प्पा और मोहेंजोदारो में सुविकसित सभ्यता के प्रमाण उपलब्ध होने की घोषणा कर तत्कालीन इतिहास-जगत् में सनसनी पैदा कर दी। भारत के अतीत के विवरण में इस गौरवशाली अध्याय के जुड़ जाने से विश्व के इतिहासज्ञों का जो समुदाय अबतक भारतीय सभ्यता को अति प्राचीन मानने से कतराता रहा था, उसे एतद्विषयक विचार-परिवर्तन के लिए बाध्य होना पड़ा। एक दूसरे से ४०० मीलों की दूरी पर स्थित दो समकालीन महानगरों में समान सभ्यता के प्रमाण उपलब्ध होने के कारण विद्वज्जन इस सभ्यता के उद्भव, विकास और प्रसार के विषय में चिन्तन करने लगे। अब पुरातत्त्व सर्वेक्षण के दृष्टिकोण में भी परिवर्तन दीखने लगा। हड़प्पा और मोहेंजोदारो का उत्खनन वहाँ पर मनुष्य के बसने के पूर्व-स्तर तक नहीं किया जा सका, फलतः इस सभ्यता के उद्भव का पता नहीं लगा। लेकिन बलुचिस्तान तथा भारत-ईरान सीमा पर सर ऑरेल स्टाइन ने और सिंध में श्री मजुमदार महोदय ने जो खोज-कार्य किये उनसे सैंधव-सभ्यता के उद्भव की समस्या का हल ढूँढ़ने का प्रयास किया गया। इन पुरातत्त्वज्ञों के कार्य भारतीय पुरातत्त्व में एक महत्त्वपूर्ण मोड़ के संकेत माने जायेंगे। इन्होंने जो कुछ भी किया उसका एक निश्चित उद्देश्य था—भारतीय पुरातत्त्व के समस्या-विशेष का समाधान, न कि प्राचीन वस्तुओं का संग्रह मात्र।

१९३५ ई० में एक महत्त्वपूर्ण बात यह हुई कि हिमयुगों से सम्बद्ध संस्कृतियों की खोज के लिए कैम्बिज तथा येल विश्वविद्यालयों के तत्त्वावधान में सम्मिलित रूप से कश्मीर घाटी तथा पंजाब की पहाड़ियों की तलहटियों में कार्य किये गये। अब पुरातत्त्वज्ञों के समक्ष एक ज्वलन्त प्रश्न उठा कि भारत में मनुष्य का प्रादुर्भाव कब हुआ? तीसरी सहस्राब्दी ई० पू० के भारत की एक विकसित सभ्यता के ठोस प्रमाण मिल चुके थे। परन्तु मनुष्य सभ्यता की इस अवस्था पर सहसा नहीं पहुँचा। तो वह किन-किन अवस्थाओं से गुजरता हुआ वहाँ तक पहुँचा? इस तरह अब ऐसे प्रश्न उठने लगे जिनसे भारतीय पुरातत्त्व के क्षितिज का विस्तार होने लगा। अफसर वर्ग के जो पुरातत्त्वज्ञ अबतक स्तूपों, चैत्यों एवं मंदिरों में उलझे हुए थे, वे ठींकरों और अश्मोपकरणों को भी महत्त्वपूर्ण समझने लगे। परन्तु भारतीय पुरातत्त्व का यह पक्ष इसके पूर्व भी सर्वथा उपेक्षित नहीं था, यद्यपि सुनियोजित

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

ढंग से काम नहीं हो पाया। कई पुरातत्त्वज्ञों तथा इस विषय में शौक फरमाने वाले विद्वानों ने मद्रास, बड़ौदा, कुर्नूल, बंबई और पंजाब में महत्त्वपूर्ण कार्य किये थे।

पुरातत्त्व सर्वेक्षण के दृष्टिकोण में परिवर्तन—सहसा घटनाचक्र इस प्रकार घुमा कि भारतीय पुरातत्त्व सर्वेक्षण के दृष्टिकोण में फिर एक मोड़ आया। पुरातत्त्व सर्वेक्षण के महा निदेशक पद पर १९३७ ई० में एक भारतीय—राव बहादुर के० एन० दीक्षित महोदय नियुक्त हुए। सरकारी क्षेत्र में इस वास्तविकता का अनुभव किया जाने लगा कि भारत का पुरातत्त्व सर्वेक्षण विभाग अपनी विशालता के अनुरूप कार्य करने में अबतक पर्याप्त सक्षम नहीं हो पाया था। अतः भारत सरकार ने अपने पुरातत्त्व सर्वेक्षण विभाग को सुधार-सम्बन्धी सुझाव देने के लिए तत्कालीन ख्याति-प्राप्त पुरातत्त्वज्ञ सर ल्योनार्ड वुली महोदय को आमन्त्रित किया। उन्होंने अपने सुझाव में यह मत प्रकट किया कि पुरातत्त्व सर्वेक्षण विभाग में महा निदेशक के अतिरिक्त अन्य कोई व्यक्ति ऐसा नहीं था जिसे वैज्ञानिक विधियों से उत्खनन कराने के योग्य माना जाता, अतः उत्खनन का कार्य बहुत सीमित कर दिया गया। वुली महोदय ने भारतीय संस्कृति के विकास का ज्ञान उपलब्ध करने के उद्देश्य से अहिच्छत्र के उत्खनन का सुझाव रखा।

उन्हीं दिनों एक नई बात यह हुई कि शिक्षण संस्थाओं का ध्यान पुरातत्त्व की ओर गया। इस क्षेत्र में पूना का डेक्कन कॉलेज अग्रणी रहा। यहाँ के इतिहास तथा भाषा-विज्ञान में स्नातकोत्तर अध्ययन एवं शोध विभाग के एक प्राध्यापक ने पुरातत्त्व सर्वेक्षण के महा निदेशक के समक्ष खोज-कार्य की एक योजना का प्रारूप रखा। इस प्राध्यापक को पूना जिले में कुछ महाश्म मिले थे। अबतक इस प्रकार के पुरावशेषों पर ध्यान नहीं दिया गया था, परन्तु दीक्षित महोदय ने इस खोज के महत्त्व को समझा। इसका लाभ यह हुआ कि अन्यत्र भी इस प्रकार के खोज होने लगे और शनैः शनैः भावी पुरातात्त्विक कार्यों की स्पष्ट रूपरेखा उभर कर सामने आई। अब सरकारी और शोध संस्थाओं के बीच पुरातात्त्विक कार्यों में सहयोग होने लगा जिससे इस देश में पुरातत्त्व की प्रगति में तीव्रता आने लगी। डेक्कन कालेज़ और गुजरात शोध संस्था ने दीक्षित महोदय के आदेशानुसार सरकार के सहयोग से गुजरात में इस उद्देश्य से कार्यारम्भ किया कि रॉबर्ट ब्रुशफुट द्वारा प्रतिपादित पुराश्म-काल तथा नवाश्म-काल के बीच के विराम की समस्या का समाधान किया जा सके। इस घटना ने भारतीय पुरातत्त्व में एक नई परम्परा का सूत्रपात किया। यह पहला अवसर था कि समस्या-विशेष के समाधान हेतु खोज-कार्य के साथ उत्खनन भी किये गये। दूसरी बात यह हुई कि इससे शोध-संस्थाओं के साथ सरकारी सहयोग का द्वार खुल गया। डेक्कन कॉलेज

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

और गुजरात शोध संस्था के साथ तो पुरातत्त्व सर्वेक्षण ने सहयोग किया ही, कलकत्ता विश्वविद्यालय को भी उसी वर्ष बानगढ़ के उत्खनन की अनुमति प्रदान की गई।

सर मॉर्टिमर ह्वीलर की देन—उपर्युक्त बातें तो हुईं, परन्तु फिर भी भारतीय पुरातत्त्व को एक जबर्दस्त मोड़ देने की आवश्यकता थी, जो अब तक नहीं हो पाया था। यह तब हुआ जब मॉर्टिमर ह्वीलर महोदय को १९४४ ई० में पुरातत्त्व सर्वेक्षण का महा निदेशक नियुक्त किया गया। वैज्ञानिक उत्खनन के हिमायती ह्वीलर महोदय मंजे हुए पुरातत्त्वज्ञ थे। डॉ० संकलिया के शब्दों में इनमें पुरातत्त्व के सैद्धान्तिक तथा व्यावहारिक पक्षों का, पुरातात्त्विक कार्यों के अनुभव का, सैनिक अनुशासन और नियोजन सम्बन्धी सूझबूझ का अद्भुत समन्वय था। इस अनुभवी पुरातत्त्वज्ञ ने अपना कार्य भार संभालने के पश्चात् अल्प अवधि में ही समझ लिया कि भारतीय पुरातत्त्व का संतुलित विकास नहीं हो पाया था। अबतक उत्तर भारत के बौद्ध-स्थलों पर तो पूरा ध्यान दिया गया था, परन्तु दक्षिण भारत पूर्णतः अछूता रह गया था। स्थिति यह थी कि तिथि के उल्लेख सहित अभिलेख उपलब्ध न होने से तथा प्रामाणिक सामग्री के अभाव के कारण चौथी-पाँचवीं शताब्दी के पूर्व दक्षिण भारत का तिथि-क्रम अनिश्चित था। ह्वीलर महोदय ने दक्षिण भारत के इतिहास की इस समस्या का समाधान किया। इन्होंने दक्षिण भारत में जो उत्खनन किये उनके आधार पर उस क्षेत्र के इतिहास के तिथिक्रम-निर्धारण हेतु ५० ई० सन् एक निश्चित तिथि मान ली गई। इस प्रकार ह्वीलर महोदय ने सही अर्थ में भारतीय पुरातत्त्व को पूर्णत्व प्रदान किया।

संस्कृतियों के विकास की विभिन्न अवस्थाओं का क्रम-निर्धारण पुरातत्त्व का प्रमुख उद्देश्य माना गया है। परन्तु भारत में इसके लिए ह्वीलर महोदय के यहाँ आने के पूर्व कोई ठोस कार्य नहीं हुआ था। ह्वीलर महोदय ने भारतीय पुरातत्त्व की इस महती त्रुटि को दूर करने का सफल प्रयास किया। उन्होंने देखा कि दक्षिण भारत में सैकड़ों महाश्म समाधियाँ बिखरी पड़ी थीं, किन्तु भारतीय इतिहास के ढाँचे में उन्हें कोई निश्चित स्थान नहीं मिला था। अतः आवश्यकता इस बात की थी कि उनका इस ढंग से उत्खनन किया जाता कि जिन वस्तुओं की तिथि ज्ञात थी उनसे उन्हें सम्बद्ध करना संभव हो पाता। पाँडिचेरी में रोम-कालीन मृद्भांडों को देखकर ह्वीलर महोदय ने अरिकामेडु का उत्खनन किया, जिससे प्रथम शताब्दी ई० सन् में भारत-रोम व्यापार के अकाट्य प्रमाण उपलब्ध हुए। फिर उन्होंने ब्रह्मगिरि और चन्द्रवल्ली का उत्खनन किया। इन उत्खननों से इतनी पुरातात्त्विक सामग्री उपलब्ध हो गई कि दक्षिण, पश्चिम और दक्षिण-पूर्व भारत का एक मोटामोटी संस्कृति-क्रम निर्धारित करना सम्भव हुआ।

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

तत्कालीन भारतीय तुरातत्त्व-जगत् में प्रशिक्षित पुरातत्त्वज्ञों के नितान्त अभाव पर भी ह्वीलर महोदय का ध्यान गया था और उन्होंने इस समस्या का समाधान किया। अबतक विश्वविद्यालयों के विद्यार्थी उत्खनन-कार्यों से बिल्कुल अलग रहे थे। परन्तु ह्वीलर महोदय को इस बात का श्रेय है कि उन्होंने विश्व-विद्यालय के छात्रों को पुरातत्त्व सर्वेक्षण द्वारा किये जा रहे उत्खननों में भाग लेकर प्रशिक्षण प्राप्त करने का अवसर प्रदान किया। तक्षशिला, अरिकामेडु और ब्रह्मगिरि के उत्खनन-शिविरों में प्रशिक्षणार्थ उपयुक्त विद्यार्थियों को भेजने के लिए विश्व-विद्यालयों से लिखित आग्रह किये गये। प्रशिक्षणार्थियों को प्रोत्साहन प्रदान करने के उद्देश्य से उन्हें आर्थिक सहायता भी दी गई।

ह्वीलर महोदय के पूर्ववर्तियों ने भारत में जो उत्खनन कराये थे उनको पूर्णतया वैज्ञानिक नहीं कहा जा सकता। लम्बवत् उत्खनन और त्रिदिशात्मक रेकर्ड रखने की विधियाँ वैज्ञानिक उत्खनन की प्रमुख विशेषताएँ मानी गई हैं और ह्वीलर महोदय ने इन्हें लागू करके यहाँ की उत्खनन-विधियों को पूर्णतः वैज्ञानिक स्वरूप प्रदान किया। यह विधि व्ययसाध्य है अवश्य, किन्तु इस विधि से सम्पन्न किये गये उत्खनन में पुरातात्त्विक प्रमाण के नष्ट होने की बहुत कम संभावना रहती है और स्तरीय प्रमाण के आधार पर किसी भी स्थल का सांस्कृतिक अनुक्रम निर्धारित करना अपेक्षाकृत सरल होता है।

स्वाधीन भारत की पुरातात्त्विक उपलब्धियाँ

स्वातंत्र्योत्तर काल में भारतीय पुरातत्त्व ने जो प्रगति की वह उल्लेखनीय है। इस अवधि में भारतीय पुतातत्त्वज्ञ विशिष्ट समस्याओं के समाधान की दिशा में कार्यरत रहे और इसमें उन्हें पर्याप्त सफलता मिली। इनमें कुछ समस्याएँ तो देश-विभाजन के फलस्वरूप उत्पन्न हुई थीं और कुछ पहले से विद्यमान थीं, जिनको हल करने के प्रयास भी जारी थे, यद्यपि काम जोर-शोर से नहीं चल रहा था। देश-विभाजन के कारण एक बड़ी तात्कालिक समस्या यह उत्पन्न हो गई कि सिन्धु घाटी की सभ्यता के सभी प्रमुख स्थानों से भारत को वंचित होना पड़ा। सोहन संस्कृति के स्थल भी पाकिस्तानी क्षेत्र में पड़ गये। सैंधव सभ्यता के अन्त और ऐतिहासिक काल के प्रारंभ के बीच की कड़ी का ज्ञान नहीं होने से इसे अन्धकार युग की संज्ञा दी गई। अतः भारतीय पुरातत्त्वज्ञों ने इन समस्याओं के समाधान को अपने कार्यक्रम में प्रमुख स्थान दिया। इस प्रसंग में सम्पन्न किये गये पुरातात्त्विक अन्वेषणों तथा उत्खननों द्वारा न केवल विभाजन-जन्य उपर्युक्त पुरातात्त्विक घाटे की पूर्ति करना ही संभव हुआ, अपितु इस सम्बन्ध में हमारे ज्ञान को पूर्वापेक्षा अधिक व्यापक एवं समृद्ध करने तथा बहुत हद तक अन्धकार युग की समस्या के समाधान की दिशा में भी सफलता मिली।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

अश्म-काल—स्वाधीन भारत में निःसंदेह प्रागितिहास के क्षेत्र में उल्लेखनीय प्रगति हुई। प्रागैतिहासिक ज्ञान के संवर्द्धन एवं एतद्‌विषयक समस्याओं के समाधान हेतु प्रागितिहासज्ञों ने अनेक नदी-घाटियों में खोज के कार्य एवं उत्खनन संपन्न किये और आदिम मानव के आवासीय गुहाओं, शैलाश्रयों, वेदिकाओं तथा नालों में स्तरित संचयों से अश्मकाल सम्बन्धी महत्त्वपूर्ण साक्ष्य उपलब्ध किये गये।[1] प्रागितिहास सम्बन्धी खोज एवं अध्ययन के फलस्वरूप जो पुरातात्त्विक साक्ष्य उपलब्ध हुए उनके आधार पर भारतीय अश्मकालीन संस्कृतियों के विकासक्रम निर्धारण एवं उनका क्रमबद्ध विवरण प्रस्तुत करने में सफलता मिली। भारतीय संदर्भ में अश्मकाल का चार क्रमिक युगों—पूर्वाश्म काल (Early Stone Age), मध्य अश्मकाल (Middle Stone Age), उत्तर अश्मकाल (Late Stone Age) तथा नवाश्म काल (Neolithic Age) में वर्गीकरण किया गया।[2] सोहन संस्कृति के सम्बन्ध में नई उपलब्धियाँ सामने आईं। सिरसा, व्यास, बनगंगा, घग्गर तथा सोहन (व्यास की सहायक) इत्यादि नदी-घाटियों में इस महत्त्वपूर्ण संस्कृति के अनेक स्थानों का पता लगा, जैसे—गुलेर (बनगंगा), डेहरा, और धलियारा (व्यास), नालागढ़, दौलतपुर, कांगड़ा इत्यादि। गुलेर, डेहरा और कांगड़ा की वेदिकाओं में सोहन प्रकार के अश्मोपकरण पाये गये। गुलेर में पाँच वेदिकाएँ

---

१. आदिम मानव संस्कृति से सम्बन्धित साक्ष्य उपलब्ध करने के लिए जिन नदी घाटियों में अन्वेषण किये गये उनमें प्रमुख ये हैं—लिदर (कश्मीर), व्यास, बनगंगा, सिरसा, सोहन (पंजाब), यमुना, बेलन (उत्तर प्रदेश), सुवर्णरेखा, कोयल, शंख (बिहार), रोंग्रम (आसाम), गंधेश्वरी (पश्चिम बंगाल), ब्रह्माणी (उड़ीसा), कृष्णा (आंध्र-कर्नाटक), तुंगभद्रा (कर्नाटक), ताप्ती, प्रवर-गोदावरी (महाराष्ट्र), साबरमती, माही (गुजरात), भदरी (सौराष्ट्र), भुखी (कच्छ), चंबल (मध्यप्रदेश-राजस्थान), सोन, नर्मदा (मध्य प्रदेश), बेतवा (मध्य-प्रदेश उत्तर-प्रदेश), लुनी, बनास (राजस्थान) इत्यादि। विशेष विवरण देखिए, संकलिया, पृ० १९ तथा आगे; A. I. और IAR में प्रकाशित विवरण।

२. ई० सन् १९५८ में अश्मकाल के उपर्युक्त वर्गीकरण का निर्णय लिया गया। तदनन्तर कुछ विद्वान यूरोपीय पद्धति के वर्गीकरण का समर्थन करने लगे। संकलिया महोदय भारतीय अश्मकाल के पूर्व पुराश्म (Early Palaeolithic), मध्य पुराश्म (Middle Palaeolithic), उत्तर पुराश्म (Upper Palaeolithic), मध्य अश्मकाल (Mesolithic) तथा नवाश्म (Neolithic) इन पाँच क्रमिक कालों में वर्गीकरण का समर्थन करते हैं। संकलिया, एच० डी०, Prehistory and Protohistory in India and Pakistan.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

देखी गई, जिनमें ऊपर के चारों में अश्मोपकरण मिले। पूर्व पंजाब में सोहन संस्कृति के विस्तार विषयक ज्ञान के साथ दूसरी महत्त्वपूर्ण उपलब्धि हस्त-परशु और क्लीवर का मिलना है। इस क्षेत्र में एक विशेषता यह देखी गई कि पेबुल उपकरण ग्रेवल के ऊपर स्तरित मिट्टी पर मिले, ग्रेवल के संचय पर नहीं।

कश्मीर के पहलगाँव में लिदर नदी के पूर्वी तट पर प्रथम अन्तर्हिमयुग अथवा द्वितीय हिमयुग तथा द्वितीय अन्तर्हिमयुग में संचित स्तरों से क्रमशः बृहदाकार फलकोपकरण और भोंडे हस्त-परशु उपलब्ध किये गये।[1] इन उपकरणों की एक ही स्थान पर यह प्रथम उपलब्धि थी। इस साक्ष्य ने भारत में मानव इतिहास की प्राचीनता को मध्य प्रातिनूतन काल की प्रारम्भिक अवस्था तक पहुँचा दिया। कश्मीर-मानव का काल चीन के चाऊकाऊतीयन (Chou Kou Tien) मानव से पूर्व, किन्तु अफ्रीकी ओल्डोवान मानव (तंजानिया के ओल्डुवाई नामक स्थान में उपलब्ध साक्ष्य)[2] के पश्चात् होगा। तत्कालीन पंजाब के पर्वतीय क्षेत्र में भी मानव-अस्तित्व के संकेत मिले। उस समय कश्मीर तथा पंजाब के पर्वतीय क्षेत्रों का प्राकृतिक वातावरण आदिम मानव के जीवन-यापन हेतु अनुकूल था। वहाँ के वनों में हाथी, बाघ तथा अन्य पशुओं के अस्तित्व के प्रमाण मिले हैं।

आदिम मानव के सम्बन्ध में भारत में अबतक जो अन्वेषण किये गये उनसे यह स्पष्ट होता है कि सोहन-पूर्व संस्कृति इस देश की प्राचीनतम अश्म संस्कृति थी। इसकी विशेषता बृहदाकार फलकोपकरण है। उत्तरवर्ती सोहन संस्कृति के अश्मोद्योग की प्रमुख विशेषता पेबुल से बने चॉपर-चॉपिंग उपकरण माने गये हैं।

---

१. १९६९ ई० में संकलिया महोदय को सुस्तरित संचयों से उपर्युक्त उपकरण मिले (संकलिया, पृ० ३३)। इनके विचार में उपर्युक्त फलकोपकरण की तिथि ५००,००० वर्ष पूर्व (प्रथम अन्तर्हिमयुग) निर्धारित करना होगा। फेयर सर्विस ने सोहन-पूर्व संस्कृति का काल मध्य प्रातिनूतन का द्वितीय हिमयुग, पूर्व-सोहन का द्वितीय अन्तर्हिमयुग और विकसित सोहन का उत्तर-प्रातिनूतन माना है (Fair Service A., Jr., Roots of Ancient India, पृ० ३९)।

२. ओल्डोवान मानव की तिथि लगभग २५००००० वर्ष पूर्व निर्धारित की गई है। तन्जानिया के ही रूडोल्फ झील के पूर्वीतट के निकट श्री रिचर्ड लीकी द्वारा १९७२ ई० में उपलब्ध मानव खोपड़ी और जंघे की अस्थियों की तिथि २६००००० वर्ष पूर्व मानी गई। १९७३ ई० में एक अन्य पुराविद् द्वारा उत्खनित ३०० अश्मोपकरणों की भी यही तिथि मानी गई (R. Leakey, National Geagraphic, June 1973, 820.)

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

सोहन संस्कृति कालीन पंजाब के पर्वतीय क्षेत्र में पेबुल उपकरण तथा हस्त-परशु निर्माता, इन दो भिन्न मानव समुदायों की विद्यमानता को भी स्वीकार किया गया है। कई स्थानों में दोनों प्रकार के उपकरण एक साथ पाये गये। पूर्व-सोहन संस्कृति का विकास मध्य प्रातिनूतन काल में हुआ, किन्तु इसका उद्भव पूर्व-प्रातिनूतन काल में हो गया होगा।[1] सोहन संस्कृति का विस्तार आरम्भ में कश्मीर, पंजाब तथा हिमांचल प्रदेश में हुआ। तदनन्तर तृतीय हिमयुग तथा अन्तर्हिमयुग में भौगोलिक एवं जलवायवीय परिवर्तनों के कारण अश्मकालीन सोहन मानव दक्षिण की ओर बढ़ा जिससे सोहन संस्कृति का प्रभाव क्षेत्र विस्तृत होता गया। आंध्रप्रदेश के कुर्नुल और कुडप्पा जिलों में सोहन प्रकार के पेबुल उपकरण पाये गये। इस संदर्भ में अतिरंपकं नाले की वेदिका और गुडियम के शैलाश्रय से उपलब्ध साक्ष्य महत्त्वपूर्ण हैं, क्योंकि वहाँ सोहन प्रकार के पूर्वाश्म उपकरणों की प्राप्ति से यह प्रमाणित हुआ कि सोहन संस्कृति के प्रभाव क्षेत्र में उत्तरी भारत ही नहीं, अपितु दक्षिण भारत भी सम्मिलित था। अतिरंपकं और गुडियम के उत्खनन में उपलब्ध साक्ष्य के अनुसार विकसित हस्त-परशु अश्मोद्योग के पश्चात् वहाँ पर फलक, ब्लेड और स्क्रेपर उद्योग पनपे। वहाँ अश्मोपकरणों का संचयक्रम नीचे से ऊपर इस प्रकार मिला :[2]—

१. अशूलियन प्रकार के हस्त-परशु एवं क्लीवर।

२. अशूलियन-उत्तर फलक उद्योग के उपकरण, जैसे—अस्त्राग्र, स्क्रेपर, ब्लेड इत्यादि।

३. क्षुद्राश्म उपकरण।

मद्रासीय अश्मोद्योग में हस्त-परशु की प्रधानता है। जैसा कि ऊपर विचार किया गया, अतिरंपकं तथा गुडियम में हस्त-परशु उद्योग के पश्चात् फलक उद्योग के विकास का साक्ष्य उपलब्ध होता है। दक्षिण भारत में मानव चरण तृतीय अन्तर्हिमयुग में पड़े। यह स्पष्ट नहीं कि यहाँ के अश्मोद्योग का स्रोत कहाँ माना जाय। पेबुल उपकरण उत्तर के पर्वतीय क्षेत्र से इस भूभाग में आया अथवा अफ्रीका से चलकर अरब प्रायद्वीप के मार्ग से इसने दक्षिण भारत की यात्रा की इसका समाधान नहीं हो पाया है। जहाँ तक पूर्वाश्म मानव का प्रश्न है, अति सघन वन और समुद्र तटीय तथा डेल्टा क्षेत्र उसके आवास योग्य नहीं थे। मध्याश्म काल में उसका आवास क्षेत्र पूर्वापेक्षा अधिक विस्तृत हुआ।

उत्तर प्रदेश, बिहार, बंगाल, उड़ीसा तथा आसाम में अश्मकाल सम्बन्धी महत्त्वपूर्ण साक्ष्य उपलब्ध हुए। उत्तर प्रदेश के बेलन नदी-घाटी में उपलब्ध पूर्वाश्म

१. संकलिया, पृ०, १३७।
२. AIR, 1964-65, 1-37.

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

तथा मध्य अश्मकालीन उपकरणों की तिथि मध्य प्रातिनूतन से लेकर सर्वनूतन के आरम्भिक काल तक मानी गई है। यहाँ के उपकरणों में प्रमुख हैं—पेबुल उपकरण, हस्त-परशु और क्लीवर। मध्याश्म उपकरणों में ब्लेड, फलक-स्क्रेपर और उत्कीर्णक के उल्लेख किये जा सकते हैं। सिंगरौली क्षेत्र में उपलब्ध अश्मोपकरणों में सोहन उद्योग का प्रभाव पाया जाना महत्त्वपूर्ण है। प्रयाग विश्वविद्यालय के पुरातत्त्वज्ञों द्वारा बेलन और सोन घाटियों में पशुओं के प्रातिनूतन जीवाश्मों का बड़ी संख्या में पाया जाना भारतीय पुरातत्त्व की महत्त्वपूर्ण उपलब्धि मानी जायेगी। अबतक इस प्रकार की उपलब्धि शिवालिक पहाड़ी की तलहटियों तथा नर्मदा घाटी में हुई थी। पूर्वी उत्तर प्रदेश की गंगाघाटी में अश्मकालीन मौसमी आबादी के स्थानों की उपलब्धि ने अश्म संस्कृति के अध्ययन को नया आयाम प्रदान किया है।[1] तत्कालीन आबादी के स्थलों में मानवोपजीविका के पतले संचय वहाँ अल्पकालीन आवास का संकेत करते हैं। परन्तु कुछ स्थानों को, जहाँ जीवन सुलभ था, मनुष्य ने बार-बार आबाद किया। इस प्रकार के दो स्थानों—सराय नहरराय और महदहा के उत्खनन से तत्कालीन मानव द्वारा वहाँ आवास निर्माण के स्पष्ट साक्ष्य नहीं मिले, यद्यपि पशुओं की असंख्य हड्डियाँ, कई कब्र और चुल्हे पाये गये। सराय नहर राय की C^{14} तिथि ८३९५ ± ११० ई० पू० निर्धारित की गई है। इन स्थानों पर विंध्य क्षेत्र से पत्थर लाकर उपकरणों का निर्माण किया जाता था। बिहार में छोटानागपुर उपत्यका, मुंगेर का भीम बाँध और जेठियन वन बिहार में पूर्वाश्म तथा मध्याश्म संस्कृतियों के समृद्ध क्षेत्र थे जहाँ इन संस्कृतियों के उपकरण पर्याप्त संख्या में उपलब्ध हुए हैं। उड़ीसा के मयूरभंज जिले में ब्रह्मणी नदी के तटीय प्रदेश से पेबुल, चॉपर, हस्त-परशु तथा क्लीवर मिले। यही नदी राँची जिले में शंख कहलाती है और इसके तट में भी पूर्वाश्मकालीन उपकरण पाये गये। पश्चिम बंगाल के सुसुनियाँ पहाड़ी (जि० बांकुड़ा) के क्षेत्र की गंधेश्वरी नदी-घाटी तथा वहाँ के नालों में पूर्वी भारत के एक विस्तृत पूर्वाश्म औद्योगिक केन्द्र का पता लगा। वहाँ के प्रातिनूतन स्तर में पशु-पक्षियों की हड्डियों के साथ मानव-अस्थियाँ भी उपलब्ध हुईं। बाँकुड़ा,

१. उस स्थान के मौसमी निवासी Mesolithic संस्कृति काल के आखेट-जीवी मनुष्य थे जो विंध्य क्षेत्र से शिकार की खोज में गंगा के उत्तरी किनारे तक आ जाया करते थे। बेलन घाटी के मध्याश्म (Mesolithic) कालीन महगरा की C^{14} तिथि ८०८० ± ११५ ई० पू० है।

Sharma, G.R., Stone Age in the Vindhyas and the Ganga valley, Radio Carbon and Indian Archaeology, 1973, p. 110.

Archaeology of the Ganga Valley and the Vindhyas, 198(

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

पुरुलिया, बीरभूम और मिदनापुर जिलों में चॉपर, हस्त-परशु, स्क्रेपर तथा क्लीवर पाये गये।[1] आसाम में उपलब्ध अश्मोपकरणों में हस्त-परशु, चॉपर और स्क्रेपर मुख्य हैं। इस बात की पर्याप्त संभावनाएँ हैं कि इस क्षेत्र में छोटानागपुर के समान अश्मकालीन क्रम के साक्ष्य उपलब्ध हों।

आदमगढ़ (होशंगाबाद के निकट) तथा भीमबैठका (जि० रैसेन, मध्य-प्रदेश, भोपाल से ४० किलोमीटर दक्षिण) के शैलाश्रयों के उत्खनन में आदिम मानव के सुनिश्चित आवासीय प्रमाण के साथ अश्मोपकरणों का उत्तम स्तरीय साक्ष्य भी उपलब्ध हुआ। भीमबैठका में अश्मोपकरणों का स्तरीय क्रम इस प्रकार है—(१) अशूलियन हस्त-परशु और क्लीवर की प्रमुखता जिनके साथ लेवालीय फलक, स्क्रेपर और ब्लेड मिले, (२) फलक उद्योग के स्क्रेपर, अस्त्राग्र, छिद्रक लेवालीय फलक और ब्लेड, (३) उत्कीर्णक, फलक और स्क्रेपर।[2]

अनेक लुप्त प्राणियों की अस्थियों के साथ अश्मोपकरणों की उपलब्धि के कारण मध्य एवं दक्षिण भारत के पुराश्मकालीन साक्ष्य बड़े महत्त्वपूर्ण सिद्ध हुए। भूगर्भीय तथा पुरातात्त्विक अध्ययन द्वारा नर्मदा घाटी के प्रातिनूतन स्तरण का अच्छा ज्ञान प्राप्त किया गया[3] और तत्कालीन पशुओं के सम्बन्ध में भी यहाँ महत्वपूर्ण साक्ष्य मिले। नर्मदा तथा गोदावरी नदी घाटियों में पूर्वाश्म तथा मध्य अश्म-कालीन उपकरणों के साथ सांड़ (Bos Namadicus) और वन्य हस्ति (Elephas Hysudricus और Elephas Namadicus) के जीवाश्म प्रातिनूतन संचयों में उपलब्ध हुए। प्रवर-गोदावरी घाटी के उत्तर-प्रातिनूतन स्तरों में सांड़ (Bos Namadicus) और वन्य हस्ति के कंकाल मिले। कालेगाँव में वन्य सांड़ के कंकाल के साथ अश्मोपकरण पाये गये। नासिक जिले में हाथी (Elephas Antiqus) और हिप्पोपोटेमस के अवशेष मिले। नित्तूर (कर्नाटक) में पेबुल उप-करणों के साथ सांड (Bos) के अवशेष उपलब्ध हुए। इन उपलब्धियों से इस बात का तर्कसंगत अनुमान लगाया गया कि जिन दिनों दक्षिण भारत के नदी-तटों तथा शैलाश्रयों में आदि मानव निवास करता था, उन दिनों होशंगाबाद, नरसिंहपुर

---

१. संकलिया, पृ० ५१।

२. संकलिया, २२४-२५।

३. नर्मदा के प्रातिनूतन स्तरण के लिए देखिए Wain Wright, G. S., Pleistocence Deposits of the Lower Narmada river and an Early Stone Age Industry from the river Chambal, University of Baroda Archaeological Series No. 7, Poona, 1964.

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

के वन प्रदेश में जंगली हाथी (Elephas Namadicus), वन्य अश्व (Eqqus Namadicus Falconer), वन्य सांड़ (Bos Namadicus) और हिप्पोपोटेमस मुक्त विचरते थे। दक्षिण-पूर्व उत्तर प्रदेश, आंध्र प्रदेश, तमिलनाडु, गुजरात तथा राजस्थान इत्यादि में उपलब्ध अश्मकालीन साक्ष्य का महत्त्व भी न्यून नहीं कहा जा सकता। कुर्नूल जिले में वेदिकाएँ पाई गईं। कृष्णा घाटी में पेबुल, हस्त-परशु, लेवालीय कोर और फलक, ब्लेड, क्षुद्राश्म तथा मार्जित अश्म परशु मिले। मद्रास के निकट कोर्तलयर नदी से प्राप्त साक्ष्य महत्त्वपूर्ण हैं। अतिरंपक्क और गुडियम के साक्ष्य के महत्त्व पर ऊपर विचार किया गया है। गुजरात और चंबल घाटी के पूर्वाश्म उपकरणों में साक्ष्य पाया गया है। राजस्थान में चित्तौड़ के निकट लुनी घाटी से मिले हस्त-परशु, क्लीवर, स्क्रेपर छिद्रक, अस्त्राग्र, फलक इत्यादि मध्याश्मकालीन हैं।

इन सभी उपलब्धियों के साथ मध्य अश्मकालीन उपकरणों की पर्याप्त संख्या में प्राप्ति और भारतीय अश्मोद्योग के विकासक्रम में उनका स्थान निश्चित करने का विशेष महत्त्व है। महेश्वर, नरसिंहपुर, होशंगाबाद, नेवासा, लुनी घाटी इत्यादि स्थानों में उपलब्ध स्तरीय प्रमाण के आधार पर इन्हें मध्य अश्मयुगीन उद्योग का नाम दिया जाना सर्वथा तर्कसंगत है। अनेक स्थानों में पूर्वाश्म तथा मध्याश्म उपकरण मिश्रित मिले, परन्तु कुछ स्थानों में इनके क्रम के निर्विवाद स्तरीय प्रमाण उपलब्ध हुए। कान नदी (जिला धुलिया)[१] के कुछ स्थानों में पूर्वाश्म तथा मध्याश्म काल के स्तरों के मध्य स्पष्ट विराम मिलने से इन उद्योगों के अनुक्रम का संदेह दूर हो जाता है। आदमगढ़ तथा वैनगंगा में उपलब्ध साक्ष्य पूर्वाश्म से मध्याश्म उपकरणों के विकास के संकेतक हैं। नेवासा में मध्य अश्म-कालीन उपकरणों के साथ सांड़ (Bos Namadicus) के जीवाश्म मिलने से इन्हें प्रातिनूतन काल में रखा गया। कालेगांव (गोदावरी घाटी) में मध्याश्म उपकरणों के साथ इस पशु की खोपड़ी और सींग मिले। C^{14} विधि के आधार पर मध्याश्म काल को २०,०००—४०,००० वर्ष पूर्व का माना गया है।[२] पश्चिमी एशिया की आश्मकालीन तिथियों के संदर्भ में भारतीय मध्याश्म संस्कृति का समय ३०,००० ई० पू० से पहले माना जा सकता है। इस काल के उपकरणों में अस्त्राग्र, ब्लेड, छिद्रक, उत्कीर्णक, स्क्रेपर इत्यादि प्रमुख हैं।

१. Sali, S. A., Journal of Asiatic society, Bombay, 39, 40 (1964-65), 157-67.

२. नेवासा (जिला अहमदनगर) के मध्य अश्मकाल की तिथि लगभग ३०,००० वर्ष पूर्व मानी गई है (संकलिया, पृ० १४६)।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

उत्तर अश्मकालीन क्षुद्राश्मों की प्राप्ति बड़ी संख्या में होती रही है, परन्तु इस संस्कृति के आबादी में स्थानों के उत्खनन से जो साक्ष्य उपलब्ध हुए उनसे एतद्विषयक हमारा ज्ञान काफ़ी समृद्ध हुआ। देश के विभिन्न उत्तर अश्मकालीन स्थलों की जो C^{14} तिथि उपलब्ध है वह इस प्रकार है—

आदमगढ़ (नर्मदाघाटी) के शैलाश्रय—	लगभग ५५०० ई० पू०
बागौड़ (जिला भीलवाड़ा, राजस्थान)—	,, ५००० ई० पू०
वीरभानपुर (बंगाल)	,, ७००० ई० पू०
मद्रास	,, ४००० ई० पू०
लंघनज (गुजरात)	,, २००० ई० पू० से पहले
संकनकल्लु (जिला बेलारी)	,, ३००० ई० पू०

आजमगढ़ (मध्यप्रदेश), बागौड़, (अरावली पर्वतमाला का पूर्वी भाग), तिलवाड़ा (जि० बाड़मेर) मोरेना पहाड़ (उत्तर प्रदेश), लोटा पहाड़ (बिहार), लंघनज (गुजरात) इत्यादि स्थानों से उपलब्ध साक्ष्य न केवल उत्तर अश्मकालीन संस्कृति के तिथि निर्धारण में निर्णायक हुए, परन्तु तत्कालीन मानव समुदाय के जीवन-यापन के विषय में भी इनसे महत्वपूर्ण सूचनाएँ मिलीं। अस्थि अवशेषों के आधार पर तत्कालीन पशुओं के सम्बन्ध में हमारा ज्ञान संवर्द्धन तो हुआ, परन्तु यह निश्चित नहीं हो पाया कि जिन पशुओं के अवशेष उपलब्ध है, उनमें सभी जंगली ही थे अथवा उनमें से कुछ को मनुष्य ने पालतू बना लिया था। यह अश्म संस्कृति के विकास का वह संक्रमण काल था जब आखेट-जीवी मानव प्रयोगात्मक रूप में कृषि की ओर उन्मुख हुआ।

भारतीय उत्तर-अश्मकाल की जानकारी के लिए राजस्थान के बागौड़ नामक स्थान का उत्खनन बड़ा ही महत्वपूर्ण है। वहाँ ताम्राश्म-काल के पूर्व के स्तरों से जो उपलब्धियाँ हुईं उनसे प्रतीत होता है कि उत्तर-अश्मकालीन मानव गोलाकर झोपड़ियों में, जिनका फर्श शिस्ट (schist) और पेबुल का बना होता, निवास करता था। जहाँ तक इन लोगों के तकनीकी ज्ञान का प्रश्न है, वह अति विकसित क्षुद्राश्म उद्योग पर आधारित था। इस उद्योग के प्रमुख प्रकार के उपकरण थे—भुथड़ा-पृष्ठ ब्लेड, तिरछा-भुथड़ा-पार्श्वान्त ब्लेड (Obliquely Blunted Blade), त्रिभुज, समलम्ब चतुर्भुज, चन्द्रायुध और अस्त्राग्र। प्रकार-विज्ञान के विचार से यह उद्योग मुख्यत: ज्यामीतीय प्रकार का था और समाज की अर्थ-व्यवस्था आखेट पर आधारित थी। आबादी-स्थल पर एक कब्र भी मिला जिसमें शब को लंबा दफनाया गया था। मोरेना पहाड़ में जो क्रम निर्धारित हुआ वह इस प्रकार है—अज्यामीतीय क्षुद्राश्म—ज्यामीतीय क्षुद्राश्म—मृद्भांड के साथ ज्यामीतीय क्षुद्राश्म।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

नवाश्म संस्कृति के सम्बन्ध में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण उपलब्धि गंगा घाटी में इस संस्कृति की आबादी के स्थानों का मिलना है। बेलन घाटी (उत्तर प्रदेश) में महगरा, कोलडीहवा और चोपनीमंडो नामक स्थानों के उत्खनन से नवाश्मकालीन सम्बन्धी महत्त्व के साक्ष्य उपलब्ध हुए। महगरा और कोलडीहवा में धान की खेती के साक्ष्य पाये गये। चोपनीमंडो में हस्तनिर्मित मृद्भांड के अबतक उत्खनन में उपलब्ध प्राचीनतम नमूने मिले। यह मृद्भांड दो प्रकार का हैं—एक लोहित वर्ण का और दूसरा, खाकी वर्ण का। कश्मीर में भी श्रीनगर से २४ किलोमीटर (उत्तर-पश्चिम) बुर्ज़होम नामक स्थान में नवाश्म संस्कृति के अस्तित्व के प्रमाण उपलब्ध हुए।[१] इस बात के भी प्रमाण मिले कि यहाँ के नवाश्म मनुष्य गर्त-निवासी थे। उनके आवासीय वृत्ताकार गर्तों की गहराई १½-२ मीटर होती थी। शीर्ष भाग का व्यास १-२ मीटर होता, परन्तु सतह का २-४ मीटर। इन गर्तों का निर्माण कठोर भूमि को उत्खनित कर किया गया था, अतएव उर्ध्व-भाग की अपेक्षा सतह का विस्तार अधिक हो सका। गहरे गर्तों में नीचे उतरने हेतु सीढ़ियाँ बनाई जाती थीं और किसी-किसी में दीवारों पर ताखे भी बने थे।

गंगा घाटी में चिरांद (बिहार) में नवाश्मकालीन साक्ष्य का मिलना बड़ा महत्वपूर्ण है। परन्तु यहाँ के साक्ष्य विवादास्पद हैं और वे नवाश्मकाल के अंतिम चरण के संकेतक प्रतीत होते हैं। भारत के नवाश्म संस्कृति का तीन क्षेत्रीय वर्गीकरण संभव है—(१) पूर्वोत्तर (आसाम और उससे संलग्न बंगाल के पर्वतीय क्षेत्र), (२) छोटानागपुर और (३) उत्तर बिहार (चिरांद)। उड़ीसा का उत्खनित नवाश्म स्थल कुचाई (जिला—मयूरभंज) है। दक्षिण भारत के नवाश्म कालीन उत्खनित स्थानों में उटनूर (आंध्रप्रदेश), संकनकल्लु, टेकलकोटा, टेरदल, कोदेकल, हलूर, टी-नरसिपुर (कर्नाटक) और पैयंपल्ली (तमिलनाडु) के C^{14} तिथि उपलब्ध हैं। अन्य उल्लेखनीय स्थान हैं—ब्रह्मगिरि, पिक्लीहल और मास्की।

बुर्ज़होम (कश्मीर), चिरांद (उ० बिहार)[२] तथा बारूडीह (सिंहभूम, बिहार) की C^{14} तिथियाँ क्रमशः २४०० ई० पू०, १७५०-१५०० ई० पू०, और १००० ई० पू० हैं। उपर्युक्त आठ नवाश्म आबादी के स्थलों की उपलब्ध C^{14} तिथि के आधार पर दक्षिण भारतीय नवाश्म संस्कृति का अस्तित्वकाल २५००-१००० ई० पू० माना गया है। इसकी समकालीनता बुर्ज़होम की नवाश्म संस्कृति

१. IAR, 1960-61, मार्तंड और अवन्तीपुर के निकट गुर्फकरल में भी नवाश्म संस्कृति के साक्ष्य पाये गये।

२. चिरांद के नवाश्म काल का आरम्भ लगभग २५०० ई० पू० भी माना गया है।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

से स्थापित होती है। उटनूर और बुर्जहोम की C^{14} तिथियों की समानता के आधार पर कुछ लोग इन दोनों के उद्‌गम के रूप में किसी भारतेतर क्षेत्र की संभावना को स्वीकार करते हैं।[1] परन्तु, बेलन घाटी में नवाश्म काल के आरंभ की C^{14} तिथि ६५७० ± २१० ई० पू० तथा ५५४० ± २४० ई० पू० निर्धारित होने से इस संभावना को स्वीकार नहीं किया जा सकता। यहाँ कृषि के उद्भव तथा पशुपालन के भी प्राचीनतम साक्ष्य मिले। अतः यह निर्णय सर्वथा तर्कसंगत होगा कि देश के इस मध्य भाग से भारत के अन्य क्षेत्रों में नवाश्म संस्कृति का प्रसार हुआ। C^{14} तिथि के आधार पर दक्षिण भारतीय नवाश्म संस्कृति के विकास की तीन अवस्थाओं का पता चलता है। पहली अवस्था में उटनूर-I, पिक्लीहल-I, मास्की-I और ब्रह्मगिरि-IA का कुछ काल, दूसरी में ब्रह्मगिरि, IA-B, संकनकल्लु-I, तेक्कलकोटा-I, हलूर-I और टी नरसिपुर-I तथा तीसरी में तेक्कलकोटा-III और हलूर-8-9 स्तर स्थान पाते हैं।[2] यद्यपि इस प्रकार के वर्गीकरण किये गये हैं, परन्तु इनमें कुछ असंगतियाँ भी पाई गई हैं। द्वितीय-तृतीय अवस्था में जब उत्तर के दक्कनी ताम्राश्म संस्कृति से उनका सम्पर्क स्थापित हुआ तो वे ताम्रोपकरण, चाक और चित्रित मृद्‌भांड का प्रयोग करने लगे।

सैंधव तथा इतिहास-पूर्व काल—जैसा कि ऊपर कहा गया, हड़प्पा संस्कृति (सैंधव सभ्यता) के सभी प्रमुख स्थान पाकिस्तान में पड़ गये, अतः इस कमी को पूरा करने पर विशेष ध्यान दिया गया। अब स्थिति यह हो गई है कि इस सभ्यता के अवशेष शताधिक स्थानों में उपलब्ध किये जा चुके हैं, जिनमें रूपड़, कालीबंगन, बनावली, सुरकोतदा तथा लोथल के उत्खनन उल्लेखनीय हैं। इन खोजों एवं उत्खननों के परिणामस्वरूप अब हड़प्पा संस्कृति को सिन्धु घाटी में ही सीमित नहीं माना जा सकता। पूर्व में इसका विस्तार उत्तर प्रदेश के आलमगीरपुर तक तो था ही; घग्गर-घाटी, कच्छ एवं सौराष्ट्र में इस संस्कृति की बस्तियों की कोई कमी नहीं थी।

रूपड़ में हड़प्पा काल से मध्ययुग पर्यन्त का उत्तम स्तरीय अनुक्रम मिला, तो कालीबंगन, बनावली, सुरकोतदा और लोथल में हड़प्पा सभ्यता के विषय में

---

१. C^{14} तिथि के अनुसार १४०० ई० पू० के हलूर में रागी की खेती होती थी। पहले इसकी अन्य प्रजाति अफ्रीका में उपलब्ध थी, अतः संभवतः यह खाद्यान्न वहाँ से नवाश्म संस्कृति के संग भारत लाया गया हो। इस अनुमान से कुछ लोगों ने अफ्रीका को भारतीय नवाश्म संस्कृति का संभावित उद्‌गम माना है। (Radio Carbon and Indian Archaeology, 1973, p. 76-77)

२. वही, पृ० ७३-७४।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

नूतन जानकारियाँ उपलब्ध हुईं। कालीबंगन तथा बनावली के उत्खनन में हड़प्पा-पूर्व काल के अवशेष मिलने से इस सभ्यता के उद्भव और विकास के सम्बन्ध में हमारा ज्ञान पूर्वापेक्षा विशेष समृद्ध हो गया है। कालीबंगन की हड़प्पा-पूर्व बस्ती कच्ची ईंट के रक्षा-प्राचीर से परिवेष्टित थी। इसी स्थान पर उत्तरकाल में हड़प्पाइयों ने अपने दुर्ग का निर्माण किया। हड़प्पाकालीन दुर्ग का प्लान समचतुर्भुज फलक से मिलता-जुलता है। हड़प्पा और मोहेंजोदारो के दुर्गों की अपेक्षा यहाँ के दुर्ग के निर्माण में थोड़ी भिन्नता है। हड़प्पा और मोहेंजोदारो के दुर्ग की आधारवेदिका और रक्षाप्राचीर अभिन्न बनाये गये हैं, परन्तु कालीबंगन में दोनों के मध्य खुली जमीन है। आधारवेदिका दो समान भागों में विभाजित है—दक्षिणी भाग में ४-६ वेदिकाएँ हैं जो रक्षाप्राचीर से संलग्न नहीं हैं। यहाँ अन्नागार भी नहीं है। कालीबंगन, बनावली और सुरकोतदा में नगर के पश्चिमी (दुर्ग) और पूर्वी भाग के प्राचीर परिवेष्टित होने का स्पष्ट प्रमाण मिला। सुरकोतदा के पत्थर से बने रक्षाप्राचीर के प्रवेशद्वार के दोनों ओर संतरी के कमरे बने थे। पत्थर का इतना विशाल और विशिष्ट प्रवेशद्वार-युक्त यह अबतक मिला सर्वाधिक प्राचीन रक्षाप्राचीर है। अग्निकुण्डों के अतिरिक्त मात्र मुहरों से धर्म-सम्बन्धी विशेषताओं का पता चलता है। हड़प्पाकालीन कालीबंगन की आबादी की परतों में नौ निर्माणकाल पाये गये। नगर का प्लान शतरंज फलक जैसा है। प्रत्येक मकान कम-से-कम दो सड़कों से सटा बनता था। उसका प्लान आयताकार रहता, जिसमें एक आँगन, प्राय: एक कुआँ और छ या सात कमरों की व्यवस्था की जाती। कमरों का निर्माण क्रम से आँगन के तीन पार्श्वों में किया जाता था। प्राय: प्रत्येक गृह के एक कमरे में अग्नि-कुण्ड बनाया जाता था। हड़प्पा-कालीन श्मशान में दो प्रकार के शवाधान पाये गये—एक तो यथावत् शवाधान और दूसरा भांड-शवाधान। दूसरे प्रकार का शवाधान पहली बार हड़प्पाकालीन श्मशान में मिला। अवशेषों में लघुलेख-युक्त कुछ ठीकरे भी मिले। अक्षरों के अतिक्रमण के आधार पर ब्रजवासी लाल महोदय ने लिखने की दिशा दाहिने से बाएँ होने का अनुमान लगाया है। लोथल में उत्खनित पक्की ईंट की बनी गोदी का अवशेष बड़े महत्त्व का है, क्योंकि इससे तत्कालीन समुद्रयात्रा एवं विदेश-व्यापार के विषय में हमारे सन्देहों का निराकरण होता है। विदेश-व्यापार की पुष्टि यहाँ उपलब्ध बहरैन-मुहर से भी होती है।

हड़प्पा सभ्यता के अवसान तथा भगवान् बुद्ध के आविर्भाव के मध्य-काल का इतिहास बड़ा ही विवादास्पद और धुंधला रहा है। परन्तु विगत बीस वर्षों में इस क्षेत्र में जो खोज किये गये उनसे इस काल के इतिहास पर जो आवरण अबतक पड़ा रहा वह शनैःशनैः हटता जा रहा है।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

इस प्रसंग में सबसे महत्त्वपूर्ण प्रथम उत्खनन हस्तिनापुर में हुआ। यहाँ पाँच कालों के अवशेष उपलब्ध हुए। प्रत्येक काल के मध्य समय का विराम था। सबसे नीचे के स्तरों में गेरु-मृद्भांड मिले। तत्पश्चात् चित्रित धूसर मृद्भांडों का काल आता है। इस काल का अंत गंगा की भीषण बाढ़ के कारण हुआ। तीसरी आबादी उन लोगों की थी जो कृष्ण-मार्जित मृद्भांड का प्रयोग करते थे। इसी प्रकार के क्रम अहिच्छत्र और नोह के उत्खननों में भी प्राप्त हुए।

अंधकार युग की समस्या के समाधान की दिशा में अतरंजिखेड़ा के उत्खनन से उपलब्ध साक्ष्य बड़े महत्त्वपूर्ण पाये गये। यहाँ की कहानी भी गेरू मृद्भांड (OCP) से प्रारम्भ होती है, तदनन्तर क्रमशः कृष्ण-लोहित मृद्भांड (Black-and-Red Ware); चित्रित धूसर मृद्भांड (P. G. ware) तथा उत्तरी कृष्ण-मार्जित मृद्भांड (N. B. P. Ware) संस्कृतियों के साक्ष्य उपलब्ध हुए हैं। जहाँ तक गेरू मृद्भांड संस्कृति का प्रश्न है, इसका प्रसार पूर्वी पंजाब (कतपलोन, जिला-जालंधर) से लेकर पूर्वी राजस्थान (नोह, जिला-भरतपुर) पश्चिमी उत्तर प्रदेश (बहरिया, जिला-शाहजहाँपुर) तक के विस्तृत क्षेत्र में होने के साक्ष्य उपलब्ध हुए।[१] इस क्षेत्र के लगभग सौ स्थानों में यह मृद्भांड पाया गया जिनमें हस्तिनापुर, अहिच्छत्र (जिला-बरेली), नोह (जिला-भरतपुर), बरगाँव, बहादराबाद, अम्बखेड़ी (जिला-सहारनपुर), अतरंजिखेड़ा (जिला-एटा), साई पाई (जिला-ईटावा) लाल किला (जिला-बुलंदशहर) बिसौली (जिला-बदायूँ), राजपुर परसु (जिला-बिजनौर), नसीरपुर इत्यादि उत्खनित स्थान उल्लेखनीय हैं। अतरंजिखेड़ा और लालकिला की गेरू मृद्भांड सम्बन्धी सामग्री महत्त्वपूर्ण है। इन दोनों स्थानों में चित्रित तथा उत्कीर्ण मृद्भांड पाये गये। सर्वप्रथम अतरंजिखेड़ा में कुछ चित्रित गेरू मृद्भांड मिले, परन्तु लाल किला में इनकी बहुलता पाई गई। यहाँ इनका संचय भी सुस्तरित है। इस स्थान के गेरू मृद्भांडों में बड़े जार, कलश, कटोरे, ढक्कन और साधार थाली के उल्लेख किये जा सकते हैं।

कुछ स्थानों—जैसे, अम्बखेड़ी और बहादराबाद के गेरू मृद्भाँड में हड़प्पाई प्रभाव की विद्यमानता के कारण इसे कतिपय विद्वानों ने हड़प्पा संस्कृति से सम्बद्ध माना।[२] इसे वे हड़प्पाई मृद्भांड का ही विकृत रूप स्वीकार करते हैं। परन्तु विश्वसनीय साक्ष्य के अभाव में गेरू मृद्भांड के निर्माताओं को हड़प्पाई

१, Ancient India, No. 5—Seminar on OCP and NBP.

२. अम्बखेड़ी और बहादराबाद के गेरू मृद्भांड संस्कृति उपकरणों तथा दाड़ा, रूपड़ और आलमगीरपुर के हड़प्पाई सामग्री में सादृश्य परिलक्षित होता है। बरगाँव और आलमगीरपुर में गेरू और हड़प्पाई दोनों मृद्भांड पाये गये।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

शरणार्थी नहीं माना जायगा। मृद्भांडों में आकार साम्य के एकाधिक संभावनाओं को स्वीकारते हुए हड़प्पाई प्रभाव को सम्पर्कजन्य मानना अधिक तर्कसंगत होगा। गेरू मृद्भांड संस्कृति के विभिन्न पहलुओं के अध्ययन से इसके विकास के दो क्षेत्र निर्धारित होते हैं—(१) मध्य गंगा-यमुना दोआब और (२) पूर्व पंजाब तथा ऊपरी दोआब। मध्य गंगा-यमुना दोआब क्षेत्र से उपलब्ध गेरू मृद्भांड में प्रकाराधिक्य का अभाव है और इसकी संरचना पश्चिमी क्षेत्र के मृद्भांड की तुलना में उत्कृष्ट नहीं है। इन विशेषताओं के साथ यह हड़प्पाई प्रभाव से मुक्त है। उपलब्ध प्रमाण इस मृद्भांड के स्वतंत्र विकास के संकेतक हैं। इस सम्बन्ध में दो संभावनाएँ स्पष्ट होती हैं—पहली तो यह कि गेरू मृद्भांड का प्रयोग करने वाले गंगा घाटी के निवासी थे। इस क्षेत्र से उनके पश्चिम दिशा में तथा हड़प्पाइयों के पूर्व दिशा में प्रसार से इन संस्कृतियों का संपर्क कायम हुआ, फलस्वरूप मिश्रित मृद्भांड बने। दूसरी संभावना यह है कि पंजाब और ऊपरी दोआब क्षेत्र से इनका प्रसार पूर्व की ओर हुआ। इस प्रक्रिया में हड़प्पाई संपर्क क्षेत्र से जो लोग दूर चले गये वे उनके प्रभाव से मुक्त रहे, परन्तु हड़प्पा संस्कृति से अविदूर पश्चिमी क्षेत्र के निवासी उनके प्रभाव से अछूते नहीं रह पाये। इस कारण इन लोगों ने हड़प्पा-प्रकार के जिन उपयोगी बर्तनों का निर्माण किया उनका पूर्वी क्षेत्र में अभाव पाया गया। गेरू मृद्भांड संस्कृति की तिथि २०००-१५०० ई० पू० निर्धारित होने से इसकी हड़प्पा संस्कृति के साथ समकालीनता प्रमाणित होती है[1] और इन संस्कृतियों के संपर्क सम्बन्धी मान्यता की पुष्टि होती है। उत्तर हड़प्पाई संदर्भ में मीटाथल (II-6) में उपलब्ध सेल्ट और चक्र (ring) द्वारा भी उपर्युक्त संस्कृतियों की समकालीनता का समर्थन होता है।

गंगा घाटी के विस्तृत क्षेत्र तथा छोटानागतुर के अनेक स्थानों में ताम्रायुधों (शुद्ध ताम्र निर्मित परशु, भाले, कटार, तलवार इत्यादि) के जो भांडार मिले उन्हें संस्कृति विशेष से निर्णायक रूप में सम्बद्ध करने का प्रयास लम्बी अवधि तक सफल नहीं हो पाया। परन्तु स्वातंत्र्योत्तर काल में इस सम्बन्ध में जो कार्य किये गये, उनसे उपलब्ध साक्ष्य के आधार पर सर्वप्रथम श्री ब्रजवासी

---

१. ऊष्मिक दीप्ति विधि से निर्धारित गेरू मृद्भांड संस्कृति के कुछ स्थानों की तिथियाँ इस प्रकार हैं :—

लाल किला—१८८० ई० पू०; अतरंजिखेड़ा—१६६० ई० पू०,
झिनझन—२०७० ई० पू०, नसीरपुर—१३४० ई० पू०।

ये तिथियाँ आर्क्योलॉजिकल लेबोरेटरी, ऑक्सफोर्ड द्वारा निर्धारित हैं।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

लाल महोदय ने ताम्रायुधों को गेरू मृद्भांड संस्कृति से सम्बद्ध करने का प्रयास किया और अंततोगत्वा साई-पाई के उत्खनन में उपलब्ध स्तरीय साक्ष्य से इस सम्बन्ध की पुष्टि हुई।[१] अब ताम्रायुध तथा गेरू मृद्भाँड के उपयोग कर्त्ताओं को भिन्न मानना भूल होगी। उपलब्ध पुरातात्त्विक साक्ष्य से प्रतीत होता है कि गेरू मृद्भांड संस्कृति एक ऐसी जाति की देन थी जिसने न तो किसी स्थान विशेष पर लम्बी अवधि तक वास किया और न स्थायी आवासों का ही निर्माण किया। इस संस्कृति से सम्बन्धित जो स्तरीय संचय उपलब्ध हुए हैं वे अल्पकालीन आवास के संकेतक हैं। परन्तु इनको पूर्णतया घुमक्कड़ जाति मानना सही नहीं होगा। लाल किले के उत्खनन में गेरू मृद्भांड संस्कृतिकालीन स्तर में आवास निर्माण के साक्ष्य उपलब्ध होने से यह अनुमान लगाना उपयुक्त होगा कि कहीं-कहीं इस समुदाय के लोग ईंट (कच्ची और पक्की) और लकड़ी के बने स्थायी आवासों का उपयोग करने लगे थे। यद्यपि वर्त्तमान स्थिति में निश्चित रूप से यह कहना कठिन है कि यह आर्येतर जाति थी अथवा आर्य, परन्तु हड़प्पाइयों से शस्त्रास्त्र में श्रेष्ठतर तथा ताम्रायुध प्रयोगी आदि आर्यों की किसी शाखा से इन्हें सम्बद्ध करने की पर्याप्त संभावनाएँ हैं। आर्यों की मूल भूमि जहाँ भी रही हो, हड़प्पाईयों के साथ उनके कुछ शताब्दियों तक सह-अस्तित्व को अस्वीकार कदापि नहीं किया जायगा, क्योंकि उनके प्रादुर्भाव के परिणामस्वरूप हड़प्पा संस्कृति का सद्यः लोप नहीं हो गया।

गंगा घाटी में प्रायः चित्रित धूसर मृद्भांड तथा कृष्ण-मार्जित मृद्भांड संस्कृतियों के पूर्ववर्ती स्तरों में कृष्ण-लोहित मृद्भांड मिलता है, परन्तु कुछ स्थानों (जैसे, अतरंजिखेड़ा) में यह गेरू मृद्भांड एवं चित्रित धूसर मृद्भांड संस्कृतियों के मध्यस्तरीय संचय में पाया गया। पूर्वोत्तर भारत में चिरांद का साक्ष्य महत्त्वपूर्ण है जहाँ ताम्राश्म से लेकर लौह काल तक इसका प्रयोग होता रहा। इस मृद्भांड का प्रसार क्षेत्र व्यापक है। यह पश्चिम में गुजरात (लोथल, रंगपुर, सुरकोतदा इत्यादि) से लेकर पूर्व में बंगाल (पांडु राजार ढिबि, जि० बर्दवान) महिषदल, जि० बीरभूम) तक पाया गया है। पंजाब और हरियाणा में यह चित्रित धूसर मृद्भांड के साथ मिलता है। सौराष्ट्र-गुजरात में हड़प्पा काल के आरम्भ से ही इसके प्रचलन का साक्ष्य उपलब्ध है—लोथल में आबादी के आरम्भ

---

१. राजपुर परसु, बिसौली, बहादराबाद, नसीरपुर इत्यादि गेरू मृद्भांड संस्कृति स्थलों से ताम्रायुध पाये गये यद्यपि गेरू मृद्भांड के साथ उनकी सम्बद्धता का स्तरीय प्रमाण नहीं मिला।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

से ही हड़प्पाई मृद्भांड के साथ कृष्ण-लोहित मृद्भांड मिले। राजस्थान और दक्कन के ताम्राश्म संस्कृति काल में श्वेत-चित्रित कृष्ण-लोहित मृद्भांड प्रचलित थे।[1] मध्य एवं पश्चिमी भारत में इतिहास काल के आरम्भ में इसका पुनः प्रचलन हुआ। दक्षिण में यह महाश्म संस्कृति के मृद्भांड के रूप में उपलब्ध होता हैं।

यह स्पष्ट नहीं हो पाता कि कृष्ण-लोहित मृद्भांड प्रयोग करने वाले मूलतः एक ही मानव समुदाय के लोग थे जो विभिन्न क्षेत्रों में आबाद हो गये अथवा भिन्न-भिन्न समुदायों के। संपर्कजन्य तकनीकी साम्य के फलस्वरूप इस मृद्भांड का व्यापक प्रसार हुआ। जहाँ तक गंगा घाटी का प्रश्न है, गेरू मृद्भांड के उत्तरकालीन स्तर में ही इसका क्रम निश्चित होगा। इस बात की पूरी संभावना है कि सौराष्ट्र→गुजरात→राजस्थान के मार्ग से इसका प्रसार गंगा घाटी में हुआ हो। इस क्रम में कुछ समुदायों ने अनुकरण द्वारा इस मृद्भाँड का निर्माण आरम्भ किया हो।

कुछ विद्वानों ने कृष्ण-लोहित मृद्भांड प्रयोग करनेवाली जाति को आर्यों से अभिन्न सिद्ध करने का प्रयास किया तो कुछ ने उसे हड़प्पापूर्व माना। लोथल में आबादी के आरम्भ से ही इस मृद्भांड की उपलब्धि, तदनन्तर हड़प्पा संस्कृति के अवसान काल में इसका प्रचलन जारी रहने से कुछ पुरातत्त्वज्ञों ने यह निष्कर्ष निकाला कि हड़प्पाइयों के पराभव से कृष्ण-लोहित मृद्भांड के आदि निर्माताओं को सिर उठाने का अवसर सुलभ हुआ। इस मृद्भांड का मूल सम्बन्ध हड़प्पा-पूर्व उस समुदाय से था जिन्हें हड़प्पाईयों की अधीनता स्वीकार करनी पड़ी हो। परन्तु मृद्भांड विशेष का किसी मानव समुदाय से अनन्तकालीन सम्बन्ध स्वीकार करना सही नहीं माना जायगा। तकनीकी विकास ऐसी प्रक्रिया है जिसे सीमित नहीं रखा जा सकता और एकाधिक समुदायों के संपर्कजन्य परिणाम तकनीकी ज्ञान के आदान-प्रदान के रूप में अभिव्यक्त होते हैं।

जहाँ तक चित्रित धूसर मृद्भांड की समस्या है, इसके प्रचलन की सर्वमान्य C^{14} विधि पर आधारित तिथि ८००-४०० ई० पु० है। रूपड़ और आलमगीरपुर में इसका स्थान हड़प्पोत्तर तथा उत्तरी कृष्ण-मार्जित मृद्भांड-पूर्व काल है। हस्तिनापुर तथा अहिच्छत्र में यह गेरू मृद्भांड के पश्चात् और अतरंजिखेड़ा में कृष्ण-लोहित एवं उत्तरी कृष्ण-मार्जित मृद्भांडों के मध्य-स्तरीय संचय में पाया गया। इसका प्रसार पश्चिम में सिंध, पूर्व में बिहार, उत्तर में पंजाब और दक्षिण में उज्जैन तक था। लाल महोदय ने इसे आर्य मृद्भांड कहा और महाभारत कालीन स्थानों से इसे सम्बद्ध बतलाया। संकलिया महोदय महाभारत के स्थानों

१. राजस्थान के बनास घाटी के अहाड, गिलुंड इत्यादि ताम्राश्म स्थल तथा दक्कन के कयथा, नेवासा, नवदाटोली इत्यादि।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

के साथ इसके सम्बन्ध को स्वीकार करते हैं, परन्तु इसे आर्य मृद्भांड न कहकर इतिहास काल के आरंभ का मृद्भांड स्वीकार करते हैं।

गंगा घाटी की दूसरी प्रशस्त मृद्भांड संस्कृति उत्तरी कृष्ण-मार्जित की C^{14} तिथि ५५०-५० ई० पू० निर्धारित की गई है। यह मृद्भांड हस्तिनापुर में चित्रित धूसर के उत्तरकालीन संचय में पाया गया, परन्तु कहीं-कहीं दोनों समकालीन संचय में पाये गये। स्तरीय क्रम तथा C^{14} तिथि, दोनों के साक्ष्य से यह स्पष्ट है कि उत्तरी कृष्ण-मार्जित मृद्भांड के साथ चित्रित धूसर मृद्भांड का प्रचलन कुछ समय तक जारी रहा था। उत्तरी कृष्ण-मार्जित मृद्भांड का प्रसार क्षेत्र विस्तृत है—यह उत्तर में तक्षशिला, पूर्व में तामलुक और दक्षिण में अमरावती तक पाया गया और यह पूर्णतः इतिहासकालीन मृद्भांड है।

चित्रित धूसर तथा उत्तरी कृष्ण-मार्जित, इन दोनों प्रमुख मृद्भांडों का निर्माण समान उत्तम प्रकार की गंगा घाटी की मिट्टी से किया जाता था। दोनों में आकार-साम्य भी पाया गया और दोनों चित्रित हैं। परन्तु जहाँ उत्तरी कृष्ण-मार्जित मृद्भांड मार्जित होने से चमकदार हैं, चित्रित धूसर मृद्भांड का रंग उसके पकाने की विधि का परिणाम है। धूसर मृद्भांड का उद्भव गंगा घाटी का पश्चिमी क्षेत्र था, परन्तु उत्तरी कृष्ण-मार्जित का पूर्वोत्तर भारत। इसमें संदेह नहीं कि दोनों मृद्भांड आर्य संस्कृति की देन हैं और उत्तरी कृष्ण-मार्जित पूर्णतः इतिहासकालीन है, पर चित्रित धूसर का उद्भव आदीतिहासकाल में हुआ यद्यपि इसका प्रचलन इतिहासकाल तक जारी रहा।

इस प्रकार ऊपरी गंगा घाटी में विकसित संस्कृतियों का अबतक उपलब्ध प्रमाणों के आधार पर निम्नक्रम निर्धारित होगा—हड़प्पा संस्कृति→गेरू मृद्भांड संस्कृति→कृष्ण-लोहित मृद्भांड संस्कृति→चित्रित धूसर मृद्भांड संस्कृति→उत्तरी कृष्ण-मार्जित मृद्भांड संस्कृति। परन्तु इन संस्कृतियों का विकास इस रूप में नहीं हुआ कि एक के आविर्भाव के फलस्वरूप दूसरे का लोप हो गया। इनमें काफी समय तक सह-अस्तित्व के प्रमाण मिलते हैं, जैसे—आलमगीरपुर में कृष्ण-लोहित और चित्रित-धूसर मृद्भांड तथा अंतरजिखेड़ा और नोह में चित्रित धूसर एवं कृष्ण-मार्जित मृद्भांड के सह-अस्तित्व के साक्ष्य। श्रावस्ती, बैराट, उज्जैन और कयथा में उत्तरी कृष्ण-मार्जित मृद्भांड के साथ कुछ चित्रित धूसर मृद्भांड के ठीकरे पाये गये।

इस प्रकार हड़प्पा संस्कृति के अवसान से लेकर ऐतिहासिक काल के आरम्भ तक का एक मोटा-मोटी विवरण प्रस्तुत होता है, यद्यपि यह सर्वथा पूर्ण नहीं है।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

जहाँ तक हड़प्पोत्तर कालीन पश्चिम भारत का सम्बन्ध है, रंगपुर, सोमनाथ तथा कई छोटे स्थानों में उपलब्ध साक्ष्य संस्कृति परिवर्तन के द्योतक हैं। लोथल के ऊपरी स्तरों (लोथल-बी) की वस्तुओं से हड़प्पा संस्कृति के क्रमिक रूपान्तरण के संकेत मिलते हैं। सुरकोतदा (IC) में श्वेत-चित्रित कृष्ण-लोहित संस्कृति के साथ हड़प्पा संस्कृति के अस्तित्व का साक्ष्य उपलब्ध है। यह कहना उपयुक्त नहीं होगा कि इस संस्कृति का अन्त बलात् एवं अकस्मात् हुआ। यदि ऐसा होता तो उत्तर-कालीन संस्कृति में हड़प्पाई तत्त्वों का सर्वथा अभाव पाया जाता। कई कारणों से जिनमें प्राकृतिक और मानवीय सम्मिलित माने जायेंगे इसका तीव्र गति से ह्रास हुआ। अपने अवसान के पश्चात् लंबी अवधि तक सिंध, सौराष्ट्र और पंजाब के मृद्भांड में इसने अपना अस्तित्व बनाए रखा, यद्यपि यह मृद्भांड पूर्वापेक्षा घटिया है।

ताम्राश्म संस्कृतियाँ—अब तक के पुरातात्विक अन्वेषणों से उपलब्ध साक्ष्य इस बात के संकेतक हैं कि हड़प्पा संस्कृति के उत्तरार्ध में, जब वह अपने अवसान पथ पर अग्रसर हो रही थी, राजस्थान और मध्य भारत में नई संस्कृतियों का जन्म हो रहा था। राजस्थान के बनास घाटी में अहाड़ और गिलुंड नामक स्थानों के उत्खनन से एक प्रमुख ताम्राश्म संस्कृति के अस्तित्व के प्रमाण मिले। गिलुंड का उत्खनन आंशिक होने से इस संस्कृति के विषय में हमारे ज्ञान के मुख्य आधार अहाड़ (उदयपुर का उपनगर) के उत्खनन से उपलब्ध साक्ष्य हैं। इसकी मुख्य विशेषता ताम्रोपकरण हैं। अन्य ताम्राश्म संस्कृतियों के समान यहाँ अश्म-ब्लेड का प्रयोग नहीं होता था, अतः संकलिया महोदय के विचार में इसे ताम्र-परशु संस्कृति कहना अधिक उपयुक्त होगा।[1] अहाड़ के निवासियों द्वारा प्रयुक्त मृद्भांडों में श्वेत-चित्रित कृष्ण-लोहित तथा लोहित-लेपित (नारंगी, टैन और कत्थई रंगभेद) मृद्भांड उल्लेखनीय हैं।

अहाड़ संस्कृति के १५०० वर्षों के सुदीर्घकालीन अस्तित्व के साक्ष्य उपलब्ध हैं। यहाँ ताम्र संस्कृति २००० ई० पू० से ५०० ई० पू० तक पनपती रही, तदनन्तर वहाँ लौह प्रयोगी लोग बस गये।[2] कालीबंगन की न्यूनतम C^{14} तिथि

---

१. अहाड़ में ताँबा सुलभ था, परन्तु बनास घाटी में यह दुर्लभ रहा हो। बनास घाटी में गिलुंड के अतिरिक्त ५० पुरास्थल पाये गये हैं जिनके उत्खनन से संभवतः यह प्रमाणित हो कि ताँबे की दुर्लभता के कारण उन्हें क्षुद्राश्म उपकरणों का सहारा लेना पड़ा हो। इस स्थिति में इस संस्कृति का ताम्र-प्रयोगी अहाड़ी और ताम्रोपकरण सह अश्म-ब्लेड प्रयोगी बनासीय वर्गीकरण उपयुक्त होगा।

२. विक्टोरिया लेबोरेटरी, आस्ट्रेलिया द्वारा पाँच नमूनों की C^{14} तिथियाँ २१४५-१८७५ ई० पू० के बीच निर्धारित हुई हैं। टाटा संस्थान (T. I. F. R.) बंबई में ४ नमूनों की तिथियाँ लगभग १७२५ ई० पू० आईं।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

१५०० ई० पू० निर्धारित होने से यह तर्कसंगत अनुमान लगाया जायगा कि यहाँ हड़प्पा संस्कृति का इस तिथि के पश्चात् भी दो-तीन सौ वर्षों तक अस्तित्व रहा होगा। इस स्थिति में कालीबंगन की हड़प्पा संस्कृति के साथ अहाड़ के ताम्राश्म संस्कृति की कई शताब्दियों तक (लगभग २०००-१३०० ई० पू०) समकालीनता प्रमाणित होगी। टाटा संस्थान, बंबई द्वारा निर्धारित तिथि १७२५ ई० पू० स्वीकार करने से भी यह समकालीनता अल्पकालीन नहीं होगी। कयथा (उज्जैन से ३० मील पूर्व) की ताम्राश्म संस्कृति की C^{14} तिथि २००० ई० पू० निर्धारित हुई हैं, अतः अहाड़ के समान ही इसकी समकालीनता कालीबंगन के हड़प्पा काल से स्थापित होती है। एरण जिला-सागर, म० प्र०), नवदाटोली (जिला-निमाड़, म० प्र०), नेवासा (जिला-अहमदनगर, महाराष्ट्र), सोनगाँव, इनामगाँव, चंदोली (जिला-पूना, महाराष्ट्र) इत्यादि की C^{14} तिथियाँ द्वितीय सहस्राब्दी ई० पू० के मध्य के लगभग निर्धारित होने से यह स्पष्ट होता है कि हड़प्पा संस्कृति के उत्तरार्द्ध और कहीं-कहीं अंतिम चरण में अथवा तत्काल पश्चात् मध्य भारत और दक्कन में ताम्राश्म संस्कृतियाँ विकसित हुईं।

मध्य प्रदेश और महाराष्ट्र में संस्कृतियों के तीन क्रमिक विकास के साक्ष्य उपलब्ध है—कयथा, मालवा और जोर्वे संस्कृतियाँ। ताप्ती घाटी का सवलदा भी वैशिष्ट्य संपन्न है, परन्तु यह कयथा से मिलता-जुलता है। नर्मदा तट के महेश्वर तथा नवदाटोली (इंदौर से नौ किलोमीटर दक्षिण) और उज्जैन एवं इंदौर के बीच कुछ स्थानों में जिस ताम्राश्म संस्कृति के अवशेष मिले उसकी संज्ञा मालवा संस्कृति दी गई। तदन्तर कयथा (चंबल की सहायक कालीसिंघ के तट पर) के उत्खनन से यहाँ मालवा संस्कृति से शताब्दियों पूर्व विकसित (लगभग २००० ई० पू०) एक समृद्ध ताम्राश्म संस्कृति का पता लगा। अहाड़, कयथा और मालवा संस्कृतियों में इतना साम्य है कि इन्हें मूलतः एक मानना उपयुक्त होगा। मालवा संस्कृति का उद्भव अहाड़ और कयथा संस्कृतियों को मानना चाहिए। इन संस्कृतियों में प्रयुक्त अश्म तथा ताम्र उपकरणों में साम्य है, परन्तु कयथा की ताम्र-परशु की अपनी विशेषता है। यहाँ के अश्मोपकरणों में चालसीडोनी के ब्लेड और पत्थर के बड़े उपकरण, तथा ताम्रोपकरणों (तांबे-कांसे के) में परशु, मनके, कंगन, चूड़ियाँ और पायल उल्लेखनीय हैं। कयथा के नागरिकों की आभूषण-प्रियता का अनुमान उस हार से लगाया जा सकता है जिसमें स्टीयटाइट के छोटे-छोटे चालीस हजार मनके गुंथे मिले। कयथा के मृद्भांडों में लोहित-चित्रित धूसर मृद्भांड काफी सुन्दर बनाये जाते थे। हस्त-निर्मित तथा उत्कीर्णन द्वारा अलंकृत प्रकार के मृद्भांड के भी उल्लेख किये जा सकते हैं। जहाँ तक बर्तनों के आकारों

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

का प्रश्न है, गोलाकार भांड, विशाल संग्रह-भांड, लोटे, थालियाँ, कटोरे इत्यादि उल्लेखनीय हैं। कृष्ण-लोहित मृद्भांड और वृषभ पूजा के साक्ष्य अहाड़ संस्कृति के प्रभाव के संकेतक माने जायेंगे, परन्तु यहाँ अहाड़ का प्रभाव अल्पकालिक रहा।

विकसित प्रकार का कृष्ण-चित्रित लोहित (विभिन्न लोहित उपवर्णों का) मृद्भांड मालवा संस्कृति की प्रमुख विशेषता है। संग्रह-भांड के अतिरिक्त सभी मृद्भांड चाक पर बनाये जाते थे। यद्यपि बर्तनों को पूरी तरह पकाया नहीं जाता था परन्तु उनकी सुन्दरता में कोई कसर नहीं रहती थी। उपयोगी बर्तनों में सस्तम्भ थाली, कटोरे, लोटे, चषक (goblet), टोंटीदार कटोरे इत्यादि उल्लेखनीय हैं।

मालवा संस्कृति की C^{14} तिथियाँ १६६० $\pm$ १३० और १४४५ $\pm$ १३० ई० पू० के मध्य निर्धारित होने से इसका अविर्भाव काल १५०० ई० पू० माना गया है (अग्रवाल, १६७१)। इस संस्कृति के उज्जैन-नवदाटोली के क्षेत्र से ताप्ती घाटी होकर भीमा घाटी में प्रसार के साक्ष्य चंदोली, सोनगाँव और इनामगाँव के उत्खनन से उपलब्ध होते हैं।

जोर्वे (जिला—अहमदनगर) संस्कृति के कई स्थानों के उत्खनन के फलस्वरूप इस संस्कृति के विषय में व्यापक ज्ञान प्राप्त करने में भारतीय पुराविद सफल रहे। इसका पश्चिम में पूना से लेकर पूर्व में अमरावती तक और उत्तर में खानदेश से लेकर दक्षिण में ऊपरी कृष्णा घाटी तक प्रसार के साक्ष्य मिलते हैं। जोर्वे संस्कृति के प्रमुख केन्द्रों के रूप में प्रकाश (ताप्ती घाटी), दैमाबाद (प्रवर-गोदावरी घाटी) और इनामगाँव (भीमा घाटी) उल्लेखनीय पाये गये। इसकी C^{14} तिथि १५००-७०० ई० पू० निर्धारित हुई है। लगभग १२०० ई० पू० में यह संस्कृति दक्षिण के आंध्र-कर्नाटक (कृष्णा-गोदावरी घाटी का क्षेत्र) की संस्कृतियों तथा उत्तर की मालवा संस्कृति पर हावी हो गई।

जोर्वे संस्कृति की विशेषताओं में अश्मोपकरण, जैसे—अश्म-परशु तक्षणी, छेनी, चूर्णक, घर्षक (rubbing stone) इत्यादि ताँबे-कांसे के उपकरण, शस्त्रास्त्र तथा आभूषण, वस्त्र (रेशम और सन), गृह निर्माण तथा मृद्भांड उल्लेखनीय हैं। इनामगाँव के उत्खनन के साक्ष्य महत्वपूर्ण पाये गये। जोर्वे संस्कृति काल के समृद्ध गाँवों की सुरक्षा हेतु मिट्टी-पत्थर के रक्षा-प्राचीर का निर्माण किया जाता था। ४·६ × ३·७ मीटर माप के आवास एक दूसरे से १·५ मीटर की दूरी पर बनाये जाते।

इनामगाँव में मातृदेवी के पूजागृह की उपलब्धि महत्वपूर्ण है। यहाँ के समान मातृदेवी की मिट्टी की मूर्तियाँ नेवासा और चंदोली में तो मिलीं ही, बिहार

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

के ओरियप में भी पायी गयी हैं। जोर्वेकालीन शवाधान घर के कमरे अथवा बरामदे में पाये गये (इनामगाँव तथा नेवासा का साक्ष्य)। बड़ों के शवों को सीधा जमीन पर दफनाया जाता था, परन्तु बच्चों के शव भांड में रखकर गाड़े जाते। जोर्वे काल के मृद्भांड में आकार वैविध्य नहीं है, परन्तु तत्कालीन कुंभकार चित्रांकन से अनभिज्ञ नहीं थे। थाली का अभाव इस बात का द्योतक है कि रोटी जैसी चीज नहीं बनती थी। संग्रह-भांड में बैलगाड़ी का रेखांकन तत्कालीन समाज में इसके प्रयोग का साक्ष्य माना जायगा।

पूर्वी भारत में किये गये उत्खननों से कृष्ण-मार्जित मृद्भांड संस्कृति के पूर्व के स्तरों में ताम्राश्म संस्कृतियों की विद्यमानता के साक्ष्य मिलते हैं। उड़ीसा के कुचाई नामक स्थान में नवाश्म संस्कृति के अवशेष पाये गये। पूर्वी उत्तर प्रदेश, बिहार और बंगाल में किये गये पुरातात्त्विक खोजों एवं उत्खननों से भी उपर्युक्त समस्याओं पर एक नया प्रकाश पड़ा। इस क्षेत्र का सांस्कृतिक विकास-क्रम निर्धारित करने के लिए चिरांद में उपलब्ध प्रमाण महत्त्वपूर्ण हैं। यहां नवाश्म काल से लेकर कृष्ण-मार्जित मृद्भांड तक के समय का अविराम सांस्कृतिक क्रम मिलता है।[1] गंगा घाटी में सर्वप्रथम नवाश्म संस्कृति के अवशेष यहीं मिले। इस काल में मार्जित अश्म परशु के अतिरिक्त हड्डियों के उपकरण प्रचुर संख्या में बनते थे। भूरे रंग के चमकीले मिट्टी के बर्तन बनाये जाते थे जिनपर पकाने के पश्चात् गेरू रंग से चित्रकारी की जाती। C^{14} विधि के आधार पर इस संस्कृति का आरंभ-काल २३००-२४०० और अंतकाल १७०० ई० पू० के पहले निर्धारित होता है। तदनन्तर ताम्राश्म काल आया, जब लोग मुख्यतः कृष्ण-लोहित मृद्भांड (मार्जित तथा अमार्जित) का उपयोग करने लगे (II-A)। इस प्रकार की ताम्राश्म-कालीन उपलब्धियाँ बिहार के ओरियप तथा सोनपुर और पश्चिम बंगाल के पाण्डुराजार ढिबी, महिषदल, हरईपुर आदि की हैं। पूर्वी उत्तर प्रदेश के प्रह्लादपुर एवं राजघाट के निम्न-स्तरों के अवशेषों को भी इसी काल के अन्तिम चरण में रखा जा सकता है। C^{14} विधि के आधार पर चिरांद की ताम्राश्म संस्कृति की तिथि १७००-१००० ई० पू० निर्धारित करना संभव होगा। ताम्राश्म के पश्चात् लौह-युग (II-B) आया। इस काल (III) के स्तर में कृष्ण-मार्जित मृद्भांड मिलते हैं। इस प्रकार पूर्वी भारत के सांस्कृतिक विकास का क्रम इस प्रकार निर्धारित किया जा

---

१. चिरांद का उत्खनन अपूर्ण होने के कारण भविष्य में इस पुरास्थल के प्रस्तावित संस्कृतिक्रम का नई उपलब्धियों के आधार पर संशोधन करना पड़ सकता है।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

सकता है—नवाश्म संस्कृति (हड़प्पा संस्कृति के समकालीन)—ताम्राश्म संस्कृति—उत्तरी कृष्ण-मार्जित-पूर्व लौहयुग—उत्तरी कृष्ण-मार्जित मृद्भांड काल।

जैसा कि ऊपर उल्लेख किया गया है, दक्षिण में नवाश्म संस्कृति का १००० ई० पू० तक अस्तित्व रहा। इसका अंतिम रूप नवाश्म-ताम्राश्म हो गया। तत्पश्चात् महाश्म संस्कृति का काल आया। जूनापाणी, मास्की, नागार्जुनीकोंड, सन्नूर, पोरकलं, महूरझरी इत्यादि स्थानों में महाश्म संस्कृति के अवशेषों के उत्खनन से इस संस्कृति के विषय में हमारी जानकारी काफी बढ़ी। इस लौह संस्कृति के प्रादुर्भाव की तिथि लगभग १००० ई० पू० निर्धारित किये जाने से लोहे के प्रयोग की प्राचीनता के विषय में भी नया दृष्टिकोण अपनाना पड़ा।

ऐतिहासिक काल—अंधकार युग की समस्या के समाधान सम्बन्धी उपर्युक्त सफलताओं के उल्लेख का यह अर्थ नहीं कि मात्र इसी दिशा में प्रयास हुआ। पुरातात्त्विक महत्त्व के इतिहासकालीन स्थलों के भी समुचित उत्खनन किये गये जिनसे उपलब्ध कुछ साक्ष्य बड़े महत्त्वपूर्ण हैं। उत्तर प्रदेश, बिहार, बंगाल, उड़ीसा और मध्य प्रदेश के जिन पूर्व-इतिहास कालीन तथा इतिहासकालीन स्थानों का उत्खनन संपन्न हुआ, उनमें प्रमुख हैं—कौशाम्बी (जि० इलाहाबाद), राजघाट (वाराणसी), जगतग्राम, (कालसी के निकट, जि० देहरादून), श्रावस्ती, प्रिप्रहवा (जि० गोरखपुर, नौगढ़ स्टेशन से २५ किलोमीटर), वैशाली, कुम्रहार (पटना), राजगीर (जि० पटना), अंतिचक, चम्पा (भागलपुर), चन्द्रकेतुगढ़ (जि० चौबीस परगना), तामलुक (जि० मिदनापुर), बाणगढ़, शिशुपालगढ़ (जि० पुरी), रत्नगिरि (जि० कटक), उज्जैन इत्यादि।[1]

कौशाम्बी में एक किलानुमा महल (३१५ × १५० मीटर) मिला। उत्खनक ने इसकी तिथि ६०० ई० पू० निर्धारित की और इसे वत्सराज उदयन का प्रासाद माना। इस स्थान पर उपलब्ध एक उत्तरकालीन अभिलेख में भगवान बुद्ध के कौशाम्बी जाने और वहाँ घोषिताराम में ठहरने का उल्लेख मिलता है। तीन वर्ग किलोमीटर में फैला यहाँ का रक्षा-प्राचीर जो अभी भी तेरह मीटर से अधिक ऊँचा है, अपनी विशेषताओं के कारण बड़ा महत्त्वपूर्ण है। लगभग ७५० ई० पू० में निर्मित उज्जैन के रक्षा-प्राचीर से संलग्न परिखा पायी गई। वैशाली के उत्खनन में जो स्तूप मिला उसका पुरातात्त्विक दृष्टिकोण से बड़ा महत्त्व है। मूल स्तूप का

१. देखिए IAR में उपलब्ध विवरण तथा कौशाम्बी, वैशाली, कुम्रहार इत्यादि के प्रकाशित उत्खनन विवरण।

रामायण तथा महाभारत से सम्बन्धित अयोध्या तथा मथुरा के उत्खनन भी किये गये। शृंगवेरपुर का उत्खनन किया जा रहा है।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

निर्माण लिच्छवियों ने भगवान् बुद्ध के पवित्र अस्थि-अवशेष पर किया था जिसका उत्तरकाल में चार बार विस्तार किया गया। पिप्रहवा के उत्खनन से इस बात की पुष्टि हुई कि यहाँ पर प्राचीन कपिलवस्तु नगर बसा हुआ था। प्रथम शताब्दी के विहार के अवशेष में उपलब्ध अभिलेखयुक्त मुहरों से ज्ञात हुआ कि कनिष्क ने यहाँ विहार निर्माण कराया था।[1]

इन सभी उपलब्धियों के साथ-साथ स्वाधीन भारत ने पुरातत्त्व के प्रति देशवासियों की अभिरुचि उत्पन्न करने में भी सफलता प्राप्त की। ह्वीलर महोदय ने विश्वविद्यालय के छात्रों को पुरातत्त्व सर्वेक्षण के उत्खनन शिविरों में प्रशिक्षण प्राप्त करने का अवसर प्रदान किया था, परन्तु स्वतन्त्र भारत में अनेक संस्थाओं द्वारा पुरातत्त्व-सम्बन्धी प्रशिक्षण का कार्य होने लगा। स्वाधीन भारत में विश्व-विद्यालय स्तर पर इस विषय के अध्यापन को महत्त्व प्रदान किया गया। तदनुसार, केन्द्रीय विश्वविद्यालय अनुदान आयोग के प्रयास से देश के अनेक विश्वविद्यालयों में प्राचीन भारतीय इतिहास एवं संस्कृति के महत्त्वपूर्ण अंग के रूप में पुरातत्त्व के अध्यापन का समारंभ हुआ। पुरातत्त्व के अध्यापन में व्यावहारिक प्रशिक्षण अनिवार्य होने से प्रशिक्षित पुरातत्त्वज्ञों की संख्या में तेजी से वृद्धि होने लगी। व्यावहारिक प्रशिक्षण हेतु सर्वेक्षण और उत्खनन किये जाने से अनेक पुरातात्त्विक स्थलों का पता लगाने के कार्य को प्रोत्साहन मिला और पुरातत्त्व-सम्बन्धी ज्ञान की अभिवृद्धि में तीव्रता आई। भारतीय पुरातत्त्व सर्वेक्षण ने भी इस दिशा में ध्यान दिया, फलस्वरूप इण्डियन स्कूल ऑफ आर्क्योलॉजी का जन्म हुआ जिसके तत्वावधान में पुरातत्त्व विषय का डिप्लोमा पाठ्यक्रम चलाया गया। विभिन्न राज्यों में पुरातत्त्व निदेशालयों की स्थापना से सर्वेक्षण, संरक्षण और उत्खनन के कार्यों को और आगे बढ़ाया गया। देश में पुरातात्त्विक संग्रहालयों की संख्या में भी उल्लेखनीय वृद्धि हुई।

---

१. कपिलवस्तु भिक्षुसंघ की मुहरें पर्याप्त संख्या में पाई गई और उनपर यह अभिलेख है—ऊँ देवपुत्र विहरे कपिलवस्तु भिखुसंघस।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

पुरातात्त्विक स्थलों का पता लगाना और प्राचीन वस्तुओं की उपलब्धि

प्राकृतिक प्रक्रियाओं तथा मनुष्य की गतिविधियों के फलस्वरूप धरती के गर्भ में संचित पुरावशेष निरन्तर न्यूनाधिक संख्या में सतह पर उभरते रहते हैं, जिनके आधार पर अतीत की सभ्यताओं के अनेक स्थलों का पता लगाना संभव हुआ। इस प्रकार की अनायास उपलब्धियों को दैविक कहा गया है। इनमें प्रकृति की अपेक्षा मनुष्य का हाथ अधिक रहता है, यद्यपि उसके कार्यों का ध्येय पुरातात्त्विक स्थलों या पुरावस्तुओं की उपलब्धि नहीं रहता। परन्तु अनायास उपलब्ध पुरावशेषों में उन्हीं का पुरातात्त्विक ज्ञान के संवर्द्धन में उपयोग किया जा सका जो विशेषज्ञों की नजरों में पड़ गई।

जहाँ तक प्रकृति का प्रश्न है, वह भूक्षरण के विभिन्न साधनों द्वारा भूमिस्थ पुरातात्त्विक संपदा को उद्‌घाटित करती है। ये साधन हैं—समुद्र, नदी-नाले, वायु, वृष्टि और अनावृष्टि। जलधि-तरंगों के निरन्तर आघात के फलस्वरूप समुद्र-तट का न्यूनाधिक क्षरण होता रहता है, अतः तटवर्ती प्राचीन बस्तियों के चिह्न उभरने लगते हैं। ब्रिटेन में नॉरफक तथा इसेक्स के समुद्र-तटों में इसी प्रकार महत्वपूर्ण पुराश्मकालीन अवशेष उपलब्ध हुए। प्राचीन सभ्यता का जो स्थान जलमग्न हो गया हो, वहाँ के अवशेष कभी-कभी लहर के साथ तट पर आ जाते हैं। सन् १६३६ ई० में बेलजियम के समुद्रतट पर १६३४ ई० में जलमग्न हुए स्थान के कुछ अवशेष उस समय मिले जब भाटे के साथ समुद्र का जल उतरा। सभ्यता के आदिकाल से ही मनुष्य नदी-तटों पर ग्राम-नगरों का निर्माण करता आया है, अतः नदीतट का भूक्षरण पुरातात्त्विक दृष्टिकोण से महत्व-पूर्ण माना गया है। वायु से धूल तो उड़ जाती है, किन्तु भूमि पर पड़ी भारी वस्तुएँ यथास्थान रह जाती हैं। अतः जो स्थान कभी आबाद रहा, विशेषतया जो बस्तियाँ रेत के टीले पर बसी थीं, वहाँ के सतह की पर्याप्त धूल के उड़ जाने से अतीत के मानव से सम्बद्ध वस्तुएँ दिखलाई पड़ने लगती हैं। गृष्मकाल में सर्वत्र धूल ही धूल दीखती है, परन्तु वह वर्षा-ऋतु के आगमन से शीघ्र ही अदृश्य हो जाती है। इस ऋतु में असंख्य जल-धाराएँ पृथ्वी पर प्रवाहित होने लगती हैं, शुष्क नदी-नाले उमड़ पड़ते हैं, फलस्वरूप पृथ्वी की सतह की पर्याप्त मिट्टी का क्षरण होता है। वर्षा-ऋतु में पर्याप्त भूक्षरण होने के कारण ही वर्षान्त का पुरातात्त्विक भू-अन्वेषण बड़ा फलदायी माना गया है। कभ-कभी वृष्टि के समान

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

अनावृष्टि भी पुरातत्त्व के लिए उपयोगी हो जाती है। दीर्घकालीन अनावृष्टि के कारण झील और नदियों के सूख जाने से उनके तल में अतीत के जो प्रमाण विद्यमान रहे हों, वे दृष्टिगत हो जाते हैं। स्वीट्जरलैंड के प्राचीन काल के झीलवासियों की संस्कृति का ज्ञान सन् १८५३-५४ ई० के उस भीषणतम अनावृष्टि की कृपा से उपलब्ध हुआ जिसके फलस्वरूप आल्प्स क्षेत्र के झीलों और नदियों के जलस्तर में बेतरह कमी आ गई थी।

जैसा कि ऊपर कहा गया, प्रकृति अपने कुछ साधनों द्वारा पुरातात्त्विक संपदा को सतह पर लाती रहती है, परन्तु इस कार्य में सर्वाधिक देन तो मनुष्य की ही रही है। कहा जाता है कि पृथ्वी के गर्भ में विपुल पुरातात्त्विक संपदा संचित है और उसे उपलब्ध करने के लिए भूमि को थोड़ा-सा खुरच देना पर्याप्त होगा। यद्यपि इस कथन में अक्षरशः सच्चाई नहीं है, परन्तु मनुष्य की उन गतिविधियों द्वारा जिनमें भूखनन निहित हो, जाने-अनजाने इस संपदा की उपलब्धि होती रही है।

भोला-भाला किसान पुरातत्त्व से सर्वथा अनभिज्ञ होता है, परन्तु उसके माध्यम से अनेक पुरातात्त्विक स्थलों का पता चला। किसान का काम ही है जमीन को जोतना-कोड़ना और जमीन में दबी हैं असंख्य प्राचीन वस्तुएँ। जहाँ पर आबादी वाले जमीन का स्तर गहराई पर नहीं रहता, वहाँ के पुरावशेष, जैसे—ठींकरे, ईंटें, मिट्टी के खिलौने, सिक्के वगैरह साधारण हल से टकरा कर ऊपर आ जाते हैं। हल चलाते समय ही जोगलथम्बी में एक किसान को नहपान के चौदह सहस्र सिक्कों का ढेर मिला। जहाँ ट्रैक्टर से भूकर्षण होता है, वहाँ तो काफी गहराई में दबी वस्तुएँ भी निकल आती हैं। सिंचाई के लिए कुओं और नालियों का निर्माण तथा खेतों के मेढ़ इत्यादि बनाना ऐसे कृषि-सम्बन्धी कर्म हैं जिनसे प्राचीन वस्तुओं के प्रकट होने की संभावना रहती है। उबड़-खाबड़ भूमि को समतल बनाने के क्रम में भी अतीत के अवशेष मिल जाया करते हैं।

किसान के समान कभी-कभी मछुओं द्वारा भी प्राचीन वस्तुओं की उपलब्धि होती है। उत्तर सागर और भूमध्य सागर के कई क्षेत्रों में मछुओं ने महत्त्वपूर्ण पुरावशेषों को प्रकाश में लाया।

आवास-निर्माण का काम समाज में बड़ा व्यापक है। चाहे सामान्य मकान की बात हो या आलीशान महल की, नींव तो खोदनी ही पड़ेगी। यदि निर्माण-स्थल कभी आबाद रहा हो तो विशाल भवनों के लिए गहरी नींवें खोदते समय प्राचीन अवशेषों के ऊपर आ जाने की पर्याप्त सम्भावनाएँ रहती हैं। परन्तु साधारण नींव भी व्यर्थ नहीं होती। कभी-कभी उसमें ऐसे अवशेष मिल जाते हैं जिनका महत्त्व गहरी नींव में

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

उपलब्ध वस्तुओं से अधिक होता है। वस्तुओं का मिलना तो वस्तुतः संयोग की बात है। भवन-निर्माण के लिए ईंटें बनती हैं और इसके लिए मिट्टी खोदी जाती हैं। हो सकता है इस काम में भी कोई प्राचीन वस्तु मिल जाय।

समाज के औद्योगीकरण और नगर-जीवन के तीव्र विकास ने पुरातात्त्विक वस्तुओं के संग्रह की समृद्धि में महत्त्वपूर्ण योग प्रदान किया है। भवन-निर्माण, रेल-मार्गों एवं सड़कों का निर्माण, जलापूर्ति के लिए पानी के नल बिछाना, भूगर्भ नालियों का निर्माण जैसे कार्यों के माध्यम से प्राचीन सभ्यताओं के चिह्न सतह पर आ जाते हैं। जहाँ भूगर्भीय रेल-मार्ग बनाये जाते हैं, वहाँ पुरातात्त्विक सामग्रियों की उपलब्धि की अधिक संभावना रहती है। लंदन में भूगर्भीय रेलमार्ग-निर्माण के क्रम में ही रोम-कालीन नगर के विषय में विशेष जानकारी प्राप्त हुई। सड़क-निर्माण के क्रम में दो तरह से अवशेष प्रकट होते हैं—एक तो नई सड़कों का निर्माण करते समय और दूसरा, सड़क में बिछाने के लिए पत्थर खोदते समय। प्रायः ग्रेवल (Gravel) के प्राचीन संचयों में मानव-निर्मित अश्मोपकरण उपलब्ध होते हैं, अतः सड़कों के लिए ग्रेवल-संग्रह के क्रम में प्रागैतिहासिक स्थलों का पता लग जाने की पूरी संभावना रहती है। सड़क के समान जलमार्गों के विकास की भी प्राचीन वस्तुओं की उपलब्धि में महत्त्वपूर्ण देन है। नदी-तलों की सफाई और नहर, गोदी तथा बन्दरगाह के निर्माण के क्रम में प्राचीन अवशेष ऊपर आ जाते हैं। नदी-तलों से बालू हटाते समय सभी प्रागैतिहासिक युगों की वस्तुएँ यूरोप में उपलब्ध हुई हैं। यद्यपि इस प्रकार उपलब्ध वस्तुओं में ऐतिहासिक सम्बद्धता का अभाव होता है, परन्तु उनकी स्वयं की उत्कृष्टता उपेक्षणीय नहीं हो सकती।

युद्ध का महत्त्व भी पुरातत्त्व के लिए न्यून नहीं रहा है। प्रथम विश्वयुद्ध के समय जर्मन-प्रशासन ने यह व्यवस्था कर रखी थी कि पुरातात्त्विक महत्त्व की वस्तुएँ सुरक्षित संग्रहालयों में पहुँच जायें। ये वस्तुएँ मुख्यतः सेना द्वारा खाइयों का निर्माण करते समय मिलती थीं। पुरातात्त्विक स्थानों का पता लगाने के लिए आज विमानों से भूमि के छायांकन का बड़ा महत्त्व है, परन्तु इसका विकास युद्ध-कालीन अनुभवों के आधार पर हुआ। इस दिशा में सर्वप्रथम ब्रिटिश वायुसेना के बैलूनों द्वारा प्रयोग किये गये और पहला फोटोग्राफ जिसका १९०६ ई० में प्रकाशन हुआ, वह था स्टोनहेंज का। द्वितीय विश्वयुद्ध में वायुसेना का जोर बढ़ा जिससे वैज्ञानिक अड्डों का निर्माण करते समय अनेक महत्त्वपूर्ण पुरावशेष प्राप्त हुए।

अबतक तो हमने उन क्रियाओं पर विचार किया जिनका मूल उद्देश्य पुरातात्त्विक अवशेषों की उपलब्धि का नहीं रहता है। अतः इनसे प्राप्त वस्तुओं के

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

महत्वपूर्ण होने पर भी उनमें अपेक्षित ऐतिहासिक सम्बद्धता का अभाव होता है। परन्तु जो क्रियाएँ सोद्देश्य एवं सुनियोजित होती हैं वे ऐतिहासिक दृष्टिकोण से अधिक महत्व की होती हैं। इसके लिए पहला काम है—अन्वेषण। पुरातात्त्विक खोजी अपने अग्रगामियों द्वारा प्रस्तुत स्थानवर्णन, प्राचीन मानचित्र, मुख्यत: भूमि के उभारों का मानचित्र, सर्वेक्षण मानचित्र इत्यादि का आश्रय लेकर आगे बढ़ता है। स्थानों के नाम और स्थान-विशेष से सम्बन्धित दंतकथाओं से भी बड़ा लाभ होता है। परन्तु अन्ततः निष्कर्ष निकालना होता है, स्थान-विशेष के तल-चिह्नों के अध्ययन से।

जब खोजी किसी संभावित पुरातात्त्विक स्थल पर पहुँचता है तो वह उसके तल-चिह्नों का सूक्ष्म निरीक्षण करता है। प्राय: प्राचीन टीलों के आस-पास ठींकरे बिखरे मिलेंगे। वर्षा-जल के कटाव से ठींकरे इधर-उधर बिखर जाया करते हैं। कभी-कभी जल के कटाव से प्राचीन काल की पकी मिट्टी के खिलौने, सिक्के या अन्य वस्तुएँ मिलेंगी। यदि वह स्थान प्रागैतिहासिक सभ्यता का हुआ तो अश्मोपकरण बिखरे मिलेंगे। यदि हाल में वर्षा हुई हो तो इनको आसानी से देख पाना संभव होगा, विशेषकर क्षुद्राश्मों को। यदि महाश्म संस्कृति के स्थान में कोई पहुँच गया तो सतह पर पत्थरों का गोल घेरा दीखेगा। कहने का तात्पर्य कि अन्वेषक यदि पुरातात्त्विक स्थल पर पहुँच जायगा और वहाँ पुरावशेष भूमि के अन्दर गहराई में दबे नहीं होंगे, तो उसकी नजर में किसी प्राचीन अवशेष के पड़ने की पूरी संभावना रहेगी। यदि ऐसा नहीं हुआ तो वह भूमि-परीक्षा करेगा। इसकी विधि यह है—अंग्रेजी के टी अक्षर के आकार के लगभग एक मीटर की छड़ को इस उद्देश्य से भूमि में प्रविष्ट कराया जायगा कि अन्दर यदि कोई अवरोध हो तो उसका पता चल जाय। यदि अवरोध मिला तो उसे किसी दीवार या पत्थर का संकेत माना जायगा। भूमि-परीक्षा के लिए शब्दध्वनि का भी आश्रय लिया जाता है। इसके लिए भूमि पर गदा सदृश किसी भारी वस्तु से आघात किया जाता है। इस आघात से उत्पन्न शब्द को एक व्यक्ति दूर से सुनता है। यदि शब्द में भारीपन होगा तो उसे जमीन के नीचे किसी प्राचीन भवन के अवशेष का संकेत माना जायगा।

ऊपर प्राचीन काल के संभावित आबादी के स्थान के परीक्षण की सामान्य विधि का उल्लेख किया गया। परन्तु आज विज्ञान का युग है, अतः प्रत्येक क्षेत्र में नित नवीन प्रयोग हो रहे हैं और नई-नई विधियों का विकास हो रहा है। पुरातात्त्विक अनुसंधान-सम्बन्धी नये साधनों के विकास के कारण अब पुरातात्त्विक स्थलों की खोज निकालने का काम काफी आसान हो गया है। आज का खोजी ऐसे नये साधनों से लैस होकर मैदान में जाता है जिनसे किसी भी प्राचीन अवशेष के उसकी आँखों से बचने की न्यूनतम संभावना रहती है।

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

आकाशीय छायांकन (Aerial Photography)—आज सभी उन्नत देशों में आकाशीय छायांकन द्वारा पुरातात्त्विक स्थलों का पता लगाने की विधि का प्रचलन है। अधिक ऊँचाई से लिये गये चित्रों में पृथ्वी की सतह का स्वल्प उत्थान भी बड़े आकार का दीखेगा। भूमि की जिन विशिष्टताओं को मनुष्य की आँखें नैसर्गिक अवस्था में कदापि नहीं देख पातीं उन्हें भी चित्र के निगेटिव में देखना संभव होता है। इस तथ्य को जब पुरातत्त्वज्ञों ने समझा तो इस दिशा में प्रयोग होने लगे। शार्प महोदय ने सन् १९०६ ई० में पहला उल्लेखनीय चित्र प्रकाशित किया जो स्टोनहेंज का था। तदनन्तर १९२० ई० में थ्योडोर वीगैन्ड महोदय ने पैलेस्टाइन (इजरायल) और सिनाई में किये गये सर्वेक्षण में इस विधि का प्रयोग किया। परन्तु मुख्यतः क्रॉफोर्ड तथा कीलर की उपलब्धियों से इस विधि की उपयोगिता की ओर विद्वानों का ध्यान आकृष्ट हुआ। क्रॉफोर्ड महोदय ने इस विधि द्वारा इंगलैंड के अनेक अज्ञात स्थलों को खोज निकाला। उन्हीं दिनों फ्रांस के सैनिक वैमानिकों ने सीरिया और मेसोपोटामिया में एतद्विषयक महत्वपूर्ण कार्य किये। १९२९ ई० में आकाश से लिये गये चित्रों द्वारा रोडेशिया के जिम्बाब्वे नामक प्राचीन नगरी के विषय में अनेक महत्व की बातें ज्ञात हुईं। आकाशीय चित्रांकन के क्षेत्र में फ्रांस के पुरातत्त्वज्ञ पियरे पोयडबार्ड (Pire Poidebard) की देन का बड़ा महत्व है। इस विधि को पुरातत्त्व के लिए उपयोगी बनाने का प्रथम श्रेय इन्हीं को दिया जाता है। सन् १९२५-२९ ई० में इन्होंने सीरिया में पुरातात्त्विक कार्य करते समय आकाशीय चित्रांकन की पुरातत्त्व के लिए उपयोगिता की संभावनाओं को समझा। युफ्रेटिस नदी के उत्तर में असंख्य टीले बिखरे पड़े हैं जो देखने में बड़े अस्त-व्यस्त से लगते हैं, परन्तु जब पाँच हजार फुट की ऊँचाई से उनका अवलोकन किया गया तो उनमें पूर्ण सम्बद्धता दीखी। प्राचीन असीरियाई और रोमन नगरों के अवशेषों के चित्रों को देखने से प्राचीन यातायात की व्यवस्था का अनुमान लगाना संभव हुआ। टाइग्रिस और युफ्रेटिस नदियों के मध्य के सभी प्राचीन नगरों के टीलों को समतल कर दिया गया है, परन्तु आकाश से लिये गये चित्रों में उन्हें पहचानना संभव हुआ।

सन् १९४७ ई० में ब्रेडफोर्ड महोदय ने एट्रुस्काई (Etruscan) स्थलों की गणना की और रूस से पुरातत्त्वज्ञों—टॉल्सटॉफ तथा ओरलॉफ ने मध्य-एशिया के प्रागैतिहासिक और आद्यैतिहासिक स्थलों का पता लगाया। १९४९ ई० में बारा-डेज (Baradez) ने अल्जीरिया में उल्लेखनीय काम किया। १९५० ई० में क्रॉफोर्ड महोदय ने रोडेशिया में वेदिका-कृषि सम्बन्धी महत्वपूर्ण छायांकन किया और विलियम्स ने स्याम में। आकाश से चित्र लेने की विधि के माध्यम से अनेक

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

उल्लेखनीय सफलताएँ उपलब्ध हुईं जिनमें कुछेक का ऊपर उल्लेख किया गया।

आकाशीय छायांकन की विधि द्वारा उपलब्ध परिणाम तीन प्रकार के स्थलों का संकेत करते हैं—भूमि के उभार के रूप में विद्यमान प्राचीन स्थल, अतीत के भू-उत्खनन और कृषि के लिए समतल-कृत भूमि के नीचे विद्यमान प्राचीन स्थल। अतीत में निर्मित प्राचीर, तटबंध, और आबादी के टीलों पर जब उदीयमान अथवा अस्ताचलगामी सूर्य की किरणें पड़ती हैं तो उनकी छाया दूर-दूर तक फैल जाती है। इस प्रकार की छाया को पर्यवेक्षक द्वारा देखना कोई कठिन कार्य नहीं है। जिन स्थलों के आकाश से चित्र लिये गये उनमें अनेक पूर्वज्ञात थे, परन्तु जब उनके चित्र आकाश से लिये गये तो कई नई बातों का पता चला। इसका एक ज्वलन्त उदाहरण है वर्थिग के निकट का एक पहाड़ी किला। जब इसका आकाश से चित्र लिया गया तो किले के प्राचीर के अन्दर एक वृत्त देखा गया। खोदने पर ज्ञात हुआ कि यह नवाश्मकालीन बस्ती का प्राचीर था। इस सूचना के कारण इस प्रकार के अन्य किलों का पुनर्निरीक्षण करना आवश्यक हो गया। भूमि के जिन उत्सर्पों को पर्यवेक्षक प्रायः नहीं देख पाता, उनको हल्के प्रकाश में लिए गये चित्रों में देखना संभव होता है।

जिन प्राचीन टीलों को काटकर समतल खेत का रूप प्रदान कर दिया गया हो उनको भी चित्र में देखना संभव होता है। यही बात अतीत की नहरों और खाइयों पर लागू होती है। इस विषय में कृषिफल संकेत, आकाश से लिये गये चित्रों की सहायता करते हैं। मनुष्य की आबादी के फलस्वरूप भूमि के रासायनिक तत्वों में परिवर्तन होता है, फलतः पेड़-पौधों और फसल के विकास पर उसका प्रभाव पड़ता है। पौधों का विकास भूमि की आर्द्रता पर निर्भर करता है, अतः अतीत में जिस भूमि का उत्खनन हुआ होगा उसमें आर्द्रता ग्रहण की शक्ति सामान्य भूमि की अपेक्षा अधिक होगी। अतः वहाँ पर उगे पौधे पुष्ट होंगे और फसल भी अच्छी होगी। इस कारण प्राचीन परिखाओं, गर्तों या कूड़ाखानों और कब्रों के ऊपर की वनस्पतियों में गहरा हरा रंग देखा जायगा। परन्तु दीवार या प्राचीर के ऊपर उगी वनस्पतियों के रंग में पीलापन होगा। फसलों के इस भेद को आकाश से लिये गये चित्रों में आसानी से देखा जा सकता है। इसका एक उदाहरण यहाँ दिया जा रहा है—मेजर एलन ने चार्लबरी के निकट डिचली नामक स्थान का जून तथा मार्च के अंत में आकाशीय चित्रांकन किया। प्रथम चित्र में फसल पक चुके थे। उसमें भवनों के प्लान को स्पष्ट देखा गया, यहाँ तक कि कमरे भी पहचान में आ गये। जिन दीवारों को सामान्य भूमि पर देख पाना बिलकुल संभव नहीं था, उनको चित्र में हल्की रेखाओं से पहचान लिया गया। परिखा और कुओं

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

के स्थान पर गहरा प्रतिबिंब आया। यह परिणाम इतना स्पष्ट था कि उत्खनन द्वारा भी इससे अधिक जानकारी नहीं मिल पाती।

आकाशीय छायाँकन-विधि के परिणाम बड़े विश्वसनीय होते हैं। इसके संकेतों द्वारा उपलब्ध परिणाम इन तीन प्रकार के स्थलों का संकेत करते हैं—भूमि के उभार के रूप में विद्यमान प्राचीन स्थल, अतीत के भू-उत्खनन और कृषि के लिए समतल भूमि के अन्दर विद्यमान प्राचीन स्थल।

भू-भौतिकी (Geo-Physical) विधि—पृथ्वी के धरातल के अन्दर अतीत के अवशेषों की विद्यमानता निश्चित करने में विद्युत-चुम्बकीय निरूपण विधि अत्यन्त उपयोगी पायी गई है। इस विधि का सर्वप्रथम प्रयोग १९४७ ई० में सेनलिस (Senlis) नामक स्थान में भूमि के अन्दर धातु की वस्तुओं का पता लगाने के लिए किया गया। उन्हीं दिनों नोट्र डम द पेरिस (Notre Dame de Paris) में जो प्रयोग किये गये उनसे भूमि के अन्दर के सीसे की शव-पेटिका के सही स्थान का पता लगाना संभव हुआ। इन प्रयोगों ने पुरातत्त्व के लिए इसकी उपयोगिता का संकेत किया। इस विधि में विद्युत-चुम्बकीय निरूपक (El ctro-magnetic detector) यन्त्र का उपयोग किया जाता है। यह यन्त्र जमीन के अन्दर धातु की विद्यमानता का जिस प्रकार संकेत करता है, वैसा ही पकी मिट्टी की वस्तुओं की विद्यमानता पर करता है। इसमें यह भी विशेषता है कि जितनी अधिक पुरानी वस्तु होगी, संकेत उतना ही स्पष्ट होगा। कुछ वर्ष पूर्व इंगलैंड में दो चुम्बक यन्त्रों की सहायता से चार क्षेत्रों का मूल सर्वेक्षण मात्र आठ घंटों में पूरा कर लिया गया था। अतः पुरातत्त्व के लिए यह उपयोगी हुआ, किन्तु इसमें सबसे बड़ी कमी यह है कि यह सतह से पाँच फुट से अधिक गहराई की वस्तुओं को नहीं बतला पाता। जहाँ आबादी काल की परत २४ इंच से अधिक नहीं होगी, वहाँ इससे अधिक सफलता मिलेगी, परन्तु इस देश में ऐसे पुरास्थल नहीं के बराबर होंगे।

आज मनुष्य ने ऐसी विधियों का आविष्कार कर लिया है जिनसे अनावश्यक उत्खनन से बचा जा सके। आठवीं और दूसरी शताब्दी ई० पू० के मध्य की एट्रूस्काई मकबरों का उत्खनन किये बिना चित्र लेने में सफलता प्राप्त की गई। इसके लिए सर्वप्रथम एक विद्युत ड्रिलिंग यन्त्र से जमीन, चट्टान और शवाधान कक्ष के छत को छेदा गया। तदनन्तर तीन इंच की नलिका में संलग्न एक छोटा-सा Minox कैमरे को छिद्र के अन्दर डाल दिया गया। जब दूर नियंत्रण प्रणाली द्वारा कैमरा चालू किया गया तो शवाधान कक्ष के सम्पूर्ण भीतरी भाग का फोटो ले लिया गया। इस विधि द्वारा इस बात का पता लग जाता है कि शवाधान कक्ष रिक्त है अथवा नहीं और वह इतना जीर्ण तो नहीं है कि उसका उत्खनन नहीं

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

किया जा सके। इससे किसी भी बंद कक्ष के भीतरी भाग का सही चित्र लेना संभव है।

समुद्रतल की खोज—समुद्रतलीय पुरातत्त्वान्वेषण की ओर लोगों का ध्यान सन् १६०० ई० में गया, जब कुछ यूनानी नाविकों को, जिन्होंने ट्यूनिशिया के निकट एक टापू में तूफान से बचने के लिए शरण ली थी, एक यूनानी मूर्ति की बाँह मिली। पुनः एक गोताखोर ने उत्तरी अफीकी समुद्रतट के महदिया नामक स्थान पर १३० फुट गहरे समुद्रतल में विद्यमान विशाल तोपों को देखने का दावा किया। इसपर १६०८ से १६१३ ई० तक अन्वेषण किया गया। पुनः १६४६ ई० में इस अन्वेषण-कार्य को चालू किया गया जिसकी परिणति उल्लेखनीय पुरातात्त्विक उपलब्धि में हुई। वहाँ पर यूनानी कला के १३-१३ फुट ऊँचे लगभग ६० भव्य स्तम्भ, काँसे और संगमरमर की अनेक कलापूर्ण मूर्तियाँ, कलश इत्यादि वस्तुएँ पायी गईं जो एक रोमन नौका के जलमग्न हो जाने से समुद्रतल में पहुँच गई थीं (ब्रिग्रॉन, पृ० २८)। इस सफलता के पश्चात् समुद्रतल से पुरातात्त्विक खोज के काम में बड़ी प्रगति हुई।

समुद्रतल में अन्वेषण-कार्य करना बड़ा कष्टसाध्य होता है। एक तो जल के अन्दर अधिक समय तक रहना ही एक समस्या होती हैं; दूसरा कि तल के कीचड़ और दलदल में काम करना पड़ता हैं। आरंभ के दिनों में गोताखोर समुद्र में अल्पकालीन गोता लगाता था, पर विश्वयुद्ध के पश्चात् एक नवीन यन्त्र के सहारे वह समुद्रतल में मात्र बीस मिनट तक काम करने में सफल हुआ। परन्तु इससे भी लाभ हुआ, क्योंकि भूमध्य-सागरीय तटों में जलमग्न यूनानी और रोमन कला की वस्तुओं को खोज निकाला गया। समुद्रतल में अन्वेषण के लिए कई नये साधन विकसित हो गये हैं और हो रहे हैं, जिनके सहारे आज यह कार्य वैसा दुरूह नहीं रह गया है, जैसा कुछ समय पूर्व था। एक नवीन यन्त्र बेथीस्केफ (bathyscaphe) है जिसका प्रयोग गहराई नापने के साथ उन प्राचीन स्थानों को खोज निकालने के लिए किया जाता है जो कभी समुद्रतल में-समा गये। परन्तु इस यन्त्र के समुद्र तल में गतिशील नहीं होने के कारण खोजकार्य में इसकी उपयोगिता सीमित हो जाती है। आज समुद्रतलीय अन्वेषण के लिए विशेष प्रकार की पनडुब्बियाँ बना ली गई हैं जिनमें रह कर लंबे समय तक जल के अन्दर काम करना संभव है। संयुक्त राज्य अमेरिका में निर्मित नवीनतम पनडुब्बी से छ हजार फुट गहरे समुद्रतल में २४ घंटे रहकर पच्चीस मील तक खोज करना संभव हुआ है। समुद्रतल के फोटो के अध्ययन से जलमग्न वस्तुओं के स्वरूप का अंदाजा लगाना काफी आसान होता है।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

उत्खनन खात

उत्खनन के सफल संचालन के लिए उसका सुनियोजित होना अनिवार्य होता है। नियोजन के अभाव में उत्खनन-स्थल अव्यवस्थित गड्ढों और खातों का समूह मात्र बन जायगा जिसका पर्यवेक्षण और रेकर्ड-निर्माण दुष्कर होगा। अतः सोच-समझ कर स्थल की विशेषताओं के अनुरूप कायदे से खात लगाकर उत्खनन करना चाहिए। वस्तुतः उत्खनन-सम्बन्धी सभी प्रकार के कार्य व्यवस्थित होने चाहिए। पहले कार्य की एक रूपरेखा बनाकर तब उसे ढंग से पूरा करना अच्छा होता है। सभी पहलुओं पर विचार किये बिना निरुद्देश्य कार्यारम्भ पुरातत्त्वज्ञ के लिए हितकर नहीं होता।

अब प्रश्न उठता है कि उत्खनन-खात किस आकार-प्रकार के लगाये जायें। वस्तुतः खातों के स्वरूप का निर्धारण उत्खनन-स्थल की विशेषताओं एवं आवश्यकताओं के आधार पर किया जाता है। उत्खनन-खातों के प्रमुख वर्ग दो हैं—वर्ग खात (ग्रिड प्रणाली) तथा प्रमाणार्थ लम्बे खात। परन्तु गोलाकार कब्रों और गुफाओं के उत्खनन के लिए विशेष विधियाँ अपनाई जाती हैं।

खातों के विषय में इस बात पर ध्यान देना आवश्यक होता है कि यदि उनका आकर बहुत छोटा होगा तो उनके अन्दर काम करना कठिन हो जायगा। सेक्शन बनाने में दिक्कत होगी। यदि उनका पार्श्विकी (lateral) विस्तार किया जायगा तो रेकर्ड में गड़बड़ी होगी। अतः इन बातों पर विचार करके ही खातों के आकार-प्रकार के माप निश्चित किये जाते हैं।

कोई स्थल बृहत् उत्खनन के उपयुक्त होगा अथवा नहीं, इस बात का निश्चय करने के उद्देश्य से वर्गाकार या लम्बे परीक्षण खात लगाये जाते हैं। आवश्यकतानुसार परीक्षण-खात एक अथवा एकाधिक हो सकते हैं। यदि हम इसे अंधेरे में तीर चलाना कहें तो अनुपयुक्त नहीं होगा, क्योंकि परीक्षण-खातों का उद्देश्य प्रायः पूर्ण नहीं हो पाता। ऐसा भी होता है कि एक काफी लम्बी-चौड़ी खाई खोदी गई, पर उसमें मिला कुछ भी नहीं—हो सकता है कि उत्खनित खात से सटा हुआ कोई महत्त्वपूर्ण अवशेष अछूना रह जाय। प्राचीन नगर-स्थलों में प्रायः ऐसी सम्भावनाएँ रहती हैं, अतः इन स्थलों में सदा ग्रिड प्रणाली से एक विस्तृत क्षेत्र का उत्खनन करना श्रेयस्कर होता है। यदि परीक्षण-खात से उस स्थान पर वास्तव में प्राचीन अवशेष हैं अथवा नहीं इसका निश्चय करना संभव हो तो प्रयास सफल माना जायगा। इससे वहाँ पर उत्खनन किया जाय अथवा नहीं, इसका निर्णय कर लिया

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

जायगा। परन्तु परीक्षण-खात से यह लाभ अवश्य होगा कि उस स्थान के स्तर-विन्यास की जानकारी हो जायगी।

वर्ग अथवा ग्रिड प्रणाली (Grid Method)—आबादी वाले स्थानों के उत्खनन के लिए ग्रिड प्रणाली को सर्वथा उपयुक्त विधि माना गया है। ह्वीलर महोदय के मत में बृहत् उत्खनन के लिए खातों का नियोजन इन बातों के आधार

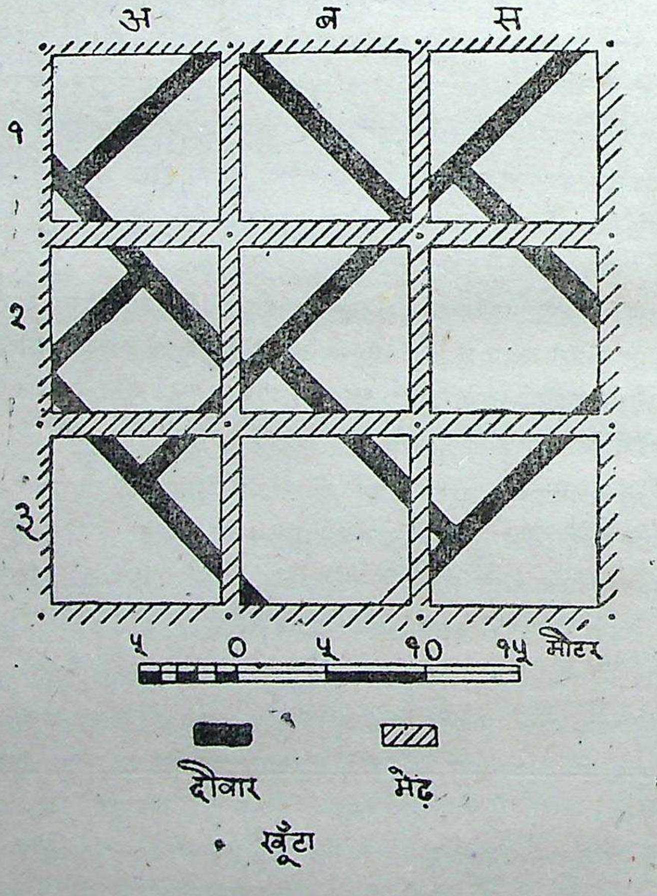

चित्र—१

ग्रिड प्रणाली

पर किया जाना चाहिए—(१) रेकर्ड निर्माण और नियंत्रण के लिए खातों का आसान और स्पष्ट उप-विभाजन किया जा सके; (२) खातों का किसी भी दिशा में मूल डेटम रेखा को नष्ट किये बिना आसानी से विस्तार सम्भव हो, (३) यथा-

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

संभव अधिकतम स्थानों पर पूर्णतः उर्ध्व काट अथवा सेक्सन उस समय तक रखे जा सकें जब तक कि उत्खनन समाप्त न हो जाय; (४) सबों को आसानी से मिला कर क्षेत्रीय उत्खनन का रूप दिया जा सके; (५) खोदी गई मिट्टी को हटाने के लिए सर्वत्र निर्बाध पहुँचना सम्भव हो, और (६) खात इतने खुले हों कि सेक्सन के सूक्ष्म निरीक्षण के लिए पर्याप्त प्रकाश उपलब्ध हो।

अनुभव से पाया गया है कि उपर्युक्त सभी आवश्यकताओं की पूर्ति वर्ग अथवा ग्रिड प्रणाली के उत्खनन में हो जाती है। इस विधि के उत्खनन की यह विशेषता है कि इसमें नियंत्रण और रेकर्ड दोनों स्थानीय हो जाते हैं। पर्यवेक्षक को अपने उत्तरदायित्वों तथा कार्यक्षेत्रों का सही पता रहता है। वह उत्खनित वर्ग के चारों दिशाओं का सेक्सन तैयार करता है, सभी स्तरों को चिह्नित कर तथा संख्यायुक्त लेबुल लगाकर पृथक् करता जाता है और चारों मुख्य सेक्सनों तथा अतिरिक्त सेक्शनों का रेखांकन कर स्तरीय रेकर्ड प्रस्तुत करता है।

ग्रिड प्रणाली में उत्खनन-स्थल को क्रम से वर्गाकार खातों में इस प्रकार विभाजित किया जाता है कि प्रत्येक खात के बीच में एक मेढ़ (baulk) विद्यमान रहे। (चित्र-१)। ये खात रेकर्ड निर्माण और पर्यवेक्षण के लिए इकाइयों का काम करते हैं। कार्य की प्रगति के साथ आवश्यकतानुसार किसी भी दिशा में पूरक खात लगाये जा सकते हैं। जैसा कि ऊपर उल्लेख किया गया है, खात पर्यवेक्षक अपने खात की चारों दिशाओं का पूरा सेक्सन बनाता है और आवश्यकतानुसार अतिरिक्त सेक्शन भी बनाए जाते हैं। उत्खनन के अन्तिम चरण में सम्पूर्ण स्थल के स्तर-विन्यास का परस्पर-सम्बन्ध स्थापित कर और रेकर्ड तैयार करके आवश्यकतानुसार वर्गों के बीच के सभी मेढ़ों को हटा कर, वहाँ के सम्पूर्ण नियोजन की एक-एक परत को लम्बवत् प्रमाण को नष्ट किये बिना अनावृत कर दिया जाता है। वर्गों के बीच के मेढ़ उत्खनन का नियंत्रण करते हैं। मनुष्य के शरीर में नसों का जो महत्त्व है वही उत्खनन-संचालन में मेढ़ का समझना चाहिए। खोदी मिट्टी को हटाने के लिए मार्ग का काम भी इन्हीं से लिया जाता है।

खातों में इतना स्थान होना चाहिए जिससे काम करने के लिए पर्याप्त प्रकाश मिल सके। इसके लिए खातों को जितना गहरा खोदना अपेक्षित हो उतना ही प्रत्येक वर्ग की भुजा की नाप होनी चाहिए। यदि उत्खनक का विचार ६ मीटर गहरा खोदने का हो तो उसे ऐसा वर्गाकार खात लगाना चाहिए जिसकी भुजाएँ ६-६ मीटर की हों। यदि खात १०-१० मीटर भुजाओं का वर्ग होगा तो उसे सुगमतापूर्वक १०

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

मीटर गहरा खोदना संभव होगा। माप के इस अनुमान का आधार यही है कि काम करने के लिए पर्याप्त प्रकाश और स्थान उपलब्ध हो सके। इसी माप के अन्तर्गत मेढ़ की व्यवस्था होनी चाहिए। मेढ़ की चौड़ाई मिट्टी की बनावट पर निर्भर करती है। साधारणतः यह १ मीटर (या ३ फुट चौड़ा बनाया जाता है, अतः ६ मीटर वर्ग का अर्थ हुआ ५ मीटर के वर्ग की खुदाई। १ मीटर मेढ़ का अर्थ हुआ कि वास्तविक खंड अथवा खात (actual cutting) के ऊपरी किनारा को चिह्नित करने वाली डोरी प्रत्येक खूँटे लगे वर्ग के $\frac{1}{2}$ मीटर के घेरे (Perimeter) के भीतर है। खूँटों का उत्खनन में बड़ा महत्त्व होता है, खूँटों से घिरे वर्ग ही रेकर्ड और सर्वेक्षण के आधार होते हैं। अतः पर्यवेक्षक को सदा सतर्कतापूर्वक कार्य करना चाहिए जिससे कहीं भूल न हो जाय। सर्वप्रथम उत्खनन के स्थान एवं क्षेत्र का निर्णय कर सम्पूर्ण क्षेत्र में ग्रिड का विन्यास कर लेना चाहिए। इस बात का सदा ध्यान रखना चाहिए कि रेखाएँ सीधी और वास्तविक रूप में समकोण पर मिलती हों। प्रत्येक कोण पर वर्गों के वास्तविक कोणों का बोध कराने के हेतु खूँटे गाड़े जाते हैं तथा उनके बीच एक डोरी तान दी जाती हैं ताकि वास्तविक किनारा मालूम हो सके। लकड़ी का बना खूँटा १ फुट तीन इंच लम्बा तथा कम से कम $1\frac{1}{2}'' \times 1\frac{1}{2}''$ होना चाहिए। इसका एक किनारा नुकीला होता है ताकि गाड़ने में सुगमता हो. गाड़ते समय खूँटों का कोणात्मक मुख वर्ग की तरफ रक्खा जाता है। प्रत्येक खूँटे के बीच में एक काँटी गाड़ देनी चाहिए। साधरणतया यह काँटी दो इंच लम्बी रहती है तथा गाड़ने पर एक इंच बाहर को निकली रहती है। इसका उपयोग सर्वेक्षण के लिए डोरी अथवा माप-फीता को बाँधने के लिए किया जाता है।

खूँटों से लैस वर्गों का नामकरण एक दिशा में अक्षरों से किया जाता है और दूसरी में संख्या से, जिससे प्रत्येक वर्ग अपने व्यक्तिगत नाम से इस प्रकार जाना जायगा—A_1, A_2, A_3; B_1 B_2 B_3 आदि। वर्गों का उचित नाम उनके सामने वाले नजदीकी खूँटे पर साफ-साफ अंकित कर देना चाहिए। चार वर्गों के मिलन कोण पर गड़े खूँटे के चारों मुख पर चार नाम अंकित किये जायेंगे, जैसे—A_1, A_2, B_1 B_2. विशेषतः जहाँ बृहत् उत्खनन हो उस स्थल पर साफ-साफ और यथासंभव अधिक लेबुल लगाना चाहिए जिससे गलतियों की संभावना न्यूनतम रहे।

जब खात की खुदाई का काम चालू हो जाय और पूरे वर्ग में ह्यूमस हटा दिया जाय, तो पर्यवेक्षक को चाहिए कि वह एक कोने में अपने हाथों से एक नियंत्रण-खात (control pit) खोदे। यह साधारणतया १ मीटर का वर्ग होता है। इसे

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

सामान्य उत्खनन स्तर से कुछ गहरा खोदकर इस बात का पता लगाना चाहिए कि मिट्टी की परत बदल रही है या नहीं। जो स्तर खोदा जा रहा हो उसके लम्बवत् विस्तार का अंदाजा लगाना ही नियंत्रण-खात का उद्देश्य रहता है। इससे किन्हीं दो स्तरों की सामग्रियों के मिश्रित हो जाने की संभावना कम हो जाती है। यदि नियंत्रण खात न खोदा जाय तो खोदे जा रहे स्तर के निम्नभाग की वस्तुओं और नीचे की परत के ऊपरी भाग की वस्तुओं के मिश्रित होने की संभावना बनी रहेगी। इसे नियंत्रण-खात द्वारा ही यथासम्भव दूर किया जाता है, क्योंकि इस खात की खुदाई से स्तर-परिवर्तन का पता लग जाता है। नियंत्रण-खात की खुदाई से परत बदलने का ज्ञान होते ही उसकी खुदाई बन्द करके जितना गहरा उसमें खोदा गया हो, उतना ही पूरे खात को खोदना चाहिए। इस प्रकार लम्बवत् उत्खनन सर्वप्रथम, तदनन्तर क्षैतिज के सिद्धान्त के अनुसार उत्खनन-कार्य चलता है। इस लघु खात का उद्देश्य गलतियों को सीमित करना रहता है, अतः इसकी संख्या एकाधिक होनी चाहिए।

पर्यवेक्षक के लिए यह अनिवार्य होता है कि वह निरन्तर खात के चारों सेक्शनों का तारतम्य स्थापित करता रहे। स्तरों में जहाँ-कहीं भी असम्बद्धता दीखे उसकी पूरी छानबीन की जाय। इसके लिए थोड़ी देर काम भी रुक जाय अथवा सीमित कर दिया तो कोई बात नहीं। वर्ग की प्रत्येक भुजा को उसके कम्पास-बिन्दु के आधार पर नामकरण कर वर्ग के नाम के साथ जोड़ देना चाहिए, जैसे—A3N, जिसका अर्थ होगा वर्ग A3 की उत्तरी भुजा।

पर्यवेक्षक को अपने खात के सभी सेक्शनों का रेखांकन स्वयं करना चाहिए। यह काम ग्राफ कागज में किया जाता है और इसमें एक मीटर के लिए पाँच सेंटीमीटर अथवा दो मीटरों के लिए दस सेंटीमीटर के अनुपात से रेखांकन करने की प्रथा प्रचलित है। उत्खनन में उपलब्ध महत्त्वपूर्ण वस्तुओं का यथावत् स्थिति में रेखांकन होना चाहिए और उनको प्लान में भी डाल देना चाहिए।

कभी-कभी वर्गों को कोणात्मक (diagonally) खोदना अनिवार्य हो जाता है, जैसे—यदि कोणों की सीध में दीवारें मिलें तो उनकी स्तरीय सम्बद्धता के निर्धारण हेतु उनके दोनों ओर समकोण पर सेक्शन छोड़ना आवश्यक होता है। इस स्थिति में कोणात्मक सेक्शनों का खात के समकोण सेक्शनों के साथ तारतम्य स्थापित करना अनिवार्य होता है। आवश्यक होने पर उनका रेखांकन अलग से करना चाहिए।

खुदाई के क्रम में उपलब्ध समस्त वस्तुओं अथवा अवशेषों की रेकर्डिंग स्तर के माध्यम से करनी चाहिए। यह स्तर सामान्यतः वर्ग की नजदीकी भुजा का होता है।

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

त्रिदिशात्मक विधि ही सबसे उपयुक्त है। इससे किसी वस्तु के अनुलम्ब, बाह्य, तथा अधोमुखी स्थितियों का सही ज्ञान हो जाता है। इस विधि की व्याख्या आगे की जायगी।

प्रमाणार्थ (Substantive) लम्बे खात—निश्चित उद्देश्यों को प्रमाणित करने के लिए जो लम्बी खाइयाँ खोदी जाती हैं, जैसे—प्राचीन नगरों के प्राचीरों के निर्माण के कालक्रम-निर्धारण और नगर की आबादी के कालक्रम से उनका सम्बन्ध स्थापित करने के उद्देश्य से ऐसी खाइयाँ लगाना जो प्राचीर को बीच से काटती हुई नगर की ओर जायें, उनको इस श्रेणी में रखा गया है।

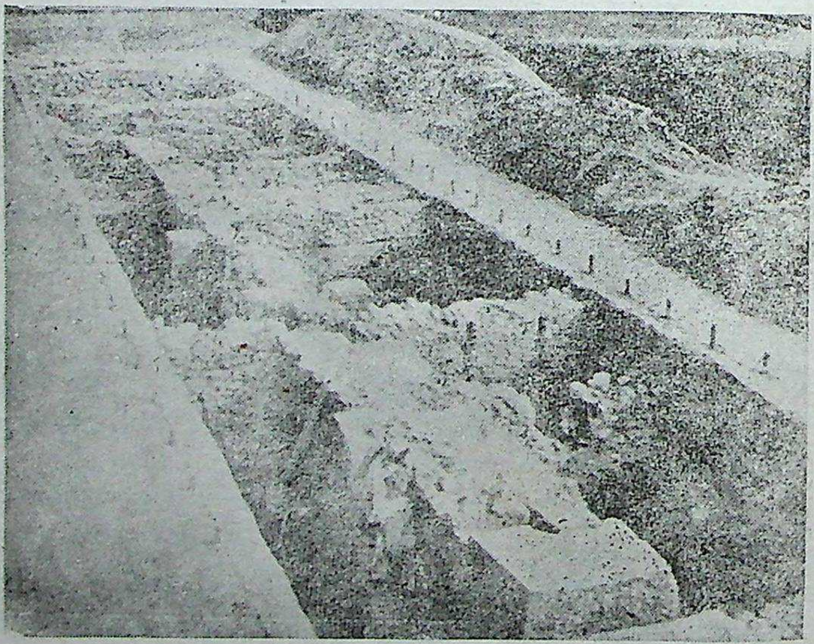

चित्र—२

लम्बा खात लगाने की विधि

इस प्रकार के खात लगाने के अनेक उदाहरण दिये जा सकते हैं। तक्षशिला के सन् १९४४-४५ ई० के उत्खनन में ऐसा ही एक खात लगाकर तीसरे नगर के प्रस्तर-प्राचीर का एक ज्ञात-तिथि राजमहल से सम्बन्ध स्थापित गया था (AI, No. 4)। इससे उस स्थान के तिथिक्रम सम्बन्धी महत्वपूर्ण तथ्यों का पता चला। इसी प्रकार

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

सन् १९४६ ई० में ४५० फुट लम्बे खात लगाकर हड़प्पा के दो श्मशानों का सम्बन्ध ज्ञात किया गया (AI, No. 3)।

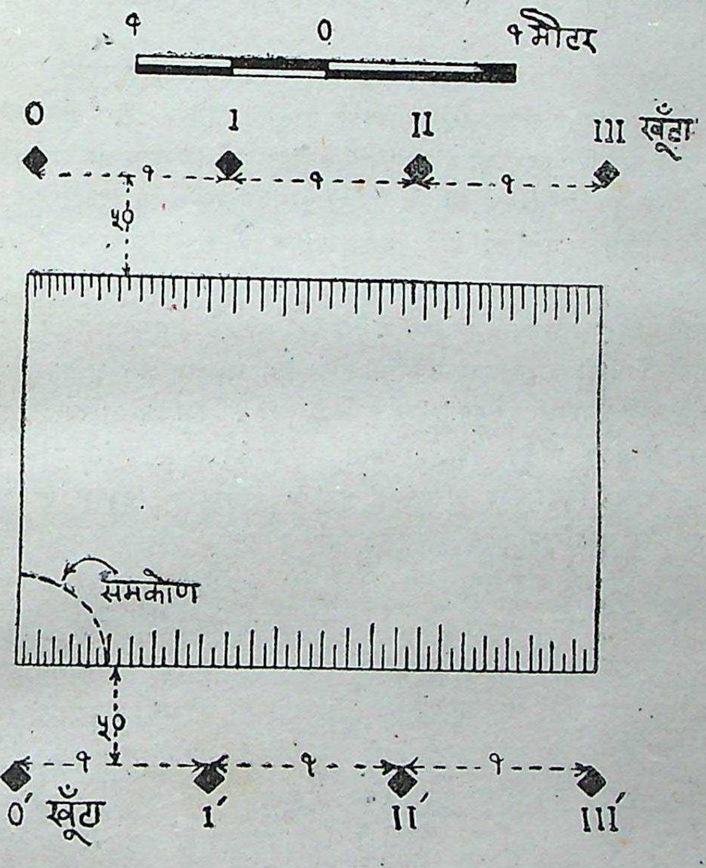

चित्र—३

खात के दोनों ओर खूँटे गाड़ने की विधि

लंबे खात की लम्बाई के दोनों ओर एक-एक मीटर की दूरी पर खूँटों को समानान्तर गाड़ा जाता है (चित्र-२)। खात से इनकी दूरी ५० सें० मी० होती है। खूँटों पर रोमन संख्याएँ लिखी जाती हैं जिसका आरम्भ O (शून्य) से होता है। खात की दूसरी ओर के खूँटों में डैश-युक्त संख्याएँ (O', I', II' इत्यादि) लिखी जाती हैं ताकि दोनों ओर के खूँटों का भेद स्पष्ट रहे। यदि खात को खूँटा O के पीछे की ओर बढ़ाना आवश्यक होगा तो नये खूँटों पर अक्षरों से (जैसे A, B, C) चिह्न लगाये जायेंगे।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

गोलाकार शवाधान-भूमि या महाश्म समाधि के उत्खनन में वृत्तपाद खात लगाये जाते हैं। इस विधि का विस्तृत वर्णन कब्रों के उत्खनन के प्रसंग में किया जायगा।

उत्खनन की लम्बवत् और क्षैतिज पद्धतियों के पारस्परिक सम्बन्धों पर भी थोड़ा विचार करना आवश्यक है। लम्बवत् उत्खनन सीमित क्षेत्र में किया जाता है और इससे उत्खानित स्थल की सांस्कृतिक क्रमबद्धता का निर्धारण सम्भव होता है। क्षैतिज उत्खनन युग-विशेष की सभ्यता का पूरा विवरण प्रस्तुत करता है। इसका एक श्रेष्ठ उदाहरण तक्षशिला के सिरकप नामक टीले के उत्खनन से उपलब्ध पार्थियन युग की सभ्यता का विवरण है। वस्तुतः क्षैतिज तथा लम्बवत् दोनों प्रकार के उत्खनन की अपनी-अपनी विशेषताएँ हैं और बड़े-बड़े नगर-स्थलों के उत्खनन में दोनों विधियों का समन्वय उपयोगी होता है। लम्बवत् और क्षैतिज—दोनों में किसी एक का प्रयोग किसी स्थान पर करने से वहाँ के विभिन्न साभ्यतायिक युगों का पूर्ण विवरण प्रस्तुत नहीं हो पाता। उज्जैन के उत्खनन में मात्र लम्बवत् विधि का आश्रय लिया गया, परिणामतः वहाँ के सांस्कृतिक विकास के अनुक्रम-निर्धारण के अतिरिक्त कोई उपलब्धि नहीं हो पाई। कौशाम्बी तथा अहिच्छत्र के विषय में भी यही बात लागू होती है। ये दोनों विधियाँ एक-दूसरे की सहायक हैं। यदि कोई स्थान केवल एक ही सांस्कृतिक युग का प्रतिनिधित्व करता हो तो वहाँ पर क्षैतिज उत्खनन करना उचित होगा। परन्तु एकाधिक सांस्कृतिक युगों की आबादी वाले स्थल पर लम्बवत् उत्खनन की विधि को अपनाना परमावश्यक होगा। इससे यह होगा कि उत्खननकर्त्ता को उत्खनन-स्थल की सांस्कृतिक क्रमबद्धता का ज्ञान हो जायगा। अब उसका दूसरा काम यह होगा कि विभिन्न सांस्कृतिक युगों के सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक, तकनीकी विकास इत्यादि पहलुओं का विवरण उपलब्ध किया जाय। यदि इन सभी बातों का पता नहीं लगाया जायगा तो मानव-इतिहास में उस स्थान के अनुदान का यथार्थ मूल्यांकन करना सम्भव नहीं होगा जो उत्खनन का प्रमुख उद्देश्य होता है। अतः किसी उपयुक्त स्थान का क्षैतिज उत्खनन करना चाहिए; जब किसी साभ्यतायिक युग के स्तर का क्षैतिज उत्खनन होता है तो उसके नगर की सड़कों, प्रासादों, मन्दिरों, आवासों इत्यादि का पूरा चित्र स्पष्ट हो जाता है. लम्बवत् के साथ क्षैतिज उत्खनन द्वारा ही मोहेंजोदारो की सभ्यता की प्राचीनता के साथ उसके नगर-जीवन, सड़कों, नालियों, विभिन्न प्रकार के भवनों इत्यादि का पता लगा।

प्राचीन नगर का उत्खनन हो अथवा अन्य प्रकार की आबादी के स्थल का उत्खनक का प्रमुख उद्देश्य जन-जीवन के विभिन्न पहलुओं का तथा तत्कालीन

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

समाज की उपलब्धियों का विवरण प्रस्तुत करना होना चाहिए। जैसा कि ऊपर कहा गया, पुरातात्त्विक एवं स्तरीय प्रमाण की सुरक्षात्मकता के दृष्टिकोण से लम्बवत् विधि को महत्त्व प्राप्त हुआ। उत्खनन का यह प्रथम सिद्धान्त है कि सभी प्रकार के पुरातात्त्विक प्रमाणों को भूखनन के क्रम में विनष्ट होने से बचाया जा सके। इस सिद्धान्त पर ही लम्बवत् उत्खनन आधारित है। इस विधि द्वारा किस तरह प्राचीन स्तरित प्रमाणों को उपलब्ध किया जाता है इस पर आगे विचार किया जायगा। यहाँ पर यह बतलाना पर्याप्त है कि पुरातात्त्विक प्रमाणों की सुरक्षा तथा संस्कृति-क्रम निर्णय में इसकी विश्वसनीयता के विचार से लम्बवत् उत्खनन की उपयोगिता स्वीकार की गई है। परन्तु कहीं-कहीं इस विधि को अनावश्यक महत्त्व प्रदान किया गया है। इस सम्बन्ध में उत्खनक को खुले दिमाग से काम लेना चाहिए, क्योंकि दोनों विधियों की अपनी-अपनी सीमाएँ हैं, दोनों में कुछ त्रुटियाँ तथा खूबियाँ हैं। क्षैतिज उत्खनन में सर्वाधिक कठिनाई का सामना अतिक्रमित भवनों के उत्खनन में करनी पड़ती है। अतएव उत्खनक द्वारा आबादी के स्थल की आवश्यकता के अनुरूप अपनी सूझ-बूझ से लम्बवत् एवं क्षैतिज विधियों में किसी एक का अथवा इनका मिश्रित उपयोग सही माना जायगा। भारत सदृश देश के लिए लम्बवत् विधि का सीमित प्रयोग अधिक उपयोगी होगा। अनेक सांस्कृतिक युगों वाले स्थलों के उत्खनन में पहले लम्बवत्, तदनन्तर क्षैतिज के सिद्धान्त को हृदयंगम करके उत्खनक को कार्यारंभ करना चाहिए। परन्तु लम्बवत् तथा क्षैतिज विधियों को किस प्रकार समन्वित किया जाय इसका निर्णय पुरातात्त्विक स्थल की प्रकृति पर निर्भर करेगा। उत्खनक को सदा इस बात का स्मरण रहना चाहिए कि उसका प्रमुख उद्देश्य मनुष्य के अतीत का विवरण प्रस्तुत करने में साधक बनना है, न कि मात्र पुरातात्त्विक सामग्री का संग्रह करना। अतएव उसके प्रयास की सार्थकता इस उद्देश्य की पूर्ति में निहित है। उत्खनन साधन है, साध्य नहीं। संकलिया महोदय ने इस तथ्य को ध्यान में रखकर यह सुझाव दिया है कि क्षैतिज उत्खनन के क्रम में ऐसी व्यवस्था की जाय कि भिन्न-भिन्न आवासों से उपलब्ध मृद्भांड आदि वस्तुओं को अलग-अलग रखा जा सके। इससे तत्कालीन सामाजिक जीवन का सही विवरण प्रस्तुत करना सम्भव होगा। विवरण की पूर्णता हेतु स्थल विशेष का लम्बे समय तक अर्थात् लगभग पाँच वर्षों तक उत्खनन करने का लक्ष्य रखना उत्तम होगा।

❀

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

स्तर-विन्यास

पुरातात्त्विक प्रमाणों का सम्बद्ध कालक्रम-निर्धारण पुरातत्त्वज्ञ का प्रमुख कर्त्तव्य माना गया है। इसके लिए उत्खनित स्थल के स्तर-विन्यास का अध्ययन अनिवार्य होता है। पुरातत्त्वज्ञ के लिए स्तरों का वही महत्त्व है जो लेखक के लिए ग्रंथ के पृष्ठों का, अतः जिस प्रकार पृष्ठों के अस्त-व्यस्त हो जाने से पुस्तक में प्रतिपादित विषय को समझना उलझनपूर्ण हो जायगा, उसी प्रकार दोषपूर्ण स्तरक्रम के आधार पर उत्खनित स्थल के इतिहास का सही विवरण प्रस्तुत करने में कई कठिनाइयों का सामना करना पड़ेगा। अतः पुरातत्त्वज्ञ को चाहिए कि वह उत्खनन के क्रम में विभिन्न परतों को सावधानी के साथ उद्घाटित करे जिससे उस स्थान के इतिहास का यथावत् निर्माण करना संभव हो।

वस्तुतः स्तर शब्द का प्रयोग पहले-पहल भूतत्त्वज्ञों ने पृथ्वी की उन परतों के लिए किया जिनसे इसके बाह्य-भाग का निर्माण हुआ है। परन्तु पुरातत्त्व में हम पृथ्वी के जिन स्तरों का अध्ययन करते हैं, वे भूतात्त्विक दृष्टि से अति नूतन हैं। पुरातात्त्विक स्तर उनको कहा जाता है जिनका निर्माण किसी स्थान पर मनुष्य के बस जाने के फलस्वरूप हुआ। वस्तुतः स्तर-विन्यास एक प्राकृतिक प्रक्रिया है जो पृथ्वी की सतह पर निरन्तर चालू रही है। प्रकृति मुख्यतः जल और वायु के माध्यम से मिट्टी, बालू, कंकड़ इत्यादि का संचय कर स्तर-निर्माण करती रहती है। पृथ्वी पर जब मनुष्य के चरण पड़े तो प्रकृति को स्तर-निर्माण का एक साथी मिल गया। जहाँ-जहाँ मनुष्य का वास हो गया, उन स्थलों पर उसके अस्तित्व के प्रमाण शनैःशनैः संचित होकर स्तरित होने लगे। मनुष्य के आदि आवास—गुफाओं, शैलाश्रयों और प्रागैतिहासिक झोपड़ियों की फर्शों पर संचित उसके अस्तित्व के स्तरित प्रमाण उपलब्ध हैं। कालान्तर में जब बड़े-बड़े ग्राम-नगरों का निर्माण होने लगा तो उन स्थानों पर पूर्वापेक्षा शीघ्रता से मानव-अस्तित्व के प्रमाण स्तरित होने लगे। मनुष्य का यह स्वभाव है कि वह बेकार वस्तुओं को मकान के आस-पास फेंक देता है, कई वस्तुएँ यत्र-तत्र भूल से गिर जाती हैं। ऐसी वस्तुएं भूमि के ऊपर जमती जाती हैं अथवा बरसाती पानी के साथ बहकर गड्ढों में संचित होती रहती हैं। मकान के जीर्ण फर्शों की मरम्मत होती है अथवा उनका पुनर्निर्माण। पुराने मकान गिरते हैं, तो उस स्थान को समतल कर पुनः नये मकान बनाए जाते हैं। परन्तु पूर्वापेक्षा ऊँची सतह पर। यदि दुर्भाग्यवश

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

भूकम्प हो गया, तो काफी संख्या में मकान धराशायी हो गये। कभी-कभी तो ज्वालामुखी की राख ने बड़े-बड़े नगरों को ढंक दिया। पुनः ध्वस्त ग्राम-नगरों के ऊपर नये ग्राम-नगर बसते आये हैं। यदि बाढ़ आ गई तो न केवल मकान गिरे और बहे, मिट्टी की मोटी तह भी जम गई। शत्रु के आक्रमण या महामारी के कारण भी लोग ग्राम-नगर खाली कर देते हैं और यदि लम्बी समयावधि के पश्चात् पुनः उस स्थान को आबाद किया जाता है, तो पुराने मकानों के गिरने से वहाँ की सतह ऊँची हो जाती है जिसके ऊपर नई बस्ती बसती है. इस प्रकार जो ग्राम-नगर जितने प्राचीन होते जायेंगे, उनकी ऊँचाई भी उतनी ही बढ़ती जायगी, अर्थात् एक के ऊपर दूसरा, फिर तीसरा, फिर चौथा—इस प्रकार स्तरों का निर्माण होता जायगा। अतः पुरातात्त्विक प्रमाणों के संचय पृथ्वी के अन्दर स्तरित होते रहे हैं। कभी-कभी प्रतिकूल प्रक्रिया भी चलती रही है—कूड़ा फेंकने के लिए गड्ढा खोदना, नाली, सड़क और नहर बनाने के लिए भूमि की खुदाई ऐसे कार्य हैं जो स्तरित प्रमाणों को नष्ट करते हैं। परन्तु वस्तुतः ये भी नष्ट करने की क्रिया के प्रमाण हैं। अतः अतीत में किये गये ऐसे कार्य पुरातात्त्विक प्रमाण माने जाते हैं और ये भी स्तर की श्रेणी में आते हैं। वस्तुतः पृथ्वी की सतह पर मनुष्य द्वारा किये गये सभी प्रकार के परिवर्तन स्तर माने जाते हैं।

जिस स्थान पर मनुष्य बहुत दिनों तक आबाद रहा हो, वहाँ पर संचित स्तरों की विविधता को पुरातत्त्वज्ञ ही समझ पाता है। खात की सीधी दीवारों का सूक्ष्म निरीक्षण करने पर विभिन्न प्रकार के संचयों के स्तरों की रेखाओं को स्पष्ट देखा जा सकता है। जब भी कोई गड्ढा खोदा जायगा तो उसके स्थायी चिह्न जमीन पर रह जायेंगे। बिना स्थायी चिह्न छोड़े जमीन में किसी प्रकार का विकार उत्पन्न करना प्रायः असम्भव होता है। इन्हीं प्रमाणों के आधार पर उत्खनक अतीत की घटनाओं की व्याख्या करता है। पूर्ववर्ती स्तरों को जब कभी भी उत्तरकाल में किसी कार्य के लिए काटना पड़ा हो, तो उसके चिह्न सेक्शन में दीख पड़ेंगे। अतः स्तरों के विश्लेषण पर ही किसी स्थल का ऐतिहासिक विवरण प्रस्तुत करना सम्भव होता है।

स्तरों की पहचान और उनके पारस्परिक सम्बन्धों के निर्धारण के लिए उत्खनक को पर्याप्त समय देना पड़ता है। इस काम में अनुभवी आँखों और अभ्यस्त हाथों की आवश्यकता होती है। इसमें उत्खनक को विवेक एवं धैर्य से काम लेना चाहिए। साधारणतः मिट्टी के रंग और संरचना के आधार पर स्तरों का पार्थक्य किया जाता है। परन्तु यह कार्य व्यवहार में आसान नहीं है और कभी-कभी अनुभवी उत्खनक भी ऊष्ण देशों की प्रखर सूर्य-रश्मियों में काम करते समय स्तर-पार्थक्य करने में धोखा खा जाते हैं। इस कार्य की गुरुता एवं जटिलता को ध्यान में रखकर इसमें कदापि

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

शीघ्रता नहीं करनी चाहिए। उत्खनक के लिए यही उचित होगा कि वह बार-बार सेक्शन का सूक्ष्म अवलोकन करे—कभी निकट से तो कभी दूर से, कभी छाये में तो कभी प्रकाश में, कभी सुबह-शाम तो कभी दोपहर में। मिट्टी के रंग और उसकी बनावट के सूक्ष्म भेदों को स्पष्ट करने के लिए सेक्शन को पानी के छिड़काव से गीला करके उसे सावधानी के साथ छूरे से खुरचना भी कभी-कभी काफी लाभदायक होता है। सेक्शन की अपनी भाषा होती है जिसे समझकर उसका अनुवाद प्रस्तुत करना पुरातत्त्वज्ञ का ही काम है। अतः उसे इस गुरु कर्त्तव्य का समुचित निर्वाह करना चाहिए। ह्वीलर महोदय के मत में महत्त्वपूर्ण और जटिल सेक्शनों का कई दिनों तक निरीक्षण करके अंतिम निर्णय लेना श्रेयस्कर होता है। स्तर-पार्थक्य के सम्बन्ध में एक महत्त्वपूर्ण बात यह है कि संचय के विभिन्न स्तरों की रेखाओं और मनुष्य के आबाद रहने से संचित काल-विशेष के संकेतक स्तर में अन्तर होता है।

प्रश्न उठता है कि पुरातात्त्विक स्तरों की मोटाई के आधार पर उनके निर्माण की अवधि का अंदाजा लगाना संभव है अथवा नहीं। स्तरों की मोटाई वस्तुतः समयावधि से निर्धारित नहीं होती, क्योंकि कहीं तो स्वल्प काल में ही मिट्टी की मोटी परत संचित हो जाती है, तो कहीं लम्बे समय में भी पतला-सा स्तर बन पाता है। स्तर की मिट्टी की संरचना और उसमें उपलब्ध अवशेषों के आधार पर ही यह कहना संभव होता है कि उस स्तर के निर्माण में कितना समय लगा।

विभिन्न स्तरों के पार्थक्य का कार्य पूर्ण हो जाने पर उत्खनक को यह निर्धारित करना आवश्यक होता है कि उस स्थल पर एक ही सांस्कृतिक युग का अस्तित्व था अथवा एकाधिक का। यदि वहाँ पर एकाधिक संस्कृतियाँ पनपी हों तो उनकी क्रमबद्धता एवं सम्बद्धता का निर्धारण अनिवार्य हो जाता है। इस धारणा को प्रश्रय नहीं देना चाहिए कि किसी स्थल पर सांस्कृतिक कालों का अविच्छिन्न क्रम रहा होगा। कई स्थल ऐसे मिलेंगे जहां एक के पश्चात् दूसरे सांस्कृतिक काल के आविर्भाव के मध्य समय के विराम के प्रमाण उपलब्ध होंगे, जैसे हस्तिनापुर में। इस पुरास्थल के संस्कृति-काल II, III, IV और V के मध्य समय के विराम के स्पष्ट स्तरीय साक्ष्य मिले। चौथे और पांचवें कालों के बीच लगभग आठ शताब्दियों का लंबा विराम था। कभी-कभी अनुभव के अभाव में इस प्रकार के विरामों को पहचानने में भूल होने की संभावना रहती है। उदाहरण के लिए सन् १९०२-९ में किये गये फिलस्तीन (इजरायल) के गेज़र नामक स्थान की खुदाई का उल्लेख किया जा सकता है। इस स्थल के उत्खनक की आँखें तिथिक्रम-निर्धारण में पाँच सौ वर्षों के सुदीर्घ विराम को न देख पाईं। पश्चात् अन्यत्र किये गये उत्खननों से उपलब्ध प्रमाणों के आधार पर

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

इस भूल का सुधार हुआ। इस प्रकार के समयान्तरों की समस्या के समाधान के लिए दो संस्कृतियों के सन्धि-स्थल के स्तरों की मिट्टी की संरचना का सूक्ष्म निरीक्षण अत्यावश्यक होता है। यदि दो संस्कृतियों के मध्य विराम रहा होगा तो दोनों के संधि-स्तरों के मध्य सामान्यतः जीर्ण ठींकरे, वायु-संचित रज अथवा जल द्वारा बहाकर लाये बालू का जमाव मिलेगा। अतः मिट्टी ही यह बतलाने में समर्थ होती है कि एक के अनन्तर दूसरी संस्कृति का आविर्भाव तत्काल हुआ अथवा नहीं, और यदि दोनों के मध्य विराम रहा, तो कितने वर्षों का ? इसके लिए दो विधियाँ अपनाई जाती हैं—पहली है, मिट्टी का विश्लेषण और दूसरी, स्तरों का सूक्ष्म निरीक्षण।

ह्वीलर महोदय ने अपनी पुस्तक 'अर्क्योलॉजी फ्रोम दि अर्थ' में उपर्युक्त विधियों को समझाने के लिए कई उदाहरण दिये हैं। पहला उदाहरण है डोर्सेट नामक ब्रिटिश स्थल का, जहाँ पूर्व कांस्य-युग और लौह-युग के स्तरों के मध्य चार-पाँच इंच मोटी गाढ़े भूरे रंग की परत पायी गई। जब इस काली परत का विश्लेषण किया गया तो यह तथ्य सामने आया कि कांस्य और लौह युगों के मध्य-काल में यह स्थान घने जंगलों से भर गया था। इसका यह अर्थ हुआ कि भूरी मिट्टी के स्तर के निर्माण में सहस्र वर्षों का या इससे अधिक समय लगा। दूसरा उदाहरण ब्रह्मगिरि का है जहाँ दूसरी विधि का आश्रय लिया गया। जब सन् १९४७ ई० में इस स्थान का उत्खनन हुआ तो ह्वीलर महोदय को तीन संस्कृतियों—आन्ध्र, महाश्म और नवाश्म के अवशेष मिले। नवाश्म संस्कृति तो सबसे नीचे के स्तर में थी और आन्ध्र सबसे ऊपर। यहाँ पर मुख्य समस्या महाश्म तथा नवाश्म संस्कृतियों का आन्ध्र-संस्कृति के साथ सम्बन्ध-निर्धारण की थी।

आन्ध्र संस्कृति के सम्बन्ध में यह पूर्वज्ञात था कि लगभग प्रथम शताब्दी ई० सन् में इसका प्रादुर्भाव हुआ। इस समस्या के समाधान के लिए सर्वप्रथम इस बात का निश्चय करना अनिवार्य था कि उस स्थल पर तीनों संस्कृतियों का अविराम क्रमिक विकास हुआ अथवा सविराम। सेक्शन के निरीक्षण से विराम के संकेतक स्तर का कोई चिह्न नहीं दीखा। मिट्टी के विश्लेषण के लिए लेबोरेटरी उपलब्ध नहीं थी। इस स्थिति में संयोगवश ही समस्या के समाधान का रास्ता निकल आया। हुआ यह कि महाश्म संस्कृति के निम्नतम स्तर में नवाश्म-युगीन शव-पात्र पाया गया। इसका यह अर्थ हुआ कि यह स्तर दोनों संस्कृतियों का संधि-स्थल था—दोनों संस्कृतियाँ कुछ समय तक साथ-साथ पनपती रहीं। उपलब्ध ठींकरों की सूची से इसके भी प्रमाण मिले कि महाश्म और आन्ध्र संस्कृतियों का सम्बन्ध भी इसी प्रकार का रहा। इन तीनों संस्कृतियों के सम्बन्धों की समस्या का समाधान अंतिम रूप से करने के लिए सेक्शन का यथार्थतः विश्लेषण किया गया।

ह्वीलर महोदय द्वारा प्रयुक्त सेक्शन के यथार्थतः विश्लेषण का कार्य इस प्रकार किया गया:—मकान या गर्त के अवशेष-रहित एक बड़े खात के विभिन्न स्तरों

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

में जो ठींकरे मिलते गए उनकी एक सूची बनाई गई। उस सूची में यह लिखा गया कि कौन ठींकरा किस स्तर में मिला और वह स्तर किस संस्कृति का था। उत्खनन में उपलब्ध ठींकरों के अध्ययन से यह बिल्कुल स्पष्ट हो गया कि नवाश्म, महाश्म तथा आन्ध्र संस्कृतियों के लोगों ने मृद्भांडों के निर्माण में अलग-अलग विधियों एवं तकनीकों का प्रयोग किया था। इससे उनके वर्गीकरण में किसी प्रकार की दिक्कत नहीं हुई। नवाश्म संस्कृति के कुम्हार हाथों से मोटे-मोटे मृद्भांड़ों का निर्माण करते थे। महाश्म सभ्यता के युग में कृष्ण-लोहित रंग के मार्जित और सुन्दर मृद्भांड़ बनने लगे। इनके निर्माण में अधिक समय भी लगता था। आन्ध्र-संस्कृति के काल में मृद्भांड़-निर्माण की प्रक्रिया पूर्वापेक्षा अधिक यांत्रिक हो गई। अब तीव्रगति से घूमने वाले चाक का प्रयोग होने लगा और पात्र चमकीले तथा विभिन्न आकृतियों से सज्जित बनने लगे। मृद्भांड़ों की जो सूची तैयार की गई थी उससे दो सांस्कृतिक अतिक्रमण के प्रमाण उपलब्ध हुए—एक तो नवाश्म और महाश्म संस्कृतियों के संधिस्थल पर और दूसरा, महाश्म तथा आन्ध्र संस्कृतियों की मिलन-स्थली पर। इन अतिक्रमणों ने यही प्रमाणित किया कि उत्खनित स्थल पर अविराम क्रम से संस्कृतियों का प्रादुर्भाव हुआ; अर्थात् नूतन संस्कृति के प्रादुर्भाव के फलस्वरूप पूर्व संस्कृति का तत्काल विनाश नहीं हुआ। परन्तु, इस प्रकार के विरामों के स्तरीय प्रमाणों पर विचार करते समय इस बात का ध्यान अवश्य रखना चाहिए कि पृथ्वी की सतह के अन्दर की मिट्टी कई कारणों से न्यूनाधिक रूप में ऊपर-नीचे होती रहती है। बिल बनाने वाले जीव-जन्तुओं, पेड़-पौधों की जड़ों और जलवायु के प्रभाव से प्राचीन अवशेष यदा-कदा मूल स्तर से हटकर दूसरे में चले जाते हैं, जिससे उलझनें पैदा हो जाया करती हैं। परन्तु जब एक स्तर में पायी जाने वाली वस्तुएँ पर्याप्त संख्या में दूसरे स्तर में उपलब्ध हों तो इसका रहस्य कुछ और होगा। इसे संयोग मात्र मान कर टाला नहीं जायगा। ऐसी स्थिति में इस विशेषता को निश्चित रूप से संस्कृतियों के अविराम विकास-क्रम का प्रमाण मानना पड़ेगा।

स्तर-विन्यास-विश्लेषण का एक अन्य उदाहरण चिरांद का है।[1] इस स्थान के उत्खनन में कुल अट्ठारह स्तर मिले। ये सभी स्तर एक ही काल के थे अथवा विभिन्न, इस प्रश्न को हल करने के लिए प्रत्येक स्तर में उपलब्ध अवशेषों का अध्ययन किया गया। निम्नतम स्तर में परिष्कृत मृत्पात्र मिले जिन पर पकाने के पश्चात् गेरू रंग से चित्रकारी की गई थी। इस स्तर में मार्जित सेल्ट तथा

---

१. चिरांद के स्तर-विन्यास का यह विवरण इस पुरास्थल के आरंभिक उत्खनकों द्वारा प्रस्तुत किया गया है।

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

क्षुद्राश्म मिले। यह स्थिति स्तर १२ तक अपरिवर्तित रही। ग्यारहवें स्तर से गेरू रंग के चित्रित मृद्भांड का मिलना बंद हो गया। अब चित्रित कृष्ण-लोहित मृड्भांड मिलने लगे, जिनके साथ ताँबे की वस्तुएँ भी मिलीं। यह स्थिति स्तर ९ तक बनी रही। स्तर ८ में सर्वप्रथम लोहे की बनी वस्तुएँ मिलीं और चित्रित कृष्ण-लोहित मृद्भांड का मिलना बंद हो गया, स्तर ७-६ में उत्तरी कृष्ण-मार्जित मृद्भांड के टुकड़े मिले। स्तर ५—३ में कुषाण-कालीन सिक्के और मृद्भांड मिले। स्तर २ में पाल काल की मूर्तियाँ मिलीं तथा गाँगेयदेव का भी सिक्का मिला।

सभी स्तरों में उपलब्ध वस्तुओं के अध्ययन के अनन्तर सम्पूर्ण संचय या जमाव को निम्न क्रमिक सांस्कृतिक युगों में विभाजित किया गया :—

स्तर	१८-१२	—	काल-I, नवाश्म।
स्तर	११-९	—	काल-II—अ, ताम्राश्म—कृष्ण लोहित मृद्भांड, ताम्रोपरण और क्षुद्राश्म से सम्बद्ध।
स्तर	८	—	काल-II-ब, लौह युग.—कृष्ण-लोहित मृद्भांड और लौह-वस्तुओं से सम्बद्ध।
स्तर	७-६	—	काल-III—उत्तरी कृष्ण-मार्जित मृद्भांड संस्कृति।
स्तर	५-३	—	काल-IV—कुषाण काल।
स्तर	२.	—	काल-V—पाल काल
स्तर	१.	—	सतही स्तर (Humus)—

सभी स्तरों को इन पाँच कालों में विभाजित करने के पश्चात् इस समस्या का समाधान करना अनिवार्य हो गया कि चिरांद की ये पाँच सभ्यताएँ अविराम गति से वहाँ पर स्थापित हुईं अथवा उनके मध्य समय का विराम रहा। पहले, दूसरे और तीसरे कालों के मध्य विराम का कोई चिह्न नहीं मिला। काल-I के मृद्भांड काल-II में तथा काल-II के, काल-III में मिले। अतः इन तीनों कालों की सभ्यताओं का प्रादुर्भाव अविराम क्रम में हुआ। काल-III की सभ्यता का अंत भयंकर अग्निकांड से होने के प्रमाण इसके ऊपरी स्तर में मिले। काल-IV में काल-III की कोई वस्तु नहीं मिली, अतः इन दोनों के मध्य विराम रहा होगा। काल-IV और काल-V के मध्य पर्याप्त लंबे विराम के संकेत मिले। काल-IV के ऊपरी स्तर के बर्तन जीर्ण हैं और दोनों कालों के अवशेषों में भी काफी अन्तर है।

स्तरीय प्रमाण तीन वर्गों में रखे जा सकते हैं—(१) समकालीन स्तर, (२) सविराम क्रम से संचित स्तर और (३) अविराम संचित स्तर। सेक्शन की समुचित व्याख्या करने के लिए स्तरीय प्रमाण सम्बन्धी इन तथ्यों को समझना अत्यावश्यक होता है। इन्हें पुस्तकीय ज्ञान से समझना सम्भव नहीं, क्योंकि ये तो

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

अभ्यास और अनुभव से जानने की बातें हैं। अतः ह्वीलर महोदय ने पुरातत्त्व के विद्यार्थियों को उचित सलाह दी है कि वे सेक्शन के विश्लेषण में कदापि शीघ्रता न करें। इस विषय में यदि सहकर्मियों से विचार-विमर्श कर लिया जाय तो अत्युत्तम है।

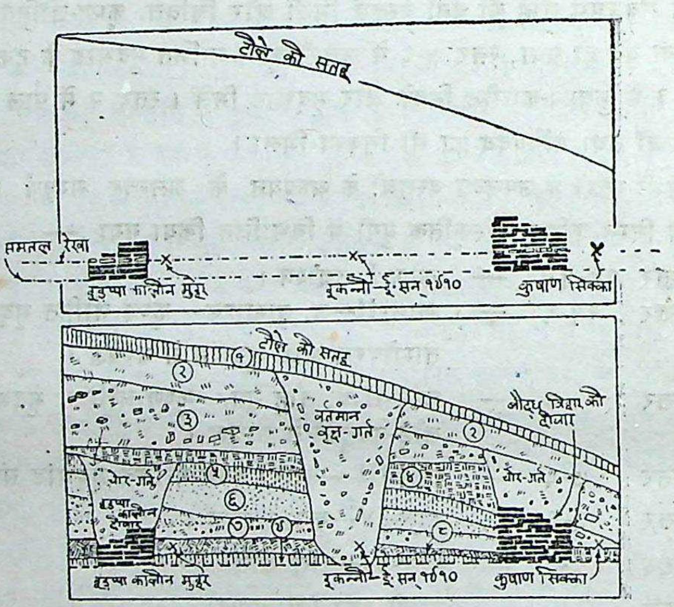

गलत और सही स्तर विन्यास के नमूने

चित्र—४

जिस समय उत्खनन का समारम्भ हो जाता है उसी समय से प्लान और सेक्शन के रूप में उसका लेखा-जोखा (रेकर्ड) भी तैयार होने लगता है। जब कोई वस्तु मिलती है तो त्रिदिशात्मक विधि से उसका रेकर्ड रखा जाता है। नवीन विधि के विकासपूर्व मिश्र और मेसोपोटामिया की नदी-घाटियों में विकसित बेंच-लेवल (Bench-level) नामक रेकर्ड निर्माण की विधि बहुत दिनों तक प्रचलित रही। इस विधि के अनुसार उत्खनन में उपलब्ध प्राचीन अवशेषों का एक निश्चित बेंच-लेवल के संदर्भ में रेकर्ड रखा जाता था। मोहेंजोदारो के १९२२-३१ ई० सन् के उत्खनन में इस विधि के आधार पर रेकर्ड तैयार किए गए थे, जिससे एक स्थान पर तो बेंच-लेवल की ऊँचाई समुद्रतल से १७८·७ फुट हो गई और दूसरी जगह १८०.९ फुट। इस विधि का आधार यह मान्यता थी कि किसी एक डेटम रेखा के ऊपर या नीचे समान सतह पर उपलब्ध वस्तुएँ समकालीन होंगी। परन्तु यह मान्यता सही नहीं है। बेंच लेवल विधि सर्वथा अवैज्ञानिक एवं अविश्वसनीय है; क्योंकि इसमें स्थानीय विशेषताओं पर ध्यान न देकर समुद्रतल के संदर्भ में डेटम

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

रेखा निर्धारित होती है। हड़प्पा संस्कृति का रेकर्ड वहाँ से तीन सौ मील दूर समुद्रतल के संदर्भ में तैयार किया गया। दूसरी बात यह कि समान सतह में भिन्न-भिन्न काल की वस्तुओं की विद्यमानता सम्भव है। मान लीजिए कि १९२० ई० में पटने के कुम्रहार ग्राम में किसी ने वहाँ के मौर्यकालीन स्तर की गहराई तक एक गड्ढा खोदा। संयोगवश उस गड्ढे में एक तत्कालीन सिक्का गिर गया। फिर गड्ढा मिट्टी से भर दिया गया तो क्या उस स्थल के उत्खनन से वहाँ मौर्यकालीन वस्तुओं के साथ अंग्रेजी राज का सिक्का नहीं मिलेगा? यदि गहराई के आधार पर काल निर्धारित हो तो क्या उपर्युक्त अंग्रेजी राज के सिक्के का समय मौर्यकाल होगा? इस कारण गहराई को महत्त्व प्रदान करने वाली प्रणाली का आज की उत्खनन विधि में कोई स्थान नहीं।

प्राच्य देशों के पुरातात्त्विक स्थलों के उत्खनन के लिए तो बेंच लेवल विधि सर्वथा अनुपयुक्त है, क्योंकि पूरब के प्राचीन नगर अपने अस्तित्व के आदिकाल के अतिरिक्त कभी भी समतल पर बसे हुए नहीं मिलते। ऐसा भी कम ही हुआ कि कोई नगर पूर्णतया ध्वस्त हो गया और उसका पुनर्निर्माण सम सतह पर उसी समय किया गया हो। साधारणतः यही होता आया है कि जब कोई मकान गिर जाता है अथवा जब गृहस्वामी की इच्छा होती है, तब उसका पुनः संस्थापन या नवनिर्माण होता है। तात्पर्य यह कि किसी भी नगर में विध्वंस और निर्माण का कार्य निरन्तर चलता रहता है। इस प्रक्रिया से होता यह है कि कुछ मकानों की सतहें तो ऊँची हो जाती हैं और उन्हीं के पड़ोस के दूसरे मकानों की सतह जहाँ की तहाँ रह जाती है। धीरे-धीरे नगर-स्थल टीले का रूप धारण करता जाता है। मध्य भाग के ऊँचा हो जाने से ढलान पर बने मकान या बीच के ऊँचे भाग—दोनों समकालीन होंगे। हो सकता है दो भिन्न-भिन्न स्थानों पर पाये गये द्वार के अवशेषों या ठीकरों की सतहों में १०-१२ फुट का अन्तर होने पर भी दोनों समकालीन हों। इस प्रकार की बातों का किसी भी स्थल की वैज्ञानिक व्याख्या के लिए बड़ा महत्त्व होता है; किन्तु बेंच-लेवल विधि में इन पर ध्यान नहीं दिया जाता, जिससे या तो भिन्न-भिन्न काल की वस्तुएँ मिश्रित हो जाती हैं अथवा समकालीन वस्तुएँ अलग-अलग, फलतः उलझन बढ़ती है।

अतः उपर्युक्त कारणों से सेक्शन का वैज्ञानिक रेकर्ड तैयार करना उत्खनक का प्रमुख कर्त्तव्य माना गया है। ज्यों-ज्यों उत्खनन में प्रगति होती जाती है, स्तरों के सूक्ष्म-निरीक्षण, पृथक्करण और उनपर लेबुल लगाने के काम किये जाते हैं। प्रत्येक उपलब्ध वस्तु का रेकर्ड तैयार होने लगता है। वस्तुओं के तथा स्तरों के रेकर्ड को अभिन्न मानना चाहिए, क्योंकि वस्तुएँ स्तरों में उपलब्ध होती हैं। अतः खात पर्यवेक्षक को चाहिए कि वह उत्खनन प्रारम्भ करने के समय से ही सतर्क रहे ताकि

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

स्तर-सम्बन्धी उसकी धारणाओं में किसी प्रकार की अस्पष्टता न होने पाय। जहाँ कोई नया स्तर दीखे, वहाँ चिह्न लगाकर एक लेबुल लगाना चाहिए। लेबुल पर स्तर-संख्या एक वृत्त के अंदर लिखकर कील के सहारे दीवार पर संलग्न कर देना चाहिए। यदि उस स्तर के रंग, संरचना आदि के आधार पर उसका कोई नाम रख दिया जाय, तो और भी अच्छा, क्योंकि इससे यह लाभ होगा कि यदि कहीं भूल से दो स्तरों की संख्या में समानता हो गई, तो उनके नामों से इसका निराकरण हो जायगा। दूसरी बात यह कि इससे उत्खनक के मस्तिष्क में सेक्शन का स्पष्ट एवं चित्रात्मक विवरण प्रस्तुत होता जायगा।

स्तरों की गणना ऊपर से नीचे की ओर होती है, अतः लेबुल भी—१,२,३,४ के क्रम से ऊपर से लगाए जाते हैं। लेबुल लगाना बड़ा उपयोगी होता है। इससे तीन प्रमुख लाभ होते हैं—(१) खात पर्यवेक्षक को स्तर-सम्बन्धी स्पष्ट और निश्चित विचारों के विकास में सुविधा होती है, (२) लेबुल के तात्पर्य को भूमि और रेखाचित्र में स्पष्ट देख पाना संभव होता है; (३) उत्खनन-निर्देशक अथवा स्थानापन्न पर्यवेक्षक कार्य की प्रगति को तत्काल समझ जायगा। यदि स्तरों के पृथक्करण में कहीं भूल हो गई हो तो उसका सुधार आसान होगा। यदि ऐसा हो जाय तो सम्बद्ध स्तरों पर पुनः लेबुल लगाना और सुधारे गये स्तरों का फिर से रेकर्ड तैयार करना आवश्यक होगा। स्तर-पार्थक्य के कार्य में इस बात का सदा ध्यान रखना चाहिए कि किन्हीं दो या तीन स्तरों को एक न मान लिया जाय, क्योंकि इससे बड़ी उलझन होती है। नौसिखिये उत्खनक प्रायः स्तर-पार्थक्य सम्बन्धी भूलें किया करते हैं, अतः उन्हें चाहिए कि ज्योंही स्तर-परिवर्तन के चिह्न दीखें, वे सेक्शन को रेखांकित कर दें, वे यथासंभव स्तरों को पृथक करते हुए आगे बढ़ें। यदि सेक्शन में एक स्तर को दो बना दिया जायगा तो उससे कोई हानि नहीं होगी, परन्तु यदि दो स्तरों को एक मान लिया जायगा तो उलझन का सामना करना होगा। भिन्न-भिन्न स्तरों में उपलब्ध वस्तुओं को अलग-अलग रखना अनिवार्य होता है, अतः यदि एक स्तर की वस्तुओं के दो-तीन भाग करके रख दिये गये हों, तो उन सबों को मिला देना बिल्कुल आसान काम होगा। परन्तु उसके विपरीत यदि दो-तीन स्तरों की वस्तुओं को मिला कर रखा जायगा तो उन्हें पृथक करने में बड़ी दिक्कत होगी।

स्तरों के संख्याक्रम का प्रारम्भ खात के ऊपरी भाग से किया जाता है, अतः यह क्रम संचय के कालक्रम की विपरीत दिशा में हो जाता है। अर्थात् स्तर-१ किसी स्थल का नवीनतम संचय होगा. इस प्रकार यदि किसी स्थल पर १२ स्तरों का उत्खनन होगा, तो वहाँ का स्तर—१ सर्वाधिक अर्वाचीन संचय होगा और स्तर-१२, प्राचीनतम. परन्तु जहाँ तक सांस्कृतिक युगों के कालक्रम का प्रश्न है, प्राचीनतम

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

संस्कृति को सदा संस्कृति-१ नाम दिया जायगा, तदनन्तर नीचे से ऊपर की ओर क्रमशः २,३,४—इस प्रकार नाम पड़ेंगे। परन्तु मेसोपोटामिया और ईरान के अनेक स्थलों के उत्खानन में इस विधि को नहीं अपनाया गया था। वहाँ स्तर और आबादी के काल—दोनों के लिए समान संख्याक्रम का प्रयोग हुआ, जिससे सांस्कृतिक युग-क्रम विपरीत संख्याओं में लिखे गये। उदाहरण के लिए गियान (Giyan) और गाव्रा (Gawra) को लें। गियान-V और गाव्रा-X का अर्थ होगा पूर्ववर्ती युग तथा गियान-I और गाव्रा-I से परवर्ती काल की संस्कृति का बोध होगा। दूसरी ओर सियाल्क, नाइन्वे, हिसार, सूसा इत्यादि स्थानों में, जहाँ वैज्ञानिक तरीका अपनाया गया, ऐसी बात नहीं हुई। वैज्ञानिकता तो इसी में है कि संस्कृतियों अथवा सांस्कृतिक युगों के संख्याक्रम का आरम्भ आदिकाल से किया जाय। इसमें कठिनाई केवल वहाँ होगी जहाँ पर पृथ्वी की उस परत तक उत्खानन नहीं हो पाय जहाँ मानव-उपजीविका के चिह्न मिलने बन्द हो जाते हैं। ऐसी स्थिति चन्हुदारो में हुई थी। परन्तु, यह तो भूगर्भीय जल-स्तर के कारण और भी गहरा खोदना असंभव हो जाने के कारण हुआ। नियमतः जहाँ कहीं भी उत्खानन हो, प्राकृतिक भूमि तक खोदना अनिवार्य माना गया है, जिससे उस स्थान का पूर्ण सांस्कृतिक कालक्रम निर्धारित किया जा सके। भूगर्भीय जल-स्तर के कारण कठिनाई तो अवश्य होगी, किन्तु आज के वैज्ञानिक युग में इस बाधा पर विजय प्राप्त करना कोई बड़ी समस्या नहीं रह गई है। सन् १९४५ ई० में ह्वीलर महोदय ने अरिकामेडु में समुद्रतल से ग्यारह फुट गहरी खुदाई की थी। मोहेंजोदारो में भी उन्होंने १९५० ई० में पम्प की सहायता से जल-स्तर से दस फुट अधिक गहरा खोदा।

अबतक हमने खात की दीवारों पर सेक्शन तैयार करने के सम्बन्ध में विचार किया। परन्तु इस प्रमाण को कागज पर उतारना अनिवार्य होता है, क्योंकि उत्खानन के पश्चात् स्तरीय प्रमाणों का अस्तित्व केवल कागज पर रह जाता है। अतः सेक्शन का रेखांकन करना पड़ता है। इस कार्य के लिए इन सामग्रियों की आवश्यकता पड़ती है—ग्राफ कागज, रेखांकन फलक, रेखांकन पिन, पेंसिल, मिटाने का रबर, मापक (scale rule), डेटम रेखा के लिए डोरी, सर्वेक्षण पिन, काँटी, मापक टेप, क्लिप, पाँच फुटा डंडा, साहुल।

सेक्शन का रेखांकन करने के लिए सर्वप्रथम एक उपयुक्त बिन्दु पर, साधारणतः ऊपर एक डोरी को दृढ़तापूर्वक तान दिया जाता है जिसे बुलबुला पट्ट द्वारा समतल कर लिया जाता है। डोरी के साथ एक मापक फीता भी संलग्न कर दिया जाता है। तदनन्तर ग्राफ कागज पर प्रत्येक फुट, मीटर अथवा अन्य उपयुक्त माप के अनुपात से रेखांकन होता है। रेखांकन $\frac{1}{2}$ इंच = १ फुट अथवा ५ सें०मी० = १

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

सी० के अनुपात से करना चाहिए। भिन्न-भिन्न संचयनों की संरचना के अनुसार अलग-अलग चिह्नों का उपयोग करना ठीक रहता है—जैसे घास जमी सतही स्तर, ठोस चिकनी मिट्टी, राख, बालू, ठींकरे, इत्यादि भिन्न-भिन्न चिह्नों से रेखांकित किये जायेंगे। रेखांकन के पश्चात् पूरे सेक्शन का फोटो लेना चाहिए, तब सेक्शन का विवरण पूर्ण हो जायगा। रेखांकन के लिए भारतीय पुरातत्त्व सर्वेक्षण द्वारा मान्य चिह्न ये हैं—

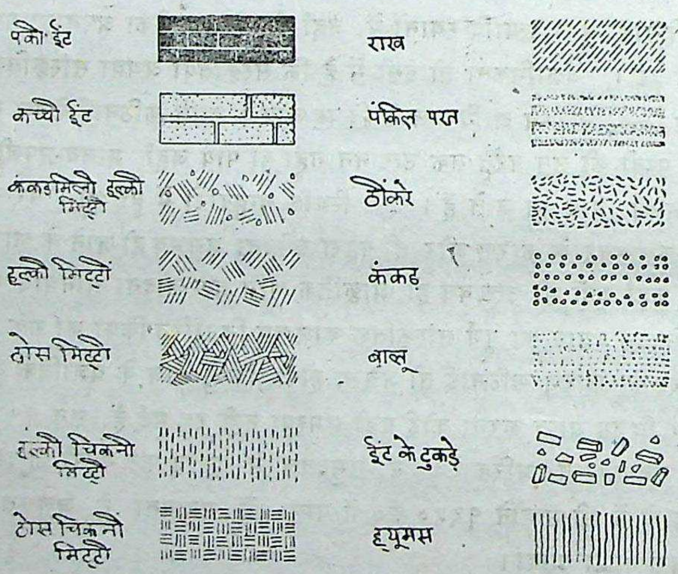

चित्र-५

उत्खनन में उपलब्ध वस्तुओं के रेकर्ड रखने की विधि—उत्खनन में उपलब्ध सभी वस्तुओं का रेकर्ड रखना अनिवार्य माना गया है। वस्तु की उपलब्धि-स्थल के निकटतम सेक्शन के सन्दर्भ में रेकर्ड तैयार किया जाता है। पर्यवेक्षक को चाहिए कि वह अपनी पुस्तिका (नोटबुक) में मकान के अवशेषों, गर्तों और महत्त्वपूर्ण वस्तुओं का प्लान बना लिया करे। प्लान कोने के खूँटे से सम्बद्ध होना चाहिए। वस्तुओं का संख्याक्रम, सेक्शन, स्तर और रेखाचित्र के साथ रेकर्ड प्रस्तुत किया जाता है। इसके लिए निम्न प्रकार खाना बनाना चाहिए—

संख्याक्रम	माप	स्तर	वस्तु	मन्तव्य
(१)	IV १० सें०मी० × २ मी० ५ सें० मी० —४ मी०	(६)	पकी मिट्टी की मुहर	लघुलेख-अस्पष्ट

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

पहला खाना संख्याक्रम का है। ह्वीलर महोदय संख्या को त्रिकोण से घेरना पसन्द करते हैं, जिससे स्तर की संख्या जो वृत्त के अन्दर लिखी जाती है और इसमें स्पष्ट अन्तर रहे। दूसरा खाना महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि यही रेकर्ड का सार होता है। इसमें इन तीन बातों का उल्लेख किया जाता है—(१) वस्तु के प्राप्तिस्थान के निकटतम खूँटे से दूसरे खूँटे की ओर समतलीय दूरी, (२) उस दूरी-बिन्दु से खाते की ओर की दूरी और (३) डेटमरेखा से प्राप्ति-स्थान की गहराई की माप। तीसरे खाने में स्तर की संख्या, चौथे में वस्तु का वर्णन और पाँचवे में विशेष बातों का उल्लेख या वस्तु का रेखांकन किया जाता है।

दूसरे खाने की पूर्ति के लिए तीन उपकरणों से काम लिया जाता है—(१) गुनिया, जिसकी भुजाओं में बुलबुला पट्ट (Bubble-level) लगा हो, (२) माप लेने का टेप और (३) साहुल। इस माप में वस्तु के प्राप्ति-स्थान का माप तीन दिशाओं से लिया जाता हैं, अर्थात् अनुदैर्ध्य, बहिर्मुखी तथा अधोमुखी। अतः इसे त्रिदिशात्मक माप की संज्ञा दी गई है। अनुदैर्ध्य माप के लिए जिस खूँटे से माप लेना है वहाँ समकोण पर गुनिया लगाया जायगा। यदि खूँटा नं० ४ से मापना हो तो उसके साथ गुनिया लगाकर संख्या ५ खूँटे की ओर का माप लिया जायगा। यदि वहां से १० सेंटीमीटर पर वस्तु मिली हो तो उसे IV १० सेंटीमीटर लिखा जायगा। फिर वहाँ बहिर्मुखी माप लिया जायगा। वहाँ से भी समकोण पर माप लेना होगा। IV १० सेंटीमीटर के बिन्दु से खूँटेवाली डोरी से गुनिया लगाकर साहुल की सहायता से माप लिया जायगा। यदि वहाँ से प्राप्ति-स्थान की दूरी ३ मी० ५ सेंटीमीटर हो तो अनुदैर्ध्य माप में गुणन-चिह्न लगाकर, जैसे IV १० सेंटीमीटर × ३ मी० ५ सेंटीमीटर लिखना होगा। तत्पश्चात् अधोमुखी माप लिया जायगा, अर्थात् गहराई नापना होगा। यह माप मापक फीता और साहुल की सहायता से पूरा होगा। गहराई का माप घटाव का चिह्न लगाकर लिखा जाता है। ४ मीटर की गहराई को—४मीटर लिखा जायगा। तीनों माप पूरा करके इस प्रकार लिखा जायगा—VI १० सें० मी० × ३ मी० ५ सें० मी०—४ मी०। इसे ही त्रिदिशात्मक (Three Dimensional) रेकर्डिंग का नाम दिया गया है।

खात नियोजन तथा स्तर-क्रम निर्धारण सम्बन्धी जिन बातों का अब तक उल्लेख किया गया उनसे ही उत्खनन के उद्देश्यों की पूर्ति नहीं हो जाती, इसके लिए विभिन्न प्रकार के निर्माणों के अवशेषों एवं पुरास्थलों के स्वरूप के अनुरूप उत्खनन-विधियों का उपयोग आवश्यक होता है, जिस पर आगामी अध्याय में विचार किया गया है।

—:०:—

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

उत्खनन-विधियाँ

भवनावशेषों का उत्खनन—उत्खनन का उद्देश्य उत्खनित वस्तुओं के इतिहास का निर्माण है। इस दृष्टि से ही भवनों के अवशेषों को इस विधि में खोदा जाता है जिससे उनसे सम्बद्ध प्रमाणों को उनकी कहानियाँ कहने की क्षमता प्रदान की जा सके। यदि उत्खनन के समय दीवार मिली और उसके दोनों ओर की मिट्टी हटा दी गई तो अनर्थ हो जायगा। यदि कोई समकालीन अभिलेख या निर्विवाद प्रमाण उपलब्ध हो अथवा दीवार के सहज गुण से उसका तिथि-ज्ञापन सम्भव हो तो बात दूसरी है, अन्यथा उसकी कहानी सुनाने की क्षमता उससे सम्बद्ध स्तरों में ही होती है। अतः दीवार का उत्खनन इस प्रकार होना चाहिए जिससे उससे सम्बद्ध स्तरीय प्रमाणों की पहचान और व्याख्या करना सम्भव हो। इसके लिए आवश्यक है कि उत्खनन के क्रम में दीवार पर समकोण बनाते हुए सेक्शन (अर्थात् आड़ी काट) पर्याप्त संख्या में रखे जायें। ये सेक्शन थोड़ी-थोड़ी दूरी पर हों और सबों को सम्बद्ध किया जाय। जब सभी सेक्शनों की संतोषप्रद व्याख्या कर ली जाय और उनका रेकर्ड पूर्ण हो जाय तब उनका स्तरतः हटा देना चाहिए।

निर्माण, विनाश, जीर्णता इत्यादि के फलस्वरूप विभिन्न प्रकार के भवनों को जो दिन देखने पड़ते हैं, उसका ज्ञान उनसे सम्बद्ध स्तरों के माध्यम से ही उपलब्ध होता है। इसके लिए उत्खनन और निरीक्षण के कार्य में पूर्ण सावधानी बरतनी चाहिए। इस कार्य में भी सफलता के लिए अनुभव का होना जरुरी है। तीन प्रकार की वस्तुओं को भवनादि निर्माणों के तिथि-निर्धारण का आधार माना गया है—(१) भवन के निर्माणकाल के पूर्ववर्ती स्तर से उपलब्ध वस्तुएँ अर्थात् निर्माण-पूर्व कालीन प्रमाण, (२) निर्माणकालीन स्तरों से उपलब्ध वस्तुएँ और (३) निर्माणोत्तर कालीन स्तरों से उपलब्ध वस्तुएँ। अतः उत्खनन को इन तीनों प्रकार के प्रमाणों का सतर्कतापूर्वक निरीक्षण करना पड़ता है।

उत्खनित भवनों या मकानों का इतिहास जानने के लिए यह आवश्यक हो जाता है कि भवन-निर्माण की मूल प्रणाली का हमें ज्ञान हो। भवन-निर्माण के क्रम में जो सबसे पहला काम किया जाता है, वह है उसकी नींव डालना। इसके लिए एक खाई खोदी जाती है जिसे नींव की खाई (Foundation Trench) कहते हैं। मकान का इतिहास ज्ञात करने के लिए उसकी नींव के निरीक्षण का बड़ा महत्त्व है। अतः उत्खनक को इस खाई की पहचान के लिए पूरी सावधानी बरतनी चाहिए। मकान के तिथि-ज्ञान

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

के लिए इसका निरीक्षण इसलिए बड़ा महत्त्वपूर्ण होता है कि पृथ्वी की जिन परतों को मकान की नींव डालने के लिए खोदा जाता है वे निश्चितरूप से उस मकान के बनने के पूर्वकालीन होते हैं और निर्माणोत्तरकालीन स्तर दीवारों के अगल-बगल संचित मिलते हैं। नींव की खाई साधारणतया तीन प्रकार की होती है (चित्र-५)—(१) नींव की चौड़ी खाई (Wide Foundation Trench), (२) दीवार की मोटाई के बराबर चौड़ी खाई (Trench-built Foundation) और (३) ऐसी खाई जिसका निम्नभाग तो दीवार के बराबर ही चौड़ा हो, पर ऊपर का हिस्सा अधिक चौड़ा हो; अर्थात् पहले और दूसरे प्रकार का मिश्रित रूप।

पहले प्रकार की नींव काफी चौड़ी होती है अतः इसमें राजमिस्त्री दोनों ओर से बैठकर काम करता है, जिससे ईंटों की जोड़ाई नियमित होने से दीवारें सीधी बनती हैं। उत्खनक को ऐसी नींव के गड्ढे, जिनकी आकृति अंग्रेजी के V अक्षर के समान होती है, सेक्शन में स्पष्ट दिखलाई पड़ेगी। दूसरे प्रकार की नींव, जिसे अंग्रेजी में (Trench-built Foundation) कहते हैं, की दीवारों का संमुखी भाग पहले प्रकार के समान सम नहीं होगा, क्योंकि इसमें राजमिस्त्री खाई के ऊपर से ईंटें डालता है। मसाले की परत क्षैतिज जोड़ों में ही मिलेगी। इस तरह की खाई को सेक्शन में पहचानने के लिए सूक्ष्म निरीक्षण करना पड़ता है। तीसरे प्रकार की नींव में प्रथम और द्वितीय का मिश्रण रहता है और प्रायः इसी प्रकार की नींव भवन-निर्माण के लिए खोदी जाती है। ऐसी नींव खोदने में न तो किसी प्रकार की कठिनाई होती है और न इसमें दीवार बनाने में ही। इसे सेक्शन में भी स्पष्ट देखा जा सकता है।

नींव के पश्चात् मकान के फर्श का निर्माण होता है। कच्ची फर्श तो मिट्टी की होगी, पर पक्की—पत्थर, ईंट-चूना या सीमेंट की। सामान्य भूमि को मिट्टी से भर कर फर्श की सतह तक ऊँचा किया जाता है। भरावट की मिट्टी में कई परतों का मिश्रण मिलेगा—इसमें नींव की और आस-पास के जमीन की मिट्टी होगी। मकान के तिथि-ज्ञान के लिए फर्श के ठीक नीचे की इस परत का बड़ा महत्व है, क्योंकि इसमें निर्माण-पूर्व काल की वस्तुएँ तो मिलेंगी, परन्तु निर्माणोत्तर कालीन कुछ भी नहीं। किन्तु इसमें निर्माणकालीन वस्तुओं के मिलने की संभावना रहती है, अतः उत्खनक को इस परत का सूक्ष्म निरीक्षण करना पड़ता है।

फर्श के ऊपर नींव की दीवारें ऊँची उठती हैं, मूल दीवारें तत्कालीन फर्श से स्पष्ट सम्बद्ध रहती हैं। वस्तुतः नींव में दीवारों के बन्ध समकालीनता के द्योतक होते हैं, किन्तु, कभी-कभी उत्तरकालीन दीवारों को भी पूर्वकालीन नींव के ऊपर

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

बना दिया जाता है। सूक्ष्म निरीक्षण से इस कृत्रिम बन्ध का भेद खुल जाता है। दीवारों के इतिहास में बन्ध का महत्व तो है, परन्तु यह आवश्यक नहीं कि दीवारों में बन्ध के अभाव को उनकी असमकालीनता का प्रमाण मान लिया जाय। प्रायः मुख्य दीवारों का ही बन्धन होता है और जो दीवारें जमीन की सतह के ऊपर बनाई जाती हैं उनका नींव की दीवार के साथ बन्ध नहीं होता, यद्यपि ये दीवारें भी मकान बनने के समय की ही होंगी। अतः फर्श और परतों के संदर्भ में इन दीवारों की वास्तविक स्थिति का पता लगाया जाता है। जो दीवारें समकालीन होंगी उनसे सम्बद्ध स्तरों में भिन्नता नहीं होगी।

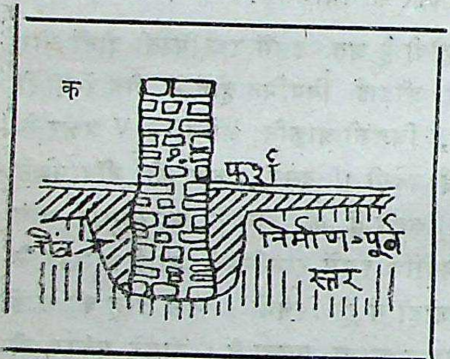

चौड़ी नींव

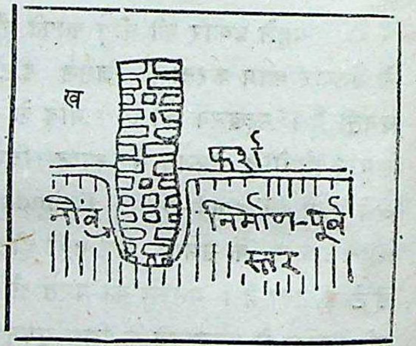

दीवार की चौड़ाई के बराबर नींव

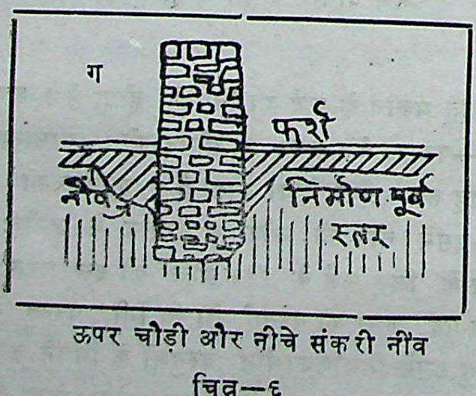

ऊपर चौड़ी और नीचे संकरी नींव

चित्र—६

मकान को अपने अस्तित्वकाल में कई परिवर्त्तनों से गुजरना पड़ता है। जब फर्श जहाँ-तहाँ उखड़ने लगते हैं तो उनकी मरम्मत होती है। प्रायः जीर्ण फर्श के ऊपर दूसरा नया फर्श बना दिया जाता है। इसकी पहचान करने में कोई दिक्कत

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

नहीं होगी। उत्तरकालीन फर्श, मूल फर्श के ऊपर बनेगा, अतः उसके नीचे मकान बनने के बाद की वस्तुएँ मिलेंगी। इसलिए दोनों फर्शों के बीच में उपलब्ध वस्तुएँ महत्वपूर्ण मानी जायेंगी। फर्श के सम्बन्ध में दिक्कत का सामना तब करना पड़ता है जब जीर्ण फर्श को हटाकर बिल्कुल नया फर्श बनाया जाता है। परन्तु कहीं-न-कहीं इसके भी चिह्न मिल ही जायेंगे, यह बात अलग है कि उत्खनक को इसके लिए प्रयास करना पड़ेगा।

जीर्णतावश या प्राकृतिक प्रकोप के फलस्वरूप यदि मकान धराशायी हो गया तो आबादी वाली परत के ऊपर मकान के मलवे का एक स्तर बन जायगा। इन सभी बातों को सेक्शन में पढ़ना सम्भव होगा। निम्न सेक्शन एक ऐसे मकान के दीवारों का है जो आबादी के केवल एक काल का प्रतिनिधित्व करते हैं। प्राकृतिक भूमि पर मकान का निर्माण किया गया, उसमें लोग रहे और कुछ समय पश्चात् उसका परित्याग कर अन्यत्र चले गये।

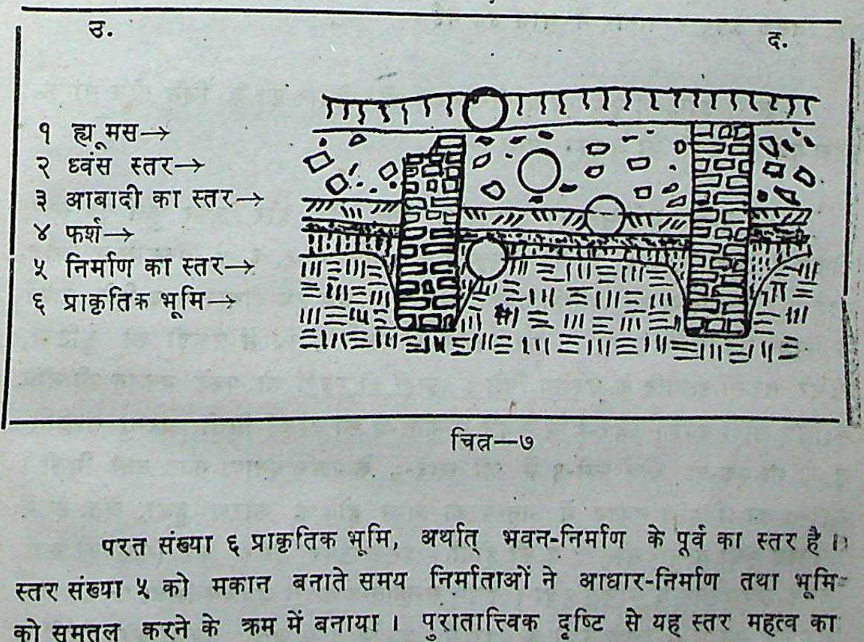

चित्र—७

परत संख्या ६ प्राकृतिक भूमि, अर्थात् भवन-निर्माण के पूर्व का स्तर है। स्तर संख्या ५ को मकान बनाते समय निर्माताओं ने आधार-निर्माण तथा भूमि को समतल करने के क्रम में बनाया। पुरातात्त्विक दृष्टि से यह स्तर महत्व का होगा, क्योंकि इसमें जो भी वस्तु मिलेगी वह भवन-निर्माण के पूर्व किसी भी काल की होगी। अतः मकान की तिथि इस परत में उपलब्ध वस्तुओं में जो सर्वाधिक अर्वाचीन होगी, उसके आसपास होगी। स्तर संख्या ४ फर्श हैं। स्तर-३ का निर्माण उस मकान में मनुष्य के निवास के फलस्वरूप हुआ। यह स्तर भी पुरातत्त्वज्ञ

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

के लिए महत्वपूर्ण होता है, क्योंकि स्थान-विशेष की संस्कृति के अनुरूप वस्तुओं का फर्श के ऊपर संचय मिलेगा। परन्तु यह आवश्यक नहीं कि सभी आवासों में इस तरह का स्तर मिले। यदि उत्खनित आवास प्रागितिहास-कालीन होगा, तो उसके फर्श के ऊपर उच्छिष्ट भोजनांश, पशुओं की अस्थियाँ इत्यादि अनेक वस्तुओं का संचय मिलेगा। परन्तु यदि वह फर्श को स्वच्छ रखने वाले सभ्य मनुष्यों का आवास रहा तो संभवतः वहाँ कुछ भी नहीं मिलेगा। ऐसे मकानों के निकट कूड़ा फेंकने के गर्त मिलेंगे। इन मकानों के भूतपूर्व निवासियों के विषय में अधिकांश जानकारी फर्श के ऊपर के स्तर या कूड़ाखाने के संचय के आधार पर उपलब्ध होगी जिनसे उनके इतिहास का निर्माण करना संभव होगा। स्तर-२ इस बात का प्रमाण प्रस्तुत करता है कि उस मकान के निवासी अन्यत्र चले गये जिससे वह बेमरम्मत होकर गिर गया। ध्वंस-कालीन स्तर से इस बात का भी पता लगेगा कि किन कारणों से मकान गिरा। यदि आग लग जाने से वह नष्ट हुआ हो, तो इस परत में राख की पर्याप्त मात्रा मिलेगी। यदि बाढ़ के कारण मकान बरबाद हो गया तो बाढ़ की मिट्टी की एक परत रहेगी। स्तर-१ अन्तिम संचय है जो मकान के ध्वंसावशेष के ऊपर संचित हुआ, और जिसके ऊपर कालान्तर में घास उग गई।

दूसरा उदाहरण एक ऐसे प्राचीन भवन की दीवार का है जिसे तीन सांस्कृतिक युगों को देखने का अवसर मिला :—

इस सेक्शन में (चित्र-८) दीवार के दोनों ओर और ऊपर कुल १० स्तर दीखते हैं, जिनमें स्तर ८, ९, १० संस्कृति-अ; स्तर ४, ५, ६, ७ संस्कृति-ब और स्तर २-३ संस्कृति-स का प्रतिनिधित्व करते हैं। अब हम दीवार के दाहिने पार्श्व के सेक्शन का निरीक्षण करें। इस सेक्शन के स्तर ९-१० में लकड़ी की कुटिया, ठीकरे, तकली इत्यादि के अवशेष मिले। इन्हीं दो स्तरों को पक्के मकान की नींव के लिए खोदा गया। स्तर-८ में केवल संस्कृति-अ की वस्तुएँ मिलीं, परन्तु संस्कृति-ब की भी एक-दो चीजें फर्श-१ में जो स्तर-८ के ऊपर बनाया गया, दबी मिलीं। स्तर-७ का निर्माण मकान में मनुष्य का वास होने के कारण हुआ, अतः इसमें उपलब्ध सभी वस्तुएँ संस्कृति-ब की होंगी। इसके ऊपर दूसरा फर्श (फर्श-२) बना, जिसके ऊपर स्तर-६ संचित हुआ। इसमें संस्कृति-ब के ही अवशेष मिले, पर किंचित विकसित रूप में। इसके ऊपर के स्तर में, अर्थात् ५ में जली लकड़ी और मिट्टी के संग गिरी ईंटों के रूप में अग्निकांड से मकान के विनाश के प्रमाण विद्यमान हैं। इस दुर्घटना के पश्चात् बची हुई दीवार का उपयोग कच्ची ईंट की दीवार (दीवार-क) की नींव के रूप में किया गया। यह दीवार एक मिट्टी के फर्श से

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

(स्तर-३) से संबद्ध है जिसमें संस्कृति-स के अवशेष मिले। संस्कृति-ब का विनाश करने वाली यह (संस्कृति-स) घटिया दर्जे की घुसपैठी संस्कृति थी।

दीवार की बाईं ओर के सेक्शन में स्तर ८, ९ और १० के ऊपर एक पक्की सड़क (सड़क-१) दीखती है। इसका समय-समय पर जीर्णोद्धार किया गया, जिसके प्रमाण हैं—सड़क-२ और सड़क-३ के अवशेष। उत्तरकालीन सड़कों के निर्माण में पक्का बनाने का मापदण्ड घटता गया और अन्त में जब संस्कृति-स का काल आया तो सड़क पक्की नहीं रह गई जिससे यातायात के दबाव से गली की सतह धंसने लगी।

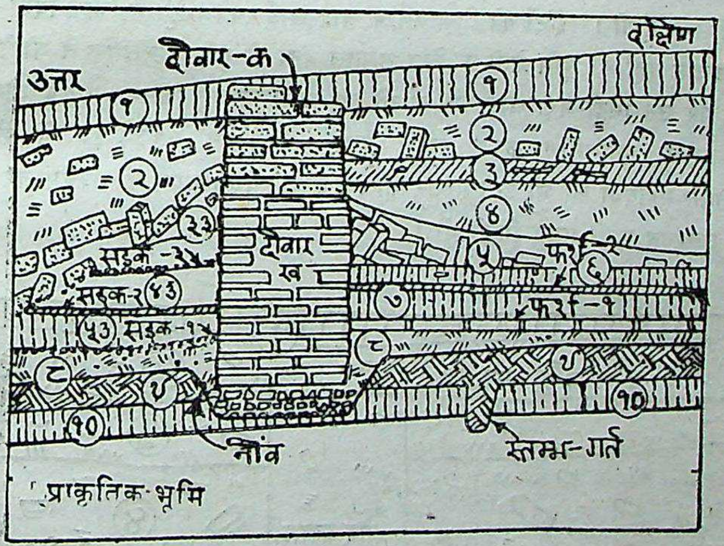

चित्र-८

भूत-दीवार (Ghost Wall)—लोग प्रायः प्राचीन भवनों के खंडहरों से ईंट-पत्थर निकाल कर निर्माण-कार्य में उनका उपयोग करते हैं। जिस स्थान पर मनुष्य का वास लंबी अवधि तक होता था, वहाँ परवर्ती निर्माणकर्त्ता अपने पूर्ववर्तियों के ध्वस्त मकानों की दीवारों को खोदकर उनका उपयोग अपने नये मकानों के निर्माण में करते थे। इस दीवार की जो खाइयाँ उत्खनकों की मिलती हैं, उन्हें चार खात (Robber's Trench) कहा जाता है (चित्र-८)। कभी-कभी ऐसा होता है कि इमारती पत्थर और ईंटों के लिए खंडहरों को खोदने वाले (Brick-robbers) सम्पूर्ण दीवार को गायब कर देते हैं—प्राचीन भवनों के दीवारों के जो अवशेष भूमि में दबे रहे हों; उनकी एक भी ईंट नहीं बच पाती। दीवार तो गायब जरूर हो जाती है, परन्तु

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

उसके अस्तित्व के प्रमाण पृथ्वी से लुप्त नहीं होते। चूँकि दीवार का स्थूल-रूप में अस्तित्व नहीं रह जाता, अतः उसे भूत-दीवार का नाम दिया गया है।

ह्वीलर महोदय ने भूत-दीवारों के दो उदाहरण दिए हैं—(१) मैथ्यू पेरिस नामक उत्खनक को वेरुलेमियम के एक रोमन-ब्रिटिश स्थल का उत्खनन करते समय इस बात के प्रमाण मिले कि ग्यारहवीं शताब्दी के एक मठ की सभी दीवारें गायब कर दी गई थीं। ऐसी स्थिति में उन्होंने चोर-खात का पीछा किया, स्थान-स्थान पर खात के समकोण में सेक्शन छोड़ा और अन्ततोगत्वा उस भवन के प्लान का पुनर्निर्माण कर ही लिया। ईंट-चोरों ने ईंटों को बड़ी सफाई से हटाया था। उनलोगों ने ईंट निकालने के लिए जो खाई खोदी थी वह मुश्किल से दीवार की चौड़ाई से अधिक चौड़ी रही होगी। ईंटों को निकालने के बाद खाई को मिट्टी से भर दिया गया। तत्पश्चात् वहाँ की भूमि खेती के लिए समतल बना दी गई। उत्खनक ने थोड़ी-थोड़ी दूरी पर उस मिट्टी-भरी खाई को काटते हुए खात लगाए जिससे गायब दीवार के आकार का पुनर्निर्माण करना संभव हुआ। (२) सन् १९३२ ई० में कैथलिन केनियन महोदया को भी इसी प्रकार की एक दीवार वेरुलेमियम के पश्चिमोत्तर तोरण का उत्खनन करते समय मिली थी।

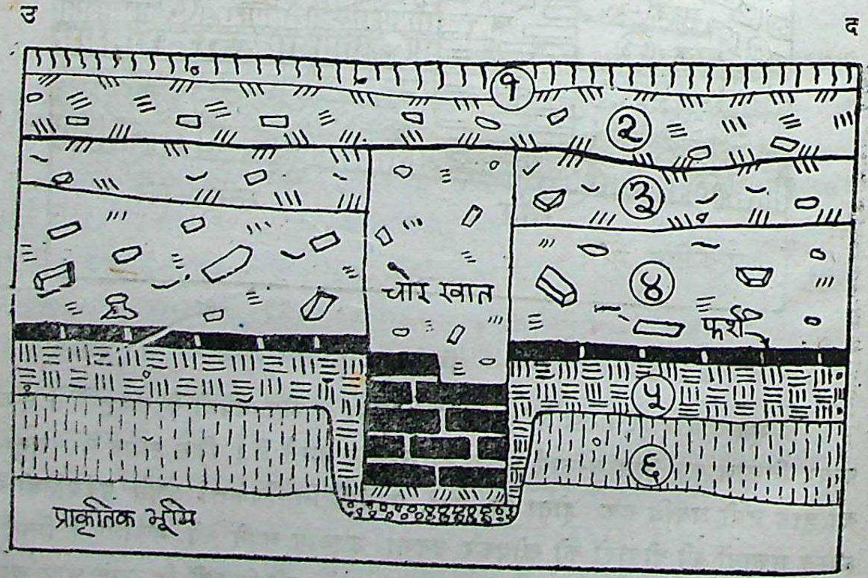

चित्र—९

काष्ठ-निर्माण—अतीत में भवन-निर्माण के लिए लकड़ी का प्रचुर प्रयोग होता था। भारत के अनेक प्राचीन नगरों के भवन एवं प्राचीर काष्ठ-निर्मित थे। मौर्य-कालीन पाटलिपुत्र के काष्ठ-प्राचीर के अवशेष उपलब्ध हुए हैं। कुम्रहार में उत्खनित

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

मौर्यकालीन सभामंडप के निर्माण में भी काष्ठ का प्रचुर प्रयोग हुआ था। पुरातत्त्वज्ञों के लिए लकड़ी का महत्त्व इस कारण बढ़ जाता है कि उपयुक्त वातावरण में यह बहुत दिनों तक संरक्षित रह जाती है। निर्वायु पीट (peat), चिकनी मिट्टी, नदी की चिकनी मिट्टी और जहाँ की जलवायु अति शुष्क हो, वहाँ लकड़ी की आकृति और अंशतः सार का सहस्रों वर्षों में भी विनाश नहीं होता। इसके प्रमाण हैं—मौर्यकालीन पाटलिपुत्र के काष्ठ-स्तम्भ। मिश्र और मध्य-एशिया के मरुस्थलों में आज से सहस्रों वर्ष पूर्व की लकड़ी की प्राचीन सामग्रियाँ उपलब्ध हुई हैं। ग्राहम क्लार्क महोदय को सन् १९४९-५१ ई० में यॉर्कशायर में ९००० वर्ष पुराना काष्ठ-निर्माण का प्रमाण उपलब्ध हुआ और डॉ० वान गिफेन को दक्षिणी हॉलैंड में प्रथम शताब्दी के काष्ठ भवन के उल्लेखनीय अवशेष मिले।[1]

काष्ठ-निर्माण के चिह्न असीम काल तक अमिट रह जाते हैं। सामान्य काष्ठ का अवशेष चिह्न-मात्र होगा अथवा वहाँ पर हल्की भरावट वाले गड्ढे मिलेंगे जिनको भूत-दीवार के रूप में समझना चाहिए। इस रूप में काष्ठ के अवशेष को पहचानने का कार्य कष्टसाध्य होता है और इसमें अनुभवी उत्खनक भी भूल कर बैठते हैं। हड़प्पा में लगभग दो सहस्र ई० पू० के एक श्मशान की खुदाई करते समय सेक्शन में काला धब्बा दीखा, तो ऊपर से स्तरों को कोमलतापूर्वक हटाया गया, धब्बे को छूरे से हल्का-हल्का खरोंचकर छोटे और कोमल ब्रश से साफ किया गया, तदनन्तर उसका छायांकन लिया गया। अन्त में विशेषज्ञों ने यह ज्ञात कर लिया कि शव-पेटिका का निर्माण देवदारु की लकड़ी से किया गया था।

कच्ची ईंट और मिट्टी की दीवारें—गर्म देशों में कच्ची ईंटों की, जिनमें भूसा मिलाकर सुखाया जाता है, या भूसा मिश्रित गीली मिट्टी की दीवार खड़ी कर दी जाती है। कच्ची ईंट-मिट्टी के बने मकानों की खुदाई में दिक्कतें होती हैं, क्योंकि जमीन के अन्दर दबे रहने के कारण कालान्तर में उनमें इतना परिवर्तन अवश्य हो जाता है कि सामान्य मिट्टी और भवनावशेष में आसानी से अन्तर करना संभव नहीं हो पाता। अतः पर्यवेक्षक को यह काम बुद्धिमतापूर्वक करना चाहिए। यदि वे अनुभवी श्रमिकों से काम लें तो उन्हें बड़ी सहूलियत होगी। सूक्ष्म-निरीक्षण, मिट्टी की संरचना और उसकी कठोरता, गैंते से खोदते समय की आवाज, इन सभी को मिला-जुलाकर निश्चय करना चाहिए कि जिसे खोदा जा रहा है वह दीवार है अथवा नहीं। परेशानी तब होगी जब ध्वस्त भवन की दीवारों के टूटकर गिरने से कमरे में इतनी मिट्टी भर जाय कि उससे दीवार के बचे हुए भाग का ऊपरी हिस्सा ढक जाय। यदि ऐसा हो तो छोटे गैंते से धीमे-धीमे खोदना चाहिए जिससे भरावट के नीचे दीवार

१. Wheeler, Archaeology from the Earth, पृ० १००

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

पर गैंते के नुकीले भाग के आघात से उसे पहचानना संभव होगा। सतह पर पानी का छिड़काव करके धीमे-धीमे छूरी से खुरचने पर भी भरावट और मूल दीवार का अंतर समझ में आ जायगा। कभी-कभी मिट्टी की संरचना से भी इस भेद को स्पष्ट करने में योग मिलता है। ईंट की दीवार के अवशेष में चारकोल के टुकड़े या ठींकरे प्रायः नहीं मिलते हैं। दीवार में भूसे के कण मिलेंगे और यह भूसा गलकर कहीं-कहीं खोखलापन पैदा करेगा। कच्ची ईंट की दीवार के उत्खनन में धैर्य से काम लेना पड़ता है। भिन्न-भिन्न प्रकाश में और मिट्टी की आर्द्रता एवं शुष्कता की विभिन्न अवस्थाओं में खुदाई करके ईंटों को पहचाना जाता है। जब दीवारों का निश्चित पता लग जाय तब इस बात का निश्चय करना चाहिए कि उसमें पलस्तर किया गया था या नहीं। इसके लिए दीवार की ब्रश से सफाई और छूरे से उसे खुरचने की आवश्यकता पड़ती है। इससे ईंटे साफ-साफ दीखेंगी। ईंटों के सुखने के पहले ही उसके आकार का माप लेना चाहिए, अन्यथा उनको अलग-अलग देख पाना कठिन हो जायगा। अच्छा होगा कि ईंटों की संधियों को ब्रश या छूरे से हल्के तौर पर थोड़ा गहरा कर दिया जाय। यदि गारा कड़े पदार्थ का हो तो ईंटों को ही थोड़ा खरोंच कर जोड़ को ऊँचा दिखलाया जाय। मिट्टी की दीवार का उत्खनन करते समय उनमें: उपलब्ध वस्तुओं के सम्बन्ध में कुछ बातों पर ध्यान देना आवश्यक होगा। प्रायः मिट्टी की दीवार खड़ा करते समय उसी स्थान की मिट्टी खोदकर काम में लायी जाती है। यदि वह स्थान प्राचीन हुआ तो वहाँ की वस्तुएँ मिट्टी की दीवार बनाते समय ऊपर आ जायेंगी। उत्खनक को यह देखना चाहिए कि कहीं दींवार के ऊपरी भाग में दीवार के नीचे के स्तर की कोई वस्तु तो नहीं आ गई है। इससे उस दीवार की तिथि निर्धारित करने में मदद मिलेगी। इन बातों के अतिरिक्त उत्खनन की शेष प्रक्रिया वही होगी जो पक्की ईंट की दीवारों के लिए होती है।

नगर-स्थलों का उत्खनन

प्राचीन नगरों के अवशेषों के उत्खनन के प्रमुख उद्देश्य हैं—वहाँ के सांस्कृतिक कालक्रम का निर्णय तथा नगर-नियोजन और वहाँ के निवासियों के राजनैतिक, सामाजिक तथा आर्थिक जीवन के विवरण प्रस्तुत करना। अतएव इन लक्ष्यों की पूर्ति के लिए नगर-स्थलों के उत्खनन में कई विशेष बातों का ध्यान रखना अनिवार्य होता है।

समतल नगर-स्थल—प्राचीन नगरों के खंडहर इस समय या तो करीब-करीब समतल मिलेंगे अथवा टीलों के रूप में। ऐसे टीलों की अधिकतम ऊँचाई एक सौ फीट तक या कहीं-कहीं इससे भी अधिक हो सकती है। यदि समतल स्थल की बात हो तो यथासंभव नगर के मध्य-भाग के निकट सीमित स्थान का ग्रिड-प्रणाली के अनुसार उत्खनन करना चाहिए (पृ० ७०)। वस्तुतः नगर का विकास व्यवस्थित रूप से

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

होता है और वहाँ के महत्त्वपूर्ण क्रिया-कलापों का केन्द्र मध्य-भाग ही रहता है। अतः उस स्थान से मतलब की अधिकांश वस्तुओं को उपलब्ध करना संभव होगा। वहाँ पर संचित निम्नतम स्तर तक उत्खनन करना चाहिए जिससे उस स्थान पर विकसित विभिन्न संस्कृतियों की झलक मिल सके। इसके लिए एक-दूसरे से सटे चार वर्गाकार खात लगाना अधिक उपयोगी होगा। एक या दो खात भी लगाये जा सकते हैं। इस बात का अवश्य ध्यान रहे कि ऐसे खात यत्र-तत्र न लगाये जायें।

प्राचीन नगर प्राचीर-परिवेष्टित बनाये जाते थे। इसका प्रमुख उद्देश्य नगर की रक्षा था। वस्तुतः रक्षा-प्राचीर प्राचीन नगरों के अभिन्न अंग हुआ करते थे। संसार का प्राचीनतम नगर जेरिको हो अथवा भारत के हड़प्पाकालीन नगर या उत्तर-कालीन उज्जैनी, कौशाम्बी, पाटलिपुत्र, राजगृह, चम्पा इत्यादि हों, सर्वत्र रक्षा-प्राचीर के अवशेष विद्यमान हैं। जेरिको में उपलब्ध अश्म-निर्मित नगर-प्राचीर का निर्माण लगभग ७००० ई० पू० में किया गया था[1] जिससे इस व्यवस्था की प्राचीनता का अनुमान लगाया जा सकता है। रक्षा-प्राचीरों का नगर के इतिहास से बड़ा घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है, अतः उनसे अनेक महत्त्वपूर्ण बातों का पता लगाया जाता है। क्या नगर-जीवन शांतिमय रहा अथवा नागरिक शत्रुओं के आक्रमण की आशंका से भयभीत रहा करते थे? क्या आक्रामक शत्रु रुक-रुक कर आक्रमण करते थे? यदि ऐसा होता था तो आक्रमणों के विराम की अवधि क्या थी? आक्रमणों से सुरक्षा के लिए नगरवासियों को किस प्रकार की व्यवस्था करनी पड़ी? रक्षा-प्राचीर के रख-रखाव का क्या इंतजाम किया गया था? रक्षा-प्राचीर के निर्माण के समय उस नगर की आर्थिक स्थिति कैसी थी? रक्षा-प्राचीर के ध्वस्त होने का कारण आक्रमणकारी थे अथवा उस नगर का अर्थाभाव? इस प्रकार के प्रश्नों का उत्तर पाने के लिए रक्षा-प्राचीर का उत्खनन अनिवार्य होता है।

उत्खनक को चाहिए कि खात लगाने के लिए वह रक्षा-प्रचीर का निरीक्षण करके ऐसे स्थानों का चुनाव करे जहाँ अपेक्षाकृत अधिक प्रमाण मिलने की संभावना हो। तत्पश्चात् उन स्थानों पर प्राचीर को काटते हुए लम्बे आड़े खात (cross-trench) लगाये जिनको प्रर्याप्त चौड़ा होना चाहिए। इनकी खुदाई पूरी गहराई तक करनी चाहिए। फिर इन खातों की लम्बाई का नगर की आबादी वाले स्थान की ओर विस्तार किया जाय जिससे रक्षा-व्यवस्था की विभिन्न अवस्थाओं को नागरिकों के जीवन से सम्बद्ध किया जा सके। यह भी आवश्यक है कि किसी प्रवेश-द्वार का उत्खनन किया जाय, क्योंकि वहाँ सड़कों के क्रमिक स्तर एवं रक्षकों के आवास मिलेंगे। प्राचीर-परिवेष्टित नगरों में रक्षा-प्राचीर के बाहर परिखा का निर्माण किया जाता था। इसकी चौड़ाई का पता लगाना भी आवश्यक है। नगरों के बाहर जन-

---

१. Kenyon, Archaeology in the Holy Land पृ० ४४

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

साधारण की बस्तियाँ भी अवश्य ही होती होंगी। इनका नगर-सभ्यता से क्या सम्बन्ध था इस विषय की सभी बातों की जानकारी के लिए प्राचीर को काटते हुए खात की सीध में परिखा (खाई) को काटते हुए बाहरी बस्ती की तरफ खात लेना लाभदायक होगा। यदि परिखा को काटते हुए खात लेना संभव न हो तो खाई की दूसरी तरफ प्राचीर को काटते हुए खात की सीध में ही खात लेकर काम चलाया जा सकता है। इससे परिखा के दोनों किनारे निकल आयेंगे और उसकी चौड़ाई ज्ञात हो जायगी तथा बाहरी और भीतरी बस्तियों का पारस्परिक सम्बन्ध भी यथासंभव स्थापित हो सकेगा।

नगर के मध्य-भाग के सीमित स्थान एवं रक्षा-प्राचीर तथा बाह्य-भाग के उत्खनन से उस स्थल के महत्व का अंदाजा लग जायगा। अब दूसरा काम होगा—नगर के महत्त्वपूर्ण भाग का विस्तृत उत्खनन जिससे नगर-नियोजन का पता लगाया जाय। उत्तम तो यही होगा कि पहले लगाये गये खातों का विस्तार उत्खनित प्रवेश-द्वार तक किया जाय जिससे दोनों के बीच के तत्कालीन भवनों तथा वीथियों के प्लान का पुनर्निर्माण करना सम्भव हो। इसके लिए व्यवस्थित ढंग से उत्खनन को अग्रसारित करना चाहिए, ताकि भावी उत्खनकों को उलझन में नहीं पड़ना पड़े। इस सम्बन्ध में मार्शल महोदय द्वारा तक्षशिला के उत्खनन में अपनाई गई विधि उपयोगी साबित हुई है। उन्होंने सिरकप (तक्षशिला) के केवल दो ऊपरी स्तरों की पूर्णतः खुदाई की और जिन्हें वे नहीं खोद सके उन्हें अछूता छोड़ दिया। अब यह सिद्धान्त अनिवार्यतः अपनाया जाता है कि सीमित अथवा विस्तृत जितने स्थान का भी उत्खनन हो, आबादी के निम्नतम स्तर तक किया जाय। इस सम्बन्ध में स्थल की प्रकृति के अनुरूप ऊपर की दोनों विधियों में जो उपयुक्त जँचे उसका अनुसरण किया जाना चाहिए। वस्तुतः बड़े-बड़े नगर-स्थलों के उत्खनन में क्षैतिज तथा लम्बवत् विधियों का समन्वय करना उपयोगी होता है। ह्वीलर महोदय का यह विचार है कि उपयुक्त स्थान पर लम्बवत् उत्खनन द्वारा उस स्थल का सांस्कृतिक क्रम निर्धारित करके शेष भाग का क्षैतिज उत्खनन करना चाहिए।

3 **प्राचीन नगरों के टीलों (Tell) का उत्खनन**—प्राचीन नगरों के खंडहरों से बने ऊँचे-ऊँचे टीलों को अरबी भाषा में तेल (Tell) कहा जाता है। यही फारसी भाषा में Tepe कहलाता है और तुर्की में Huyuk. प्राच्य देशों के समान ऊँचे-ऊँचे टीले यूरोपीय देशों में नहीं मिलते। इसका कारण स्पष्ट है कि जहाँ यूरोपीय नगरों का एक स्थान पर कुछ शताब्दियों तक ही अस्तित्व मिलेगा, वहीं प्राच्य देशों में सहस्राब्दियों तक एक ही स्थल पर नगर बसते और उजड़ते रहे। ऐसे भी स्थल मिलेंगे जहाँ नवाश्म युग से लेकर आधुनिक काल तक लगातार एक के ऊपर दूसरे, फिर तीसरे—इस प्रकार ग्राम-नगर बसते रहे। नगरों के निरन्तर बसने और उजड़ने

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

की प्रक्रिया के फलस्वरूप वहाँ का स्थल ऊँचा होता गया और कहीं-कहीं तो यह ऊँचाई सौ फुट तक पहुँच गई। जिन क्षेत्रों में कच्ची ईंट के भवनों का निर्माण होता रहा हो वहाँ विशेष ऊँचे टीले बन जायेंगे क्योंकि ध्वंसावशेष का निर्माण कार्य में पुनः उपयोग नहीं किया जा सकता।

सभी आबादी वाले स्थानों की भाँति टीलों के उत्खनन का भी प्रमुख लक्ष्य वहाँ पर विकसित विभिन्न सांस्कृतिक युगों का कालक्रम निश्चित करना रहता है, परन्तु आबादी के सामान्य स्थलों की अपेक्षा इसमें विशिष्ट समस्याओं का सामना करना पड़ता है। एक तो ५०-६० फुट अथवा सौ फुट की ऊँचाई से खोदना स्वयमेव एक समस्या हो जाती है। सामान्यतया इन टीलों में कच्ची अथवा पक्की ईंट के बने मकान मिलेंगे। यदि टीला कच्ची ईंट से बने मकानों का हुआ तो उस स्थल की विभिन्न आबादियों का कालक्रम निर्धारण सरल होगा। इसके दो कारण हैं—(१) कच्ची ईंट का उपयोग मकान बनाने के लिए एक ही बार किया जा सकता है जिससे उत्तरकालीन निर्माताओं द्वारा ईंटें निकालने के लिए खोदे गये गड्ढे नहीं मिलेंगे, (२) मिट्टी के भवनों के ध्वस्त होने से ध्वंसावशेष का एक मोटा स्तर बन जाता है जिसके ऊपर नये मकान बनाये जाते हैं। अतः विभिन्न निर्माणकालों का पार्थक्य करने में विशेष उलझन नहीं होगी। परन्तु इससे यह नहीं समझ लेना चाहिए कि एक काल में सम्पूर्ण नगर एक सतह पर बसा होगा अथवा नष्ट हो गया होगा। प्रायः ऐसा होता रहा है कि नगर का जो भाग किसी कारणवश नष्ट हो गया उसी का पुनर्निर्माण किया गया; दूसरा भाग पूर्ववत् विद्यमान रहा। मंदिर सदृश महत्त्वपूर्ण भवन बहुत दिनों तक बिना किसी परिवर्तन के सुरक्षित रखे जाते हैं। बुरे दिनों में प्रायः नगर का केवल मध्यभाग आबाद रह पाता है, जिससे परित्यक्त भाग के भवन बेमरम्मत होकर ध्वस्त हो जाते हैं। धीरे-धीरे आबादी वाले भाग की ऊँचाई बढ़ने लगती है।

पक्के भवनों के अवशेषों से निर्मित टीलों में सबसे बड़ी समस्या मकानों के एक-दूसरे के ऊपर बनाए जाने से उत्पन्न होती है। दूसरी समस्या होती है दो कालों के भवनों के सतहों की निकटता के कारण, क्योंकि पक्के मकानों के गिरने से वैसा ही स्तर नहीं बन पाता है जैसा कच्चे मकानों के मलबे से, और गिरे हुए ईंट-पत्थरों का प्रयोग नये भवनों के निर्माण में कर दिया जाता है। तीसरी समस्या इस कारण उत्पन्न होती है कि उत्तरकालीन निर्माता ईंट-पत्थर प्राप्त करने के लिए पूर्वकालीन भवनों के अवशेषों को खोदते हैं। इससे वह स्थान चोर-खातों से भर जाता है। कभी-कभी पूरी की पूरी दीवार गायब मिलेगी। ऐसी अवस्था में उत्खनक को भूत-दीवार का उत्खनन करना होगा। चौथी समस्या यह होती है कि पक्के मकानों की नींव काफी गहरी खोदी जाती है। अतः उत्तरकालीन भवन-निर्माताओं ने बड़े-बड़े भवनों के

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

लिए जो नीवें खोदीं वह पूर्वकालीन भवनों की नीवों तक पहुँची मिलेंगी। एक बात और है कि पत्थर के मकानों की बस्तियाँ पहाड़ी इलाकों में मिलती हैं। इन बस्तियों के विषम भूमि पर बसे रहने के कारण उनके विभिन्न भागों को सम्बद्ध करना कठिन होता है।

टीलों के उत्खनन में एक महत्त्वपूर्ण समस्या यह होती है कि नगरों के उत्कर्ष-कालीन अवशेष कभी-कभी अछूते रह जाते हैं, जो निम्न दो उदाहरणों से स्पष्ट होगा—(१) सन् १९०२-३ ई० में पुष्कलावती नगरी के एक सौ फुट ऊँचे टीले को जिसका वर्तमान नाम बाला हिषार (ऊँचा टीला) है, खोदा गया। इस टीले की चोटी पर खात लगाकार उसे बीस फुट गहरा खोदा गया। परन्तु इसमें जो अवशेष उपलब्ध हुए वे मध्यकालीन या कुछ समय पूर्व के थे। यद्यपि पुष्कलावती नगरी अतीत में एशिया का एक प्रमुख व्यापार-केन्द्र थी और इस पर अधिकार करने में सिकन्दर को एक महीना लग गया था, फिर भी इसके उत्कर्ष-काल की कोई वस्तु उपलब्ध नहीं की जा सकी।

(२) चतुर्थ शताब्दी ई० पू० में बल्ख एक समृद्ध नगर था। इसके खंडहर सात मील लम्बे प्राचीर के घेरे के अन्दर बिखरे पड़े हैं। सन् १९२४-२५ ई० में फुशे महोदय ने इस स्थान के सर्वोच्च टीले का उत्खनन किया। परन्तु काफी गहरा खोदने पर भी उन्हें क्या मिला? बस, बहुत-कुछ आधुनिक एक मस्जिद और एक तुर्की स्नान-गृह। आखिर, ऐसा क्यों हुआ? प्राचीन नगरों में होता यह रहा है कि उत्तरकालीन निवासी आक्रमण अथवा बाढ़ सदृश विपत्तियों को ध्यान में रखकर सुरक्षित स्थानों में बसते गये। इससे सदा आबाद स्थल तो ऊँचा उठता गया परन्तु परित्यक्त भाग का मनुष्य, मौसम, वायु तथा जल के माध्यम से कटाव होने लगा। अतः अतीत में जिन स्थलों का वास्तविक महत्त्व था, उनको उद्घाटित करने के उद्देश्य की पूर्ति सर्वोच्च टीले को छोड़कर नीचे के उपयुक्त स्थान का उत्खनन करने से पूर्ण होगी। नीचे के समतल भाग का उत्खनन ऊपर वर्णित वर्ग-विधि अर्थात् ग्रिड प्रणाली से सम्पन्न करना होगा।

टीले के उत्खनन में इस बात का ध्यान रखना होता है कि वहाँ विकसित नगर के सांस्कृतिक युगों का कालक्रम तो निर्धारित किया ही जाय, परन्तु इसके साथ किसी काल-विशेष अथवा एकाधिक सांस्कृतिक युगों का पूर्ण उद्घाटन हो। टीले की ऊँचाई और क्षरण पर ध्यान देना आवश्यक होता है। सामान्य व्यवहार में टीले के एक छोर (Periphery) के उपयुक्त स्थान पर खात लगाना उत्तम होता है। फिर वहाँ पर जो सांस्कृतिक क्रम उद्घाटित हो उसको रक्षा-प्राचीर से सम्बद्ध किया जाय। टीले के उत्खनन का एक तरीका यह है कि ऊपर से नीचे तक सेक्शन काटा

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

जाय । इससे काम करने में आसानी होती है और नीचे आकर अधिक गहरा खोदने की जरूरत नहीं रह जाती ।

समतल स्थल के समान टीले के सम्बन्ध में भी रक्षा-प्राचीर के तोरण और अन्दर के एक बड़े भाग का उत्खनन कर दोनों को सम्बद्ध करना चाहिए । यदि अन्दर कोई किला अथवा मन्दिर हो तो उसका उत्खनन करके निकट के तोरण से उसे सम्बद्ध करना उपयोगी होगा ।

(4) शवाधान-भूमि का उत्खनन

शवाधान-भूमि या कब्रों की उत्खनन-विधि तो अपेक्षाकृत सरल होती है, परन्तु उनमें उपलब्ध वस्तुओं के आधार पर अन्त्येष्टि क्रिया का विवरण प्रस्तुत करना कष्टसाध्य होता है । संसार के विभिन्न देशों में समय-समय पर भिन्न-भिन्न प्रथाओं से मृतकों को दफनाने की विधियाँ प्रचलित रही हैं । कहीं तो पूरे शव को यथावत् दफनाया जाता, तो कहीं जब शव का उपभोग कीड़े-मकोड़े, पशु-पक्षी कर लेते तब प्रमुख अस्थियों के संचयन को एक पात्र में रखकर धार्मिक विधि से शवाधान की क्रिया संपन्न की जाती । कहीं तो व्यक्तिगत कब्र मिलते हैं, तो कहीं सामूहिक । कहीं तो सीधे-सादे तरीके से शव को गाड़ दिया जाता, तो कहीं सांसारिक सुखभोग एवं वैभव की सामग्रियों के साथ (जैसा उर के राजकीय शव-कक्षों में होता था) दफनाते । कहीं शवाधान के ऊपर अस्थायी स्मारक बनता, तो कहीं भव्य भवन । इन सभी बातों की जानकारियों को उत्खनन के लिए अनिवार्य समझना चाहिए, अन्यथा उत्खनित समाधि में प्रयुक्त अन्त्येष्टि-विधि का पूर्ण विवरण प्रस्तुत करना सम्भव नहीं होगा ।

भारतीय उत्खनक को प्रायः दो प्रकार के कब्र मिलते हैं— एक तो सपाट श्मशान के रूप में अथवा मकान के फर्श पर और दूसरा महाश्म समाधियाँ (Megaliths) । सपाट कब्रों के कोई चिह्न भूमि के ऊपर नहीं मिलेंगे और ये अधिकतर आबादी-स्थल की खुदाई में मिलेंगे । आबादी-स्थलों का उत्खनन ग्रिड प्रणाली (वर्ग विधि) से सम्पन्न किया जाता है । अतः जब हमें शवाधान का चिह्न मिले, तो ग्रिड के वर्गों के अन्दर ऐसे अतिरिक्त सेक्शन छोड़ना आवश्यक होगा जिनसे कब्रों के समूहों को लम्बवत् सम्बद्ध किया जा सके अथवा एक-एक कब्र का सतर्कतापूर्वक क्षैतिज उत्खनन करना होगा । यदि शव को काष्ठ-शवपेटिका में रखकर दफनाया गया हो तो उसके चिह्नों को पहचानने के लिए सूक्ष्म निरीक्षण करना पड़ेगा[1] । परन्तु यदि हस्तनिर्मित मृद्भांडों में रखकर शव को दफनाया गया होगा तो उसे पहचानना सरल होगा । शवाधानों का कभी अतिक्रमण

१. उदाहरणार्थ देखिए—ह्वीलर, हड़प्पा का उत्खनन विवरण, AI, No. 3.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

तो नहीं हुआ अथवा उनको अतीत में किसी ने खोदा तो नहीं, इन बातों का निर्णय करना भी उत्खनन का महत्त्वपूर्ण काम होता है।

खोदने के लिए हल्के औजार का प्रयोग अच्छा होता है। जब ऐसा जान पड़े कि वहाँ कोई गर्त है जिसमें शव दफनाया गया होगा तो उस स्थान की सफाई करके गर्त के आकार को स्पष्ट करना चाहिए। तत्पश्चात् एक किनारे से धीमे-धीमे खोदना और परतों को क्रम से धीरे-धीरे हटाना चाहिए। किस स्तर को शवाधान के लिए खोदा गया इसका निश्चय करना भी आवश्यक होता है। जब कंकाल दीखे तो उसकी अच्छी तरह सफाई हो। इस बात का ध्यान रहे कि अस्थियों को किसी प्रकार की हानि नहीं पहुँचे। जीर्णतावश थोड़े दबाव से भी हड्डियाँ टूट सकती हैं, अतः चाकू और कोमल ब्रश से कंकाल को साफ करना चाहिए। जब सफाई का काम पूरा हो जाय तो उसका उपलब्ध वस्तुओं के साथ यथास्थान और यथावत् फोटोग्राफ ले लेना चाहिए। इन वस्तुओं के साथ कंकाल का रेखाचित्र भी पर्यवेक्षक को बनाना चाहिए। इस बात का ध्यान रखना आवश्यक होता है कि कब्र में उपलब्ध वस्तुओं में कतिपय ऐसी भी हो सकती हैं जो भरावट की मिट्टी के साथ वहाँ पहुँची हों।

पूरब के देशों में शव दफनाने के लिए शव-कक्षों का निर्माण किया जाता था। ऐसे शवाधन-भूमि के सम्बन्ध में प्रमुख समस्या यह होती है कि इनमें अधिकांश शव-कक्ष अतिक्रमित मिलते हैं। इस प्रकार के शवाधान-कक्ष गुफाओं या कृत्रिम कोष्ठों में मिलेंगे। इनके उत्खनन की सर्वोत्तम विधि वृत्तपाद है, परन्तु इनके आकार के कारण इसमें कठिनाई होगी। इसमें ध्यान देने की प्रमुख बात यही है कि शायद ही कब्रों का कोई स्तर ऐसा हो जो विकृति से बच पाया हो। साधारणतः जब कभी कोई नया कब्र खोदा जाता तो पहले के कब्र की अस्थियाँ और अन्त्येष्टि क्रिया सम्बन्धी सामाग्रियाँ पीछे की ओर सरका दी जातीं। अतः यह निर्धारित करना कठिन हो जाता है कि कौन-कौन सी वस्तुएँ किस कब्र की हैं। परन्तु इनसे सम्बद्ध जो भी प्रमाण उपलब्ध हों उनका रेकर्ड रखना चाहिए और सभी वस्तुओं के प्राप्तिस्थान को प्लान में सही-सही दिखलाना चाहिए। कंकाल के अवशेष को भी सही दिखलाना चाहिए। यदि कोई महत्त्व का स्तर दीखे तो सभी वस्तुओं और कब्र के साथ उसके सम्बन्ध को लिख लेना चाहिए।

महाश्म समाधियों से उन शवाधन-स्थलों का बोध होता है जो विशाल लम्बवत् अश्म-खंड निर्मित वृत्त के अन्दर बने मिलेंगे। कहीं-कहीं समाधि के ऊपर शिला-खंडों की पंक्तियाँ मिलेंगी अथवा वहाँ पर एक ही पत्थर गड़ा होगा। कई मुख्य

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

तत्त्वों में समानता होने के कारण बैरो, कैर्न, डोल्मेन इत्यादि नामधारी गोलाकार कब्रों का उल्लेख इसी वर्ग में किया जाता है, यद्यपि ये महाश्म नहीं कहलाते। महाश्म प्रकार के कब्र बनाने की प्रथा का क्षेत्र बड़ा विस्तृत रहा है। ये यूरोप, अफ्रीका और एशिया के अनेक भूखंडों में पाये जाते हैं। भारत में महाश्म समाधियाँ देश के दक्षिणी छोर से लेकर उत्तर में खानदेश और नागपुर तक के क्षेत्र में पायी गई हैं। कुछ महाश्म प्रकार के कब्र इलाहाबाद जिले में भी मिले। अबतक जितने कब्र इस श्रेणी के मिले हैं उनके निम्न प्रमुख प्रकार हैं :—

(क) वे महाश्म जिनमें शव को कुछ समय तक खुला रख छोड़ने के पश्चात् अस्थि-संचयन को बड़े मृद्भाण्ड में रखकर एक छोटे गर्त में दफ़ना देते थे। गर्त को अश्म-वृत से घेर दिया जाता या ऊपर पत्थर का ढक्कन रख दिया जाता। अन्त्येष्टि सामग्री गर्त में मिलेगी, पर कभी-कभी अस्थि-संचयन पात्र में ही।

(ख) ऐसे गोल कब्र जिनमें अस्थियों को मिट्टी की बनी पादयुक्त शव-पेटिका (sarcophagus) में रखकर दफनाया जाता।

(ग) गर्त-वृत्त शवाधान (pit circle grave)—ब्रह्मगिरि में ऐसे अनेक कब्र मिले जिनमें शव को अन्त्येष्टि के पूर्व काष्ठ-शवपेटिका (ताबूत) में डाल कर एक बड़े खुले गर्त में रखा जाता था। इस प्रकार के शवाधान में अन्त्येष्टि से सम्बन्धित सामग्री गर्त में रख दी जाती थी। अन्त में शवाधान के स्थान की परिधि को एक अश्म-वृत्त से घेर दिया जाता।

(घ) शिला-पट्ट-निर्मित सकक्ष महाश्म—इसके कई उप प्रकार मिलते हैं। इसका सविस्तार वर्णन आगे किया जायगा।

(ङ) पाँच से आठ फुट ऊँचीं शिला-खंडों की पंक्तियों वाले महाश्म—इसमें कोई-कोई शिला-खंड २० फुट तक ऊँचा मिला है। शिला-खंडों की तीन-तीन की तीन, चार-चार की चार या पाँच-पाँच की पाँच जैसी पंक्तियाँ मिली हैं।

(च) मालाबार में चट्टान को काटकर बनाए कोष्ठों में शव को दफनाया जाता था। इन कोष्ठों के ऊपर कहीं-कहीं गुम्बजी (vaulted) छत मिले हैं।

महाश्म समाधि प्रकार के कब्रों की उत्खनन-विधि को ठीक से समझने के लिए शिलापट्ट-निर्मित सकक्ष समाधि की निर्माण-विधि का निम्न वर्णन प्रस्तुत किया जाता है :—सबसे पहले जमीन पर एक गड्ढा खोदा जाता था जिसके अन्दर लगभग सात फुट लम्बा और चार फुट चौड़ा कक्ष अथवा समाधि का विशाल शिलापट्टों से निर्माण किया जाता। कुल ६ शिलापट्ट काम में लाए जाते—पार्श्वों के लिए चार, फर्श और छत के लिए एक-एक। एक ओर के चौड़े भाग के शिलापट्ट पर बलिकर्म के लिए एक गोल छिद्र रहता था। इस छिद्र तक जाने के लिए एक

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

ढलुवाँ मार्ग बनाया जाता। समाधि का निर्माण करते समय इस छिद्र को शिलाफलक से बन्द करके मार्ग को मिट्टी से भर देते। समाधि-कक्ष एक परिखा से घिरा होता था। समाधि-कक्ष और परिखा के मध्य के स्थान को पत्थरों से भरकर और ऊपर से मिट्टी जमाकर ऊँचा बना दिया जाता। पुनः विशाल शिलाखंडों से समाधि को वृत्ताकार घेर दिया जाता (चित्र—१०)।

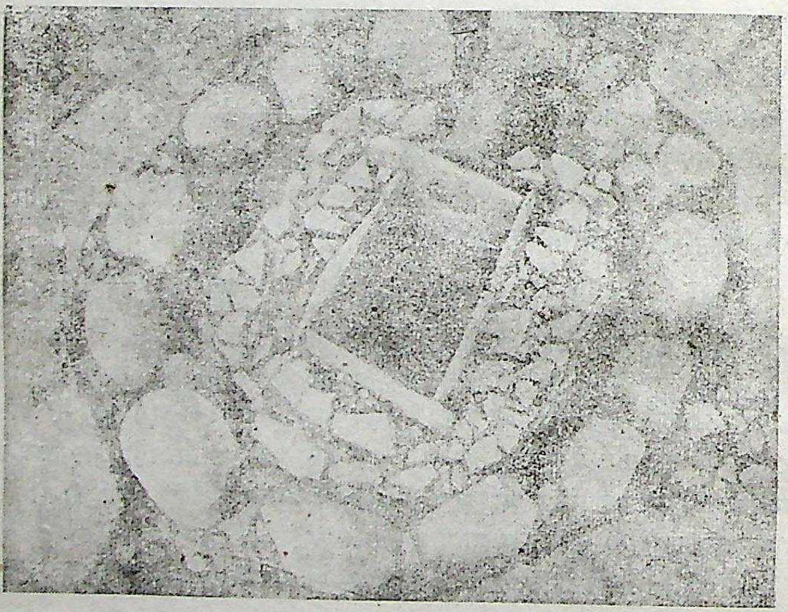

उत्खनित महाश्म समाधि (चित्र—१०)

जैसा कि ऊपर उल्लेख किया गया, वैरो (Barrow) अथवा कैर्न (Cairn) नामक गोलाकार समाधि-स्थल संसार के विभिन्न भागों में पाये जाते हैं। ये समाधियाँ कई माप की बनाई जाती थीं—किसी का व्यास तो कुछ ही फुटों का होता, पर किसी-किसी का ५० फुट तक। इनकी बनावट के विषय में इन मुख्य बातों का ज्ञान पर्याप्त होगा—मूल समाधि प्रायः टीले के मध्य में मिलेगी, परन्तु परवर्ती विस्तार के फलस्वरूप इसमें परिवर्तन की संभावना हो सकती हैं। इसके अनेक रूप मिलेंगे। जमीन में एक गड्ढा होगा जिसके ऊपर मिट्टी या पत्थर का ढेर मिलेगा या ऐसा नहीं भी होगा। शव को काष्ठ अथवा पाषाण की शवपेटिका में दफनाया जाता था। हो सकता है कि निर्माताओं ने किसी पत्थर पर कोई चिह्न बना दिया हो। अतः उनका सूक्ष्म निरीक्षण करना चाहिए। गौण समाधि को मूल टीले में प्रवृष्ट कराकर अथवा टीले के ऊपर बनाकर मिट्टी-पत्थर से ढँक दिया जाता था। अतः गौण समाधि के निर्माण हेतु किये गये भूखनन के स्वरूप तथा विस्तार का बड़ा महत्त्व होता है। इनका उत्खनन सतर्कतापूर्वक करना चाहिए।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

समाधि का मूल-स्थान एक वृत्ताकार परिखा के अन्दर मिलेगा। इस परिखा के आकार तथा विशेषताओं पर विचार करना आवश्यक होता है। इस सम्बन्ध में कई प्रश्न उठते हैं, जैसे—क्या सतह सपाट है ?, कहीं पूजा के लिए बार-बार आने-जाने से तो सतह कठोर नहीं हुआ ?, इत्यादि। इन प्रश्नों का समुचित उत्तर प्राप्त करना चाहिए। फर्श का निरीक्षण करके इस बात का निर्णय कर लेना चाहिए कि कब्र में शव को दफनाकर उसे तत्काल ढँक दिया गया अथवा कुछ समय के लिए उसे खुला रखा गया। कहीं-कहीं मुख्य शवगृह के चारों ओर जमीन से थोड़ा ऊँचा प्रदक्षिणा-पथ बनाया जाता था जिसे एक चौड़ी दीवार से घेर देते थे। इस स्थान पर सविस्तार धार्मिक क्रियाएँ संपन्न की जाती थीं, अतः इसका सूक्ष्म निरीक्षण करना आवश्यक होता है। बैरो अथवा कैर्न की गोलाई के बाहर शिला-खंडों या दीवार का घेरा बनाया जाता था। कहीं-कहीं घेरा बनाने के लिए लकड़ी का प्रयोग होता था (जैसे, ब्रिटेन और हॉलैंड में)।

गोलाकार कब्रों तथा महाश्म समाधियों के उत्खनन के लिए वान गिफेन (Van Giffen, A. E.) द्वारा प्रतिपादित वृत्तपाद विधि को सर्वोत्तम माना गया है (चित्र-११)। अनुभव से यह सिद्ध हुआ कि वृत्तपाद विधि द्वारा गोल कब्रों के उत्खनन से सभी उद्देश्यों की पूर्ति सरलता से हो जाती हैं। इस विधि से उत्खनन के लिए शवाधान के गोल टीले के केन्द्र को समकोण पर काटते हुए दो डोरियों को तानते हैं

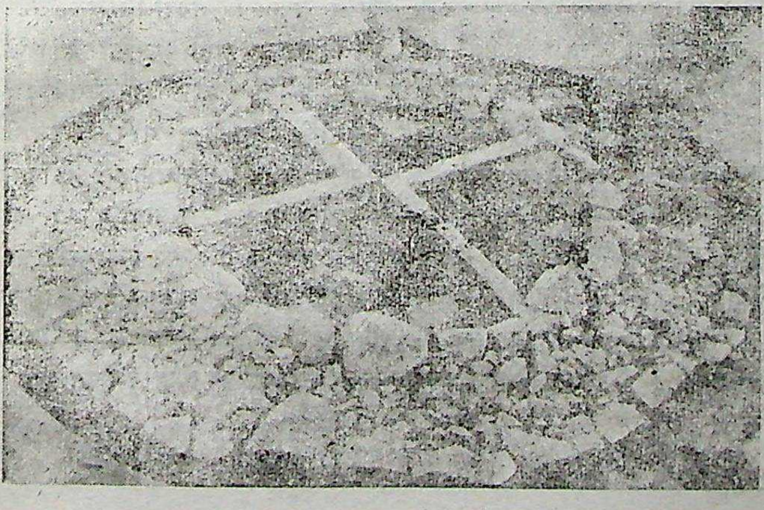

वृत्तपाद विधि से महाश्म समाधि का उत्खनन (चित्र—११).

जिससे वह चार बराबर भागों में अर्थात् वृत्तपादों में विभाजित हो जाता है। डोरी को उत्तर-दक्षिण और पूरब-पश्चिम तानना चाहिए। डोरी के साथ मेढ़ के चिह्न लगा दिये जाते हैं। पहले एक वृत्तपाद को खोदा जाता है, तत्पश्चात् उसके सामने को। प्रत्येक वृत्तपाद के बीच १½'-३' तक की मेढ़ छोड़ी जाती है ताकि इस पार से उस

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

ढलुवाँ मार्ग बनाया जाता। समाधि का निर्माण करते समय इस छिद्र को शिलाफलक से बन्द करके मार्ग को मिट्टी से भर देते। समाधि-कक्ष एक परिखा से घिरा होता था। समाधि-कक्ष और परिखा के मध्य के स्थान को पत्थरों से भरकर और ऊपर से मिट्टी जमाकर ऊँचा बना दिया जाता। पुनः विशाल शिलाखंडों से समाधि को वृत्ताकार घेर दिया जाता (चित्र—१०)।

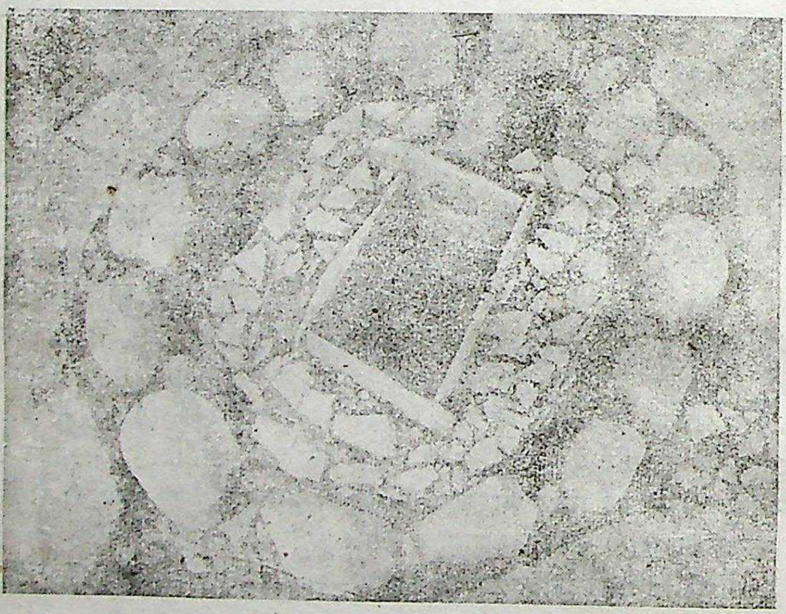

उत्खनित महाश्म समाधि (चित्र—१०)

जैसा कि ऊपर उल्लेख किया गया, बैरो (Barrow) अथवा कैर्न (Cairn) नामक गोलाकार समाधि-स्थल संसार के विभिन्न भागों में पाये जाते हैं। ये समाधियाँ कई माप की बनाई जाती थीं—किसी का व्यास तो कुछ ही फुटों का होता, पर किसी-किसी का ५० फुट तक। इनकी बनावट के विषय में इन मुख्य बातों का ज्ञान पर्याप्त होगा—मूल समाधि प्रायः टीले के मध्य में मिलेगी, परन्तु परवर्ती विस्तार के फलस्वरूप इसमें परिवर्तन की संभावना हो सकती है। इसके अनेक रूप मिलेंगे। जमीन में एक गड्ढा होगा जिसके ऊपर मिट्टी या पत्थर का ढेर मिलेगा या ऐसा नहीं भी होगा। शव को काष्ठ अथवा पाषाण की शवपेटिका में दफनाया जाता था। हो सकता है कि निर्माताओं ने किसी पत्थर पर कोई चिह्न बना दिया हो। अतः उनका सूक्ष्म निरीक्षण करना चाहिए। गौण समाधि को मूल टीले में प्रवृष्ट कराकर अथवा टीले के ऊपर बनाकर मिट्टी-पत्थर से ढँक दिया जाता था। अतः गौण समाधि के निर्माण हेतु किये गये भूखनन के स्वरूप तथा विस्तार का बड़ा महत्व होता है। इनका उत्खनन सतर्कतापूर्वक करना चाहिए।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

समाधि का मूल-स्थान एक वृत्ताकार परिखा के अन्दर मिलेगा। इस परिखा के आकार तथा विशेषताओं पर विचार करना आवश्यक होता है। इस सम्बन्ध में कई प्रश्न उठते हैं, जैसे—क्या सतह सपाट है?, कहीं पूजा के लिए बार-बार आने-जाने से तो सतह कठोर नहीं हुआ?, इत्यादि। इन प्रश्नों का समुचित उत्तर प्राप्त करना चाहिए। फर्श का निरीक्षण करके इस बात का निर्णय कर लेना चाहिए कि कब्र में शव को दफनाकर उसे तत्काल ढँक दिया गया अथवा कुछ समय के लिए उसे खुला रखा गया। कहीं-कहीं मुख्य शवगृह के चारों ओर जमीन से थोड़ा ऊँचा प्रदक्षिणा-पथ बनाया जाता था जिसे एक चौड़ी दीवार से घेर देते थे। इस स्थान पर सविस्तार धार्मिक क्रियाएँ संपन्न की जाती थीं, अतः इसका सूक्ष्म निरीक्षण करना आवश्यक होता है। बैरो अथवा कैर्न की गोलाई के बाहर शिला-खंडों या दीवार का घेरा बनाया जाता था। कहीं-कहीं घेरा बनाने के लिए लकड़ी का प्रयोग होता था (जैसे, ब्रिटेन और हॉलैंड में)।

गोलाकार कब्रों तथा महाश्म समाधियों के उत्खनन के लिए वान गिफेन (Van Giffen, A. E.) द्वारा प्रतिपादित वृत्तपाद विधि को सर्वोत्तम माना गया है (चित्र-११)। अनुभव से यह सिद्ध हुआ कि वृत्तपाद विधि द्वारा गोल कब्रों के उत्खनन से सभी उद्देश्यों की पूर्ति सरलता से हो जाती हैं। इस विधि से उत्खनन के लिए शवाधान के गोल टीले के केन्द्र को समकोण पर काटते हुए दो डोरियों को तानते हैं

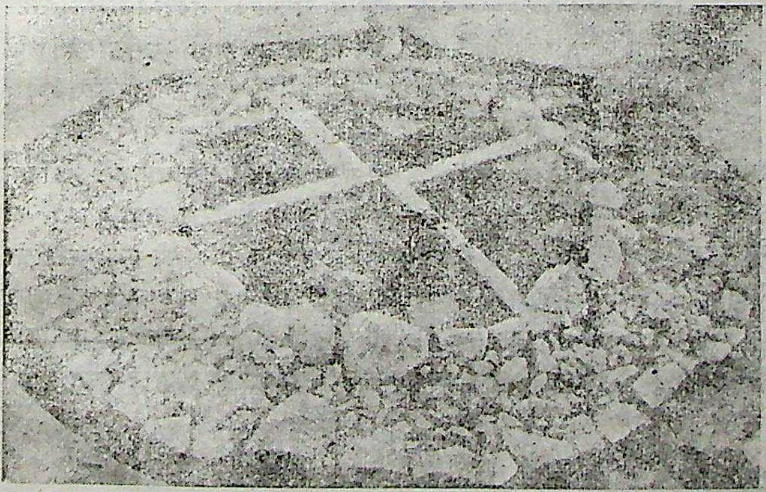

वृत्तपाद विधि से महाश्म समाधि का उत्खनन (चित्र—११).

जिससे वह चार बराबर भागों में अर्थात् वृत्तपादों में विभाजित हो जाता है। डोरी को उत्तर-दक्षिण और पूरब-पश्चिम तानना चाहिए। डोरी के साथ मेढ़ के चिह्न लगा दिये जाते हैं। पहले एक वृत्तपाद को खोदा जाता है, तत्पश्चात् उसके सामने को। प्रत्येक वृत्तपाद के बीच १½'-२' तक की मेढ़ छोड़ी जाती है ताकि इस पार से उस

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

पार तक का आड़ा सेक्शन प्रस्तुत किया जा सके। इस विधि की विशेषता यह है कि इसमें रेकर्ड तैयार करना सरल होता है। पोर्ट-होल शव-कक्ष के उत्खनन में कक्ष के अर्ध-भाग का उत्खनन इस प्रकार करना चाहिए कि पोर्ट-होल दो भागों में सेक्शन पर बँट जाय। इससे हमें इस बात की जानकारी मिल जायगी कि भरावट का कौन-सा भाग छिद्र द्वारा पूरा किया गया। उत्तर-दक्षिण या पूरब-पश्चिम लम्बे मेढ़ पर त्रिदिशात्मक माप के लिए एक-एक फुट की दूरी पर खूँटें गाड़े जाते हैं। उत्खनन आरम्भ करने के पूर्व शवाधान के टीले का एक प्लान बना लेना चाहिए, क्योंकि खोदने के बाद भूमि पर उसका अस्तित्व नहीं रहेगा। हो सकता है प्लान से ऐसे संकेत मिल जायें जिन्हें सामान्य अवस्था में आँखों से नहीं देखा जा सके। दूसरी विधि यह है कि पूरे शवाधान-स्थल का क्रमानुसार खंडशः उत्खनन किया जाय। पिट-रिवर्स महोदय ने इस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया कि गोलाकार कब्रों का उत्खनन इस विधि से सम्पन्न किया जाय कि सम्पूर्ण शवाधान-भूमि को खोद कर उसका पुनर्निमाण करना संभव हो। इस विधि का अतीत में काफी उपयोग किया गया, इसका वर्णन इस प्रकार है—जिस भाग से काम आरम्भ करना होता, उसके समकोण पर बैरो के दोनों ओर खूँटों की दो समानान्तर पंक्तियाँ बनाई जातीं। खूँटे एक-एक फुट पर गाड़े जाते। खुदाई की प्रगति एक-एक फुट के क्रम से बढ़ती। संख्या-चिह्नित खूँटों के बीच सेक्शन छोड़ा जाता। ज्योंही कोई वस्तु उपलब्ध होती, उसका माप लिया जाता। माप लेने की विधि यह होती कि वस्तु प्राप्ति-स्थान के निकटतम दाहिने खूँटे से एक डोरी उसी संख्या के बायें खूँटे तक तानी जाती और भूमि की मूल सतह से प्राप्ति-स्थान की ऊँचाई अथवा गहराई को मापा जाता। शवाधान की विशेषताओं के स्थान निश्चित करने के लिए इस विधि को व्यवहार में सरल पाया गया। परन्तु इसमें यह त्रुटि देखी गई कि जो रेकर्ड बनाए जाते वे टीले की एक अक्षरेखा के समानान्तर हो जाते थे। दूसरी ओर वृत्तपाद विधि में यह त्रुटि नहीं रहती, अतः उसे सर्वथा उपयुक्त माना गया। इन दो विधियों के अतिरिक्त कतिपय नई विधियों का भी विकास किया गया जिनका आवश्यकतानुसार उत्खनक उपयोग करते हैं।

लबे बैरो—लगभग २५००-१५०० ई० पू० के यूरोप में इस श्रेणी के कब्रों के निर्माण की प्रथा प्रचलित थी। गोलाकार समाधियों के समान इनमें भी आकृति, आकार, बनावट एवं व्यवहार सम्बन्धी विविधता देखी जाती है। ये कब्र काफी लम्बे बनाये जाते थे और इनकी चौड़ाई-लम्बाई में एकरूपता नहीं रहती थी—जैसे, कोई बैरो ९० फुट चौड़ा और ११० फुट लम्बा मिला तो कोई ६० फुट चौड़ा और १७९० फुट लम्बा। मोटे तौर पर लम्बे बैरो का निर्माण सामूहिक शवाधान हेतु किया जाता था। साधारणतया शव को यथावत् दफनाकर अंत्येष्टि

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

सम्पन्न की जाती थी, किन्तु कभी-कभी शवदाह के पश्चात्। सर्वप्रथम पिट-रिवर्स महोदय ने डोर्सेट में सन् १८९३ ई० में वैज्ञानिक विधि से एक लम्बे बैरो का उत्खनन किया जो इस श्रेणी के कब्रों के उत्खनकों का मार्गदर्शक माना गया है (ह्वीलर, पृ० १२१)। ह्वीलर महोदय ने इस वर्ग के शवाधानों के उत्खनन के सम्बन्ध में निम्न बातों को ध्यान में रखने का सुझाव दिया है—(१) सर्वप्रथम पूरे अनुलम्ब काट (Longitudinal Section) का रेकर्ड निर्माण। यह सकक्ष बैरो में अधिक आवश्यक होगा; (२) केन्द्रीय अनुलम्ब सेक्शन बनाना; (३) ऐसा भी हो सकता है कि टीले के दोनों अनुलम्ब अर्ध-भागों की बनावट समान हो। अतः यदि दोनों भागों का उत्खनन बारी-बारी से किया जाय तो पहले भाग में प्राप्त परिणाम को दूसरे से सम्बद्ध करना चाहिए। (४) नवाश्म-कालीन समाधियों (बैरो) की अनियमित परिखाओं की खुदाई में कई आड़े सेक्शन रखना आवश्यक होगा।

ह्वीलर महोदय का यह भी विचार है कि यदि बैरो की लम्बाई चौड़ाई से बहुत अधिक न हो, तो वृत्तपाद-विधि से ही उत्खनन करना उत्तम होगा। किन्तु, जिस किसी भी विधि का उपयोग किया जाय, सर्वप्रथम बैरो को दो समान अनुलम्ब भागों में विभाजित कर और नामकरण करके खूंटे गाड़ दिये जायें। इस ढंग से फिलिप्स महोदय ने स्केन्डलबी में उत्खनन किया था, जिसका उन्होंने इस प्रकार वर्णन किया है—बैरो के चारों ओर से १८० × ८० फुट माप का आयताकार समकोण खात लगाकर उसके प्रत्येक कोने में एक खूंटा गाड़ दिया गया। स्थानीय बेंच मार्क निकाल कर खूंटों पर निशान लगा दिये गये। फिर, बैरो का समोच्च (Contour) सर्वेक्षण लिया गया। मूल ऊँचाई के लिए केन्द्रीय सर्वोच्च भाग का अंश छोड़ दिया गया जिसके समकोण पाँच फुट चौड़ा मेढ़ रखा गया।

लम्बे बैरो के उत्खनन के सम्बन्ध में ह्वीलर महोदय निम्न बातों की अनिवार्यता पर जोर देते हैं—(१) निश्चित डेटम रेखा का प्रबन्ध, (२) उत्खनन-पूर्व टीले का समोच्च सर्वेक्षण, (३) उत्खनन के क्रम में अनुलम्ब सेक्शन अथवा सर्वोच्च बिन्दु को कायम रखना, (४) परिखाओं का समुचित सर्वेक्षण, (५) टीले के अधिकांश भाग को प्रकाश में लाना।

एक समय में आधे भाग को ही खोदना चाहिए और यथासंभव अनुलम्ब अक्ष अथवा प्रवेश-अक्ष को आधार बनाकर काम करना चाहिए। चूंकि लम्बा बैरो एक जटिल निर्माण होता है, अतः इसका पूरा उत्खनन करना आवश्यक रहता है। यथासम्भव अधिक संख्या में आड़ा सेक्सन रखना चाहिए। जहाँ तक लेखा-जोखा का प्रश्न है, वह त्रिदिशात्मक विधि द्वारा ही सम्पन्न होना चाहिए।

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

प्रागैतिहासिक स्थलों का उत्खनन

मनुष्य के प्रागैतिहासिक निवास-स्थलों और अन्य प्रकार के स्थलों की उत्खनन विधियों में थोड़ी असमानता होती है। इसके प्रमुख कारणों में पहला यह है कि प्रागैतिहासिक बस्तियों की मिट्टी के मकानों के अवशेष इस अवस्था में नहीं मिलते कि उनकी सही पहचान की जा सके। उनके जो अवशेष ठीक हालत में बच पाते हैं वे केवल मिट्टी के घेरे होते हैं। प्रागैतिहासिक आवासों के फर्शों का निर्माण प्रायः मनुष्य के चलने से कठोरता को प्राप्त हुई भूमि से होता था। इन आवासों की दीवारें लकड़ी बाँस, वेंत इत्यादि के सहयोग से बनाई जाती थीं, अतः उनमें अधिक स्थायित्व नहीं रहता। इस प्रकार के अवशेषों को खात के सीमित स्थान में पहचान पाना दुष्कर होता है। अतः अपेक्षाकृत बड़े क्षेत्र का क्षैतिज उत्खनन इसके लिए उपयुक्त रहता है।

दूसरा कारण यह है कि प्रागैतिहासिक मकानों के प्लान बड़े अनियमित होते थे। अतः यदि एक खात में दीवार का अंश मिले तो अनुमान से यह नहीं कहा जा सकता कि उसकी सीध में शेष भाग दूसरे खात में मिल जायगा। तीसरा कारण यह है कि प्रागैतिहासिक आवासों के सहायक भागों का निर्माण किसी निश्चित व्यवस्था के अनुसार नहीं होता था। इन कारणों से प्रागैतिहासिक आवास-स्थलों के उत्खनन में विशेष सतर्कता की आवश्यकता पड़ती है।

उत्खनक के लिए प्रागैतिहासिक आवासों के आकार-प्रकार एवं उनकी प्रमुख विशेषताओं का ज्ञान अत्यावश्यक होता है। प्रागैतिहासिक मानव कई आकार की झोपड़ियों का निर्माण करता था। मुख्य आवास के बाहर उससे संलग्न कई निर्माण किये जाते थे, जैसे—भांडार, अन्नागार, पशुशालाएँ इत्यादि। स्तम्भ-गर्तों के जो अनेक प्रकार के चिह्न मिलते हैं, उनको भांडारों का आधार माना गया है। संभवतः कई प्रकार के भांडारों का निर्माण होता था। चार-चार स्तम्भों के समूह अन्नागार के आधार प्रतीत होते हैं। इनको संभवतः आजकल के खोंप के समान बनाया जाता होगा। अन्न को पशु-पक्षी तथा नमी से सुरक्षित रखने के लिए यह व्यवस्था की जाती थी। कुछ खूँटे पुआल रखने के मचान रहे होंगे, जैसा कि आज भी देहातों में सर्वत्र देखा जाता है। बहुत से गड्ढे तो खलिहानों के चिह्न हो सकते हैं। कहीं-कहीं गोशालाओं के घेरों के चिह्न भी मिलेंगे। गोशालाएँ आवास से संलग्न अथवा उससे थोड़ा हट कर बनाई जाती थीं और इनके लिए लकड़ी का घेरा अथवा मिट्टी की चहारदीवारी बनाई जाती।

प्रागैतिहासिक आवास प्रायः गोलाकार बनाये जाते थे, परन्तु आयताकार

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

झोपड़ियों के अवशेष भी उपलब्ध होते हैं। गोलाकार झोपड़ियाँ बनाने के लिए सर्वप्रथम गोलाई में लकड़ी या बाँस के खूँटे गाड़ दिये जाते थे। तत्पश्चात् बाँस और बेंत इत्यादि की बनी चटाइयों से दीवार बनाये जाते, जिनपर मिट्टी का लेप चढ़ा दिया जाता था। अन्त में दीवारों को लिप-पोत कर स्निग्ध और सुन्दर बना दिया जाता।

झोपड़ियों के छत शिखरनुमा या सपाट दोनों ही प्रकार के बनाये जाते। भारत के पश्चिमी भाग में जहाँ जलवायु शुष्क है, सपाट छत बनाने की प्रथा प्रचलित थी, परन्तु देश के दक्षिणी और पूरबी क्षेत्रों में जहाँ वर्षा अधिक होती है और जलवायु में आर्द्रता रहती है, शिखरनुमा छतें बनाई जातीं। छतें फूस की बनती थीं।

पहाड़ी क्षेत्रों में फर्श बनाने के लिए प्रस्तर-खंडों को बिछा दिया जाता था, परन्तु मैदानी क्षेत्रों में मिट्टी को पीटकर फर्श के उपयुक्त कड़ा बना दिया जाता। प्रायः इस प्रकार के भी फर्श मिलते हैं जो मनुष्य के निरन्तर चलते रहने से भूमि के कठोर हो जाने से बने।

लकड़ी, बाँस और घास-फूस के प्रागैतिहासिक आवास अल्पकाल में ही जीर्णता को प्राप्त कर जाते थे। लकड़ी के स्तम्भों को बार-बार बदलना पड़ता था क्योंकि उनका जो भाग जमीन के अन्दर गड़ा होता वह शीघ्र ही सड़ जाता। यदि कहीं अग्निकांड हो गया, तो पूरी बस्ती ही जलकर राख हो जाती। जिस स्थल पर बस्ती सुदीर्घ काल तक आबाद रही, वहाँ आवासों के नवीकरण के चिह्न मिलते हैं। सामग्रियों के संचय के लिए निर्मित गर्तों या गड्ढों के दोषपूर्ण हो जाने पर उनका उपयोग कूड़ाखाने के रूप में होने लगता था। कभी-कभी इन गड्ढों में संचय के एकाधिक काल दीखेंगे। कभी-कभी पशुशालाएँ आवास से दूर बनाई जातीं।

यह आवश्यक नहीं है कि आवासों या पशुशालाओं के जो चिह्न स्तम्भ-गर्त, अर्थात् लकड़ी के स्तम्भों को गाड़ने के गड्ढों के रूप में मिलेंगे वे समकालीन ही हों। इसका निर्धारण स्तर-विन्यास द्वारा होगा, परन्तु मात्र इसीसे काम नहीं चलेगा। कालक्रम निर्णय के लिए अनुमान, गर्तों में उपलब्ध वस्तुओं और स्तरीय प्रमाण—इन तीनों का आश्रय लेना पड़ता है।

प्रागैतिहासिक स्थलों के उत्खनन की भी सर्वोत्तम विधि ग्रिड प्रणाली मानी गई है, परन्तु उपर्युक्त समस्याओं को ध्यान में रखकर सतर्कतापूर्वक काम करना चाहिए जिससे कहीं त्रुटि न रह जाय। इस बात का ध्यान रहे कि उत्खनित खातों में ज्योंही फर्श के अवशेष की विद्यमानता का आभास मिले उसकी तत्काल सफाई की जाय।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

यदि फर्श का विस्तार पार्श्ववर्ती खात की ओर हो तो उसका उत्खनन भी पहले खात के बराबर किया जाय, ताकि स्तम्भ-गर्त के चिह्नों के आधार पर आवास के प्लान को समझना सम्भव हो। परन्तु मेढ़ को अनिवार्य कारण के बिना नहीं हटाना चाहिए। यदि किसी आवास के छायांकन की आवश्यकता होगी, तो उस अवस्था में मेढ़ को हटाना पड़ेगा। प्रागैतिहासिक आवासों के अवशेषों की अल्पता के कारण छायांकन की सहायता से ही उनके प्लान का पुनर्निर्माण करना सुविधाजनक होता है।

उत्खनक के लिए यह अत्यावश्यक है कि वह आवासों के जो भी चिह्न उपलब्ध हों उनका सूक्ष्म निरीक्षण करे। स्तम्भ-गर्त के चिह्नों या किसी पंक्ति को पहचानने के लिए प्रत्येक स्तर के सतह को छूरे से खरोंच कर ब्रश से अच्छी तरह साफ करना जरूरी होता है। वस्तुतः स्तम्भ-गर्त के चिह्नों को पहचानना अनुभव की बात है। साधारणतः जब स्तम्भ-गर्त दीखें तो भरावट की मिट्टी निकाल कर उनकी सफाई करनी चाहिए। सफाई के पश्चात् गड्ढे गोलाकार दीखेंगे, परन्तु यदि किसी स्तम्भ को तराश कर गाड़ा गया हो तो गड्ढा कुछ-कुछ आयताकार होगा। यदि स्तम्भों को ठोंककर जमीन में गाड़ा गया होगा तो नीचे की ओर ढाल मिलेगा। परन्तु यदि गड्ढे खोदकर स्तम्भ गाड़ें गये होंगे तो गड्ढों के किनारे कंकड़-पत्थर के बने मिलेंगें।

अब प्रश्न उठता है कि झोपड़ियों के आकार का पता कैसे लगाया जाय? इस प्रश्न का उत्तर फर्शों के आकार से मिलेगा। फर्शों के अभाव में कठिनाइयाँ अवश्य उत्पन्न होती हैं, परन्तु बिल्कुल कच्चे फर्श की कड़ी मिट्टी की समानता झोपड़े के बाहर नहीं मिलेगी। अतः कठोर भूमि के विस्तार तक ही झोपड़ी की सीमा मान लेनी होगी। जहाँ तक दीवारों का प्रश्न है, उनके विषय में खूँटों के अवशेषों से पता लग जायगा। हल्की मिट्टी के धब्बों से अथवा ऊपरी परतों के उन पर धँस जाने से गर्त पहचान में आयेंगे। इनमें संचित स्तरों का सूक्ष्म निरीक्षण करना चाहिए। इनमें एक अथवा अनेक काल की सामग्रियों का संचय हो सकता है और वहाँ महत्त्वपूर्ण पुरातात्त्विक प्रमाण उपलब्ध होने की संभावना रहती है। इनके उत्खनन की उत्तम विधि यह होगी कि भरावट के आधे भाग को स्तरतः खोदा जाय और शेष भाग का जो सेक्शन बनेगा उसका रेखांकन कर लिया जाय। यदि गर्त बहुत छोटा हो, तो थोड़ा-थोड़ा करके इस प्रकार खोदना चाहिए—आधे भाग का २५-५० सेंटीमीटर उत्खनन और उत्खनित भाग के सेक्शन का रेखांकन। तत्पश्चात् दूसरे अर्ध-भाग का उत्खनन और इसी प्रकार तल तक पूर्ण करना। इतना अवश्य स्पष्ट रहना चाहिए कि खात के किस उत्खनित स्तर से गर्त का उत्खनन शुरू

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

किया गया। इसके लिए सभी स्तरों को सावधानी के साथ साफ करते रहना चाहिए। गर्त को खोदने के पूर्व ही खात के सेक्शन से उसे सम्बद्ध कर देना चाहिए जिससे सामान्य क्रम में उसके स्थान को समझना आसान हो जाय।

प्रागैतिहासिक स्थलों के उत्खनन में चित्र को स्पष्ट करने के उद्देश्य से चुने हुए भूभाग का पूर्णतः उत्खनन करने की आवश्यकता पड़ जाती है, परन्तु इसके साथ ही स्तर-विन्यास का रेकर्ड भी बनाते जाना अनिवार्य होता है। उत्खनित स्तर के सम्पूर्ण आवासों, कूड़ा-गर्तों (कूड़ाखानों), स्तम्भ-गर्तों आदि की परी पहचान और नियोजन (Plan) तथा चित्रांकन द्वारा रेकर्ड पूर्ण हो जाने पर ही नीचे के स्तर को खोदना चाहिए। प्रथम तो खात लगाना चाहिए, परन्तु यदि आबादी का स्तर आ जाय तो पहले के समान पूर्ण क्षैतिज उत्खनन।

यदि आवासों के अवशेष एक-दूसरे के ऊपर मिलेंगे, तो स्तर-विन्यास के आधार पर कालक्रम का निर्णय हो जायगा, परन्तु यदि निर्माण में अवक्रमण के प्रमाण न मिलें और सम्बद्ध स्तरों में पूर्व-स्तरों का क्रमशः क्षरण हो गया हो, तो क्रम-निर्णय के लिए अनुमान का पर्याप्त आश्रय लेना पड़ेगा। इस सम्बन्ध में मृद्भांड या अन्य सामग्रियाँ जिनमें नवीन प्रभाव परिलक्षित हों, आवास के फर्श के भाग या वहाँ आबादी के जो प्रमाण उपलब्ध हों, या गर्त के संचय में उपलब्ध प्रमाण आदि के सहयोग से इस समस्या का समाधान करना होगा।

प्रागैतिहासिक मानव-समुदायों का विवरण प्रस्तुत करना

पुरातत्त्व का प्रमुख लक्ष्य प्रागैतिहासिक संस्कृतियों का विवरण प्रस्तुत करना है, अतएव यहाँ संक्षेप में इस विषय पर विचार करना समीचीन होगा। जीवन के विभिन्न पहलुओं, जैसे—आखेट, खाद्यान्नग्राह, कृषि, पशुपालन, आवास-निर्माण, वाणिज्य-व्यवसाय, सामाजिक संगठन, भाषा, कला, जादू-टोना, धर्म, युद्ध, कानून-कायदे इत्यादि पर जो भी प्रमाण विभिन्न रूपों में उपलब्ध होते हैं, उनके आधार पर प्रागैतिहासिक मानव-समुदायों का विवरण प्रस्तुत करना संभव होता है। इसके लिए यह आवश्यक है कि उपलब्ध प्राचीन अवशेषों के साथ वर्तमान आदिम मानव-समुदायों की जीवन-पद्धतियों का भी अध्ययन किया जाय। ये समुदाय भी अब आधुनिकता से अछूते नहीं रह गए हैं और उनके समाज में बड़ा परिवर्तन हो गया है, फिर भी उनमें कई ऐसी विशेषताएँ पायी जाती हैं जिनसे आदि मानव-समुदायों के विवरण प्रस्तुतीकरण में सहयोग मिलता है। परन्तु इस कार्य में पर्याप्त सावधानी अपेक्षित है।

प्रागैतिहासिक मानव-समुदायों का विवरण प्रस्तुत करने के लिए पुरातत्त्वज्ञ मानवजातिशास्त्र तथा सामाजिक नृतत्व-शास्त्र का सहारा लेता है। नृतत्वशास्त्रियों

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

नें इस बात का अध्ययन किया है कि विशिष्ट मानव-समुदायों ने किस प्रकार अपने को वातावरण के अनुकूल ढाला और अपनी संस्कृति के अनुरूप किस तरह उपलब्ध साधनों का उपयोग किया। वे इस पर भी विचार करते हैं कि समान परिस्थितियों में किसी वस्तु के क्या-क्या प्रयोग हो सकते थे। आदिम मानव-समुदायों के विभिन्न तौर-तरीकों से भिज्ञ हो जाने से पुरातत्त्वज्ञ उपलब्ध उपकरणों के उपयोग का अनुमान लगाने में समर्थ होता है।

मनुष्य सभ्यता का निर्माता तो है परन्तु वस्तुतः वह प्रकृति का एक अंग है और सभी संस्कृतियों के विकास में प्रकृति का गहरा प्रभाव पड़ा है। भूमि, जलवायु, वनस्पतियाँ और पशु-पक्षी इन सबों ने मिलकर मानव-संस्कृतियों को प्रभावित किया है। यही कारण है कि जब हम भारतीय संस्कृति पर विचार करते हैं तो यहाँ की नदियों, वनों एवं पर्वतों के साहचर्य में विकसित आध्यात्मिकता को सर्वोपरि पाते हैं। जब यूरोपीय संस्कृति का प्रसंग आता है तो वहाँ के कठोर शीत और समुद्री प्रभाव में विकसित संघर्षशील संस्कृति की बात की जाती है। वस्तुतः प्रकृति तथा मनुष्य का अन्योन्याश्रय सम्बन्ध रहा है। कहीं तो अनुकूल प्राकृतिक वातावरण ने मनुष्य को बसने के लिए आकर्षित किया तो कहीं की प्रतिकूल परिस्थतियों ने उसे भागने को मजबूर कर दिया। दूसरी ओर मनुष्य ने कई प्राकृतिक बाधाओं को दूर कर अपने अनुकूल वातावरण का निर्माण कर लिया। उसने अपने प्रयास से घने जंगलों को लहलहाते खेतों में बदल डाला, दलदल से पानी निकाल कर उसे कृषियोग्य बना दिया; कई जंगली जानवरों को पालतू बनाया और कितनों को समाप्त कर दिया। अतः किस मानव-समुदाय ने किस हद तक प्रकृति को नियंत्रित किया और किस सीमा तक स्वयं प्रभावित हुआ, उसने किन-किन वनस्पतियों का उपयोग किया, परिस्थितिवश किस अनाज का उत्पादन किस हद तक किया गया, इत्यादि बातों को ध्यान में रखकर अनुमान लगाये जाते हैं।

जीवन की सबसे बड़ी आवश्यकता है, भोजन। जहाँतक आदिम मानव-समुदायों का प्रश्न है, उनका जीवन भोजन उपलब्ध करने की अनुकूल अथवा प्रतिकूल परिस्थितियों द्वारा अत्यधिक प्रभावित होता था। किसी समुदाय के स्थान-विशेष पर बसने का प्रमुख कारण होता था वहाँ भोजन की सहज उपलब्धि। जिस स्थान पर जलाभाव नहीं रहता, जहाँ कन्द-मूल-फल, पशु-पक्षी, मछलियाँ इत्यादि आसानी से मिल जातीं, जहाँ की भूमि कृषियोग्य होती, वह स्थान मनुष्य के निवास के लिए सर्वथा अनुकूल पड़ता। मनुष्य का जीवन एक तरफ तो भूमि की प्रकृति और जलवायु पर बहुत कुछ निर्भर करता था, दूसरी ओर मानव-समुदाय की प्रकृति पर नियंत्रण-क्षमता के विकास ने समाज की प्रगति का मार्ग प्रशस्त किया। ज्यों-ज्यों मनुष्य ने खाद्य सामग्रियों के

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

उत्पादन के साधनों को बढ़ाया, उसकी आबादी में वृद्धि होती गई। मानव-समुदायों के आर्थिक जीवन का विवरण प्रस्तुत करते समय इस प्रश्न का उत्तर खोजना अपेक्षित होता है कि वे आखेट, मछली पकड़ना और कन्द-मूल-फल संग्रह द्वारा जीवन-निर्वाह करते थे अथवा कृषि एवं पशुपालन द्वारा। यदि वे कृषि नहीं करते थे तो यह पता लगाना चाहिए कि उनके भोजन उपलब्ध करने के साधनों में किसका महत्त्व सर्वाधिक था और यदि वे कृषक थे तो उस विषय का सविस्तार विवरण प्रस्तुत करने का प्रयास करना चाहिए। कहीं-कहीं आखेट, कृषि एवं पशुपालन की मिश्रित व्यवस्था पर मानव-समुदाय निर्भर करता था।

जहाँ तक आखेट, मछली मारने और खाद्य-संग्रह का प्रश्न है, पशु-पक्षियों और मछलियों के अस्थि-अवशेषों तथा वनस्पतियों के अवशेषों के आधार पर इनका प्रमाणिक विवरण प्रस्तुत करना संभव होता है। यह जानना भी आवश्यक होता है कि उपलब्ध अस्थि-अवशेष खाने के लिए मारे गये जंगली जानवरों के हैं अथवा पालतू पशुओं के। अस्थियों में हथियारों के प्रहार-चिह्न के मिलने से यह निश्चित करना सभव होता है कि पशु आखेट में मारा गया होगा अथवा नहीं।

पशु-पक्षियों को मारने और पकड़ने की विधियों का पता प्रयुक्त शस्त्रास्त्रों तथा प्रागैतिहासिक चित्रों से लगता है। हथियारों में पत्थर के बने भालों और तीरों के नोंक की प्रधानता थी। प्रागैतिहासिक स्थलों में उपलब्ध प्राणियों के अस्थि-पंजरों में संलग्न भालों और तीरों की प्राप्ति इसके महत्त्वपूर्ण प्रमाण हैं। जिन पशुओं के शरीर में ये हथियार प्रवेश कर गये और वे शिकारियों के हाथ न लगे उनके कंकालों में इन्हें संलग्न पाया जाता है। इसका दूसरा महत्त्वपूर्ण प्रमाण उपलब्ध होता है, प्रागैतिहासिक कला के माध्यम से। प्रागैतिहासिक मानव की आवासीय गुफाओं में जो चित्र विद्यमान हैं उनमें उन्हीं पशु-पक्षियों को चित्रित किया गया है जिनका आखेट भोजन उपलब्ध करने अथवा अन्य रूप में उपयोग करने के लिए किया जाता था। इन चित्रों में आखेट के दृश्य भी अंकित हैं जिनसे मृगया की विधियों एवं उनमें प्रयुक्त हथियारों का पता लगता है। पूर्वी स्पेन की गुफाओं में उपलब्ध चित्रों में पंखलगे बाण लिये धनुर्धारियों की पंक्तियों के सम्मुख पशुओं को हाँक कर लाते हुए दिखलाया गया है।[1] इससे यह स्पष्ट होता है कि तत्कालीन आखेट में सामूहिक सहयोग की आवश्यकता पड़ती थी। तत्कालीन समाज की जानकारी के लिए ये चित्र बड़े महत्त्व के हैं, क्योंकि इनमें जीवन के बहुमुखी दृश्य चित्रित हैं—कहीं मछली मारने का दृश्य है, तो कहीं स्त्रियों द्वारा शहद संग्रह का।

जब नवाश्मकालीन स्थलों का उत्खनन होता है तो वहाँ के समाज का विवरण प्रस्तुत करने के लिए पशु-पक्षियों तथा वनस्पतियों के अवशेषों पर सर्वाधिक ध्यान

१. Grahame Clark, Archaeology and Society, पृ० १८४-८५।

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

दिया जाता है। पालतू और जंगली जानवरों के अनुपातों के विश्लेषण द्वारा तत्कालीन समाज के आर्थिक एवं सांस्कृतिक अवस्थाओं का पता लगाया जाता है। इस प्रकार के अध्ययन से अलग-अलग सांस्कृतिक स्थितियों के समुदायों के सम्बन्धों का भी निश्चय किया जाता है। इसी आधार पर विशेषज्ञों ने यह निर्णय किया कि आखेट तथा मछली पकड़ने पर जीवन निर्वाह करने वाली एर्टबोल (Ertebolle) नामक जाति ने जो डेनमार्क की थी, मध्य-यूरोप के नवाश्म संस्कृति के कुछ तत्वों को अंगीकार किया। परन्तु उत्तरकाल में जब एक पूर्ण विकसित नवाश्म संस्कृति का वहाँ आगमन हुआ तो दोनों साथ-साथ पनपते रहे। पालतू और वन्य जन्तुओं के अस्थि-अवशेषों के अनुपात-विश्लेषण से ही यह निष्कर्ष निकला कि समशीतोष्ण यूरोप में पूर्व विकसित आखेट और मछलीमार प्रधान जीवन पद्धति के अस्तित्व के साथ नूतन अर्थ-व्यवस्था का मार्ग प्रशस्त हुआ। पुनः भिन्न-भिन्न कालों के भिन्न-भिन्न पालतू जानवरों के अनुपात-विश्लेषण से उपलब्ध परिणामों को पराग-विशेषज्ञों द्वारा प्रस्तुत भूमि-उपयोग सम्बन्धी इतिहास से सम्बद्ध किया जा सकता है।

कृषक मानव-समुदायों के आर्थिक जीवन में पशुपालन का अत्यधिक महत्त्व रहा है। अतएव उत्खनन के क्रम में उपलब्ध पशुशालाओं के घेरों के चिह्नों की स्थिति पर विचार करना आवश्यक होता है। विष्ठा-संचय की मात्रा से घेरे में रखे पालतू जानवरों की संख्या का अनुमान लगाया जा सकेगा। पशुओं का यातायात के लिए किस सीमा तक उपयोग किया जाता था इस पर भी विचार किया जा सकता है, परन्तु यह स्पष्ट है कि पशुपालन का मूल उद्देश्य कृषि-सम्बन्धी था। इस बात का भी पता लगाना चाहिए कि पशुओं को आवास के एक छोर पर बांधा जाता था या उनके लिए अलग घेरे बनाये जाते।

आबादी-स्थल में उपलब्ध प्रमाणों से इसका भी निश्चय करना संभव होगा कि वहाँ के निवासियों में चल कृषि की परिपाटी का प्रचलन था अथवा अचल की। कृषि के उपकरण, खेतों के प्लाट और जोत के कतिपय चिह्न आदि से कर्षण-विधियों का पता लगता है। प्रागैतिहासिक युग में हल और कुदाल लकड़ी के बनते थे, अतः इनके सम्बन्ध में उपलब्ध चित्रों और मिट्टी के खिलौनों पर निर्भर करना पड़ता है। कौन-कौन अनाज ऊपजाए जाते थे, इस विषय में अनाज के जो अधजले नमूने उपलब्ध होते हैं उनका बड़ा महत्त्व है। फसल काटने के उपकरणों के नमूने भी काफी संख्या में मिलते हैं। सबसे पहले हड्डी और लकड़ी के मूठ वाले फ्लिंट के हँसुवे बनाये गये थे।

खान-पान के सम्बन्ध में पशुओं के अस्थि-अवशेषों और बर्तनों में भोजन के अवशिष्टांशों के परीक्षण से जानकारी प्राप्त की जाती है।

प्रागैतिहासिक आवासों पर विचार करते समय कई बातों को ध्यान में रखना आवश्यक होता है। स्थान-विशेष के प्राकृतिक वातावरण, जलवायु तथा

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

उपलब्ध निर्माण सामग्री के अनुरूप वहाँ आवासों का निर्माण किया जाता है। इनके अतिरिक्त समाज के गठन तथा लोगों के तकनीकी ज्ञान का भी प्रभाव पड़ता है। अतः मकानों के अध्ययन से किसी समुदाय की समाज-व्यवस्था और तकनीकी प्रगति का भी पता लगाने का प्रयास किया जाता है। धार्मिक, सैनिक, आर्थिक, पारिवारिक आवास इत्यादि विविध उद्देश्यों से मकान बनाये जाते हैं। इसलिए किसी भी मकान के सम्बन्ध में उसके उपयोग पर विचार करना परमावश्यक होता है। क्या मकान सामाजिक कार्यों के लिए बनाया गया था अथवा व्यक्तिगत उपयोग के लिए? क्या सभी प्रकार के सामाजिक कार्य एक ही मकान में किये जाते थे या उनके लिए कई मकानों की आवश्यकता पड़ती थी? क्या बुनाई, मृद्भांड-निर्माण, लोहारगिरि, बढ़ईगिरि इत्यादि के काम अलग-अलग कारीगरों द्वारा सम्पन्न होते थे अथवा आवश्यकतानुसार सभी परिवारों में इन कामों को पूरा किया जाता था? क्या किसी आवास में एक ही परिवार रहता अथवा उसमें एकाधिक परिवारों के चूल्हे जलते? इन सभी प्रश्नों का संतोषप्रद उत्तर प्राप्त करना आवश्यक होता है। इनसे तत्कालीन समाज के श्रम-विभाजन पर भी प्रकाश पड़ेगा।

घुमक्कड़ जातियों और स्थिर जीवन व्यतीत करने वाली जातियों के आवासों में असमानता होती है। प्रागैतिहासिक आखेटजीवी समुदाय पहाड़ी इलाकों में तो प्रायः प्राकृतिक आवासों का आश्रय लेते, परन्तु वे ही समतल प्रदेशों में अस्थायी आवास बनाया करते, और जहाँ शिकार सुलभ होता, वहाँ वे स्थायी रूप से बस जाते। जहाँ तक कृषकों का प्रश्न है, वे तो आरम्भिक कठिनाईयों के बावजूद किसी स्थान पर बसना ही पसन्द करते, अतः उनके आवासों में स्थायित्व का गुण रहता।

प्रागैतिहासिक बस्तियों के आकार का अध्ययन भी कम महत्व का नहीं है। उन दिनों की बस्तियों के आकार वहाँ की अर्थ-व्यवस्था द्वारा निर्धारित होते थे। आखेट-जीवी तथा मछलीमार समुदायों की बस्तियों का आकार छोटा होता, परन्तु कृषक-समुदायों की बस्तियाँ काफी बड़ी होतीं—उनके बड़े-बड़े ग्राम-नगरों के अवशेष मिलते हैं। इस सम्बन्ध में कई अन्य तथ्यों का भी प्रभाव पड़ता था। कृषक सामान्यतया घनी बस्तियों में बसना पसंन्द करते थे, परन्तु ऐसा भी होता था कि वे कभी तो नगरों के निकट पशुपालन करते, तो कभी सुरक्षा की दृष्टि से पहाड़ी किलों में चले जाते। यद्यपि किसी स्थान पर बसने के लिए जल की सुलभता को सर्वाधिक महत्व दिया जाता था, परन्तु कभी-कभी परिस्थितिवश मनुष्य ऐसे स्थानों में भी बसने को बाध्य हो जाता जहाँ जलाभाव रहता। इस अवस्था में वर्षाजल का संग्रह किया जाता अथवा किसी जलाशय से जल लाया जाता।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

आदि-मानव का वस्त्र था—चर्म, परन्तु इसके नमूने उपलब्ध नहीं हैं। अतः इस विषय में चमड़ा छीलने के उपकरणों तथा प्रागैतिहासिक चित्रों पर निर्भर करना पड़ता है। परन्तु प्रागैतिहासिक कृषकों की पोशक के विषय में पर्याप्त जानकारी प्राप्त होती है, क्योंकि प्रागैतिहासिक कब्रों में चमड़े और ऊन के परिधानों के पूर्ण अवशेष मिले हैं। इसके अतिरिक्त चित्रों से उपलब्ध सामग्री को भी कम नहीं कहा जायगा।

मानव-समुदायों की उपजीविका की आवश्यकताओं के अनुरूप यातायात के साधनों का विकास हुआ होगा। मछलीमार जातियों ने सर्वप्रथम नावों का उपयोग शुरू किया होगा। परन्तु कृषक समुदायों ने बैलगाड़ी और रथ विकसित किये। तत्पश्चात् मनुष्य के तकनीकी ज्ञान के विकास के साथ इनमें परिवर्तन होते गये। यातायात के साधनों के प्राचीनतम अवशेषों तथा उपलब्ध चित्रों और खिलौनों के नमूनों के आधार पर उनका विवरण प्रस्तुत किया जाता है। शवाधान-स्थलों में शव के साथ दफनाए गये रथ और गाड़ियों के अवशेष पूर्ण रूप में मिले हैं। यातायात के साथ व्यापार का सम्बन्ध हैं। व्यापार के विषय में विचार करने के लिए पहली आवश्यकता इस बात की होती है कि जहाँ जो वस्तु मिली हो, वह स्थानीय थी अथवा बाह्य, इसका निश्चय किया जाय। यदि वस्तु स्थानीय हो, तो उसका कच्चा माल कहाँ से आया और यदि विदेशी हो तो वह स्थान कौन रहा होगा, इन बातों का निश्चय करना होगा। वस्तु पत्थर की बनी हो अथवा धातु की, उसका वैज्ञानिक परीक्षण भी आवश्यक होगा।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

तिथि-निर्धारण

ऐतिहासिक महत्त्व की वस्तुओं की तिथि के विषय में विद्वज्जन एवं जनता की समान रुचि देखी जाती है। किसी भी प्राचीन वस्तु को देखकर दर्शक के मन में पहली जिज्ञासा उस वस्तु की तिथि के विषय में उत्पन्न होती है। अतः पुरातत्त्वज्ञ का यह कर्त्तव्य होना चाहिए कि वह जन-साधारण की इस सामान्य जिज्ञासा का समाधान करे। जब जनता को यह बतला दिया जायगा कि अमुक वस्तु अमुक शताब्दी या युग की है, जैसे—अश्मयुगीन, हड़प्पाकालीन, बुद्धकालीन, मौर्ययुगीन, गुप्तकालीन, पाँचवीं शताब्दी ई० सन् की इत्यादि, तो वह सन्तुष्ट हो जायगी। परन्तु, विशेषज्ञ के लिए तिथि का महत्त्व कुछ और होता है। सर्वसम्मत तिथि को इतिहास का मेरुदण्ड कहा गया है, लेकिन मात्र तिथि इतिहास का आदि और अन्त नहीं माना जा सकता। पुरातत्त्वज्ञ का प्रमुख लक्ष्य यह होना चाहिए कि वह प्राचीन संस्कृतियों के विकासक्रम का निर्णय तथा उनके पारस्परिक सम्बन्धों के महत्त्व का यथार्थ मूल्यांकन करे। [illegible] पुरातत्त्वज्ञ चाइल्ड महोदय के शब्दों में "पुरातात्त्विक सामग्रियों (अथवा प्रमाणों) को कई क्रमबद्ध सांस्कृतिक युगों अथवा उपयुगों की शृंखलाओं में विभाजित किया जा सकता है। समय की ये शृंखलाएँ एक ऐसे ढाँचे का निर्माण करती हैं जिनके अन्तर्गत पुरातत्त्व की घटनाओं को, अर्थात् मानवीय क्रियाओं की उपलब्धियों को क्रमबद्ध करके संजोया जा सकता है। पुरातत्त्व-शास्त्र में युगविशेष की संज्ञा का प्रयोग तब किया जा जाता है जब किसी कालविशेष में किसी प्रदेश में एक ही प्रकार की वस्तुएँ प्रचलित रही हों। पुरातत्त्वज्ञ का यह प्रथम कर्तव्य है कि वह जिस क्षेत्र में कार्यरत हो वहाँ के सांस्कृतिक युगों का क्रम निर्धारित करे।[1] इस प्रकार के क्रम-निर्धारण को पुरातत्त्व में सापेक्ष-तिथि या सांस्कृतिक अनुक्रम (Relative chronology of cultures) कहा जाता है। इससे विभिन्न संस्कृतियों के क्रमिक विकास की रूपरेखा का ज्ञान तो प्राप्त हो जाता है, परन्तु इससे न तो किसी संस्कृति के अस्तित्व की निश्चित अवधि बतलाना और न उन संस्कृतियों का किसी संवत्सर विशेष के संदर्भ में तिथि-निरूपण संभव है। जब विस्तृत भूखण्ड में उपलब्ध अनेक संस्कृतियों की क्रमबद्धता में समानता स्थापित हो जाती है तो पुरातत्त्व की दृष्टि से एक निश्चित तिथिक्रम निर्धारित हो जाता है, जो पुरातत्त्वज्ञ का प्रथम उद्देश्य रहता है। परन्तु, इस तिथिक्रम को संवत्सर के संदर्भ में आँकना अनिवार्य होता है, क्योंकि इसके

१. Childe, Piecing Together the Past, पृ० ५८।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

बिना किसी भी भूभाग का ऐतिहासिक विवरण प्रस्तुत करना संभव नहीं।

मानव-सभ्यताओं की क्रमबद्धता निश्चित करने की कई विधियाँ प्रचलित हैं जिनमें ये प्रमुख हैं—प्रकार-विज्ञान (Typology), स्तरीकरण-सिद्धान्त (Stratification), प्रागैतिहासिक वातावरण का अध्ययन, जैसे—जलवायु, पुरा-वनस्पति (Palaeobotany), समुद्रीय जल-तल परिवर्तन (Changes of Sea-level) इत्यादि, जीवाश्म साक्ष्य (Fcossil evidence), पराग विश्लेषण (Pollen Analysis), फ्लोरिन परीक्षण (Fluorine Test), सह-सम्बन्धीकरण तथा समसामयिकीकरण (Cross Dating)। आवश्यकतानुसार इन विधियों का अलग-अलग अथवा कई का एक साथ उपयोग किया जाता है। इन साधनों के माध्यम से किसी स्थान की सांस्कृतिक क्रमबद्धता के निर्धारण के पश्चात् आवश्यक हो जाता है कि वहाँ की प्राचीन संस्कृतियों की निकटवर्ती क्षेत्र की समकालीन संस्कृतियों से सम्बद्धता स्थापित की जाय। इस लक्ष्य की पूर्ति होती है—सांस्कृतिक समानताओं के अध्ययन द्वारा। जब एकाधिक स्थानों में समान सांस्कृतिक तत्वों की उपलब्धि हो, तो उन्हें सम्बद्ध संस्कृतियों की समकालीनता का प्रमाण मानना चाहिए। एकाधिक क्षेत्रों से उपलब्ध समान पुरातात्त्विक तत्त्व समसामयिकीकरण के प्रमाण माने जाते हैं और इनके आधार पर दो भिन्न-भिन्न स्थानों में विकसित संस्कृतियों की क्रमबद्धता का निर्धारण संभव होता है।

तिथि-निर्णय की विधियों का दूसरा वर्ग है—निरपेक्ष तिथि-विधि। इससे किसी पुरातात्त्विक वस्तु की तिथि वर्षों की संख्या या संवत्सर-विशेष के परिप्रेक्ष्य में निश्चित करना संभव होता है। इसकी प्रमुख विधियाँ हैं—भूतात्विक, जैविक भौतिक-रासायनिक और खगोलिय।

यद्यपि तिथि-निर्धारण की परम्परागत सभी विधियों की परिस्थिति के अनुसार उपयोगिता है, परन्तु इसके लिए आज मुख्यतः वैज्ञानिक साधनों का सहारा लिया जाता है और इसमें अनेक जटिलताएँ आ गई हैं। अब यह साधारण विषय नहीं रहा, परन्तु विज्ञान के विकास के पूर्व यूरोप में इसे एक अति सामान्य विषय माना जाता था। ईसाई धर्मगुरुओं की दृष्टि में इस भूतल पर मानव-अस्तित्व की प्राचीनता ४००४ वर्ष ई० पू० से अधिक हो ही नहीं सकती थी। यूरोप में आर्क बिशॉप यूशर (Archbishop Ussher) महोदय की इस मान्यता का बोलबाला था कि ईश्वर ने ईसा के ४००४ वर्ष पूर्व संसार की सृष्टि की। बहुत दिनों तक इतिहासज्ञ ४२४१ ई० पू० को इतिहास की प्राचीनतम तिथि मानते रहे। क्योंकि मिश्र के क्रमबद्ध इतिहास का विवरण चतुर्थ सहस्राब्दी की अन्तिम शताब्दी तक प्रस्तुत करना

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

संभव हो सका, अतः इस मत का प्रतिपादन किया गया कि उस देश में सर्वप्रथम ४२४१ ई० पू० में पांचांग बना। समय की इसी सीमित अवधि में मानव-सभ्यता के विकास की विभिन्न कड़ियों को क्रमबद्ध जोड़ने की चेष्टा बहुत दिनों तक की जाती रही। परन्तु जब विज्ञान ने ऐसी सामग्रियों को विद्वानों के समक्ष प्रस्तुत किया जिनके विकास की प्रक्रिया की व्याख्या समय की इस अल्पावधि में करना संभव नहीं हो सका तो इस विषय पर रुढ़िगत धारणाओं का परित्याग करना पड़ा। जहां तक मानव-सभ्यता के विकास की कालावधि का प्रश्न है, भारतीय दृष्टिकोण पाश्चात्य विचार-जगत् की अपेक्षा विज्ञान के अधिक निकट रहा है। प्राचीन भारत के मनीषियों ने सृष्टि के विकास को करोड़ों वर्षों की लम्बी समयावधि के परिप्रेक्ष्य में स्वीकार किया। अतः प्राचीन भारतीय विचार-जगत् का यह दृष्टिकोण तत्कालीन पाश्चात्य विचारधारा से बहुत आगे था यह असंदिग्घ है।

वैज्ञानिकों एवं पुरातत्त्वज्ञों ने विज्ञान की प्रगति के साथ-साथ तिथि-निर्धारण की विधियों को निरंतर पूर्णता प्रदान करने का प्रयास किया, और विगत पैंतीस वर्षों की अवधि में अनेक वैज्ञानिक विधियों का विकास किया गया जिनमें प्रमुख हैं—फ्लोरिन परीक्षण, वृक्ष-वलय विश्लेषण, अनुवर्षस्तरी विश्लेषण, पराग विश्लेषण, रेडियो कार्बन—१४ (C14), पोटाशियम-आरगन (K40), ऊष्मिकदीप्ति तथा पुराचुम्बकत्व विधियाँ। आज अणु-विज्ञान का युग है और कार्बन—१४ तथा अन्य भौतिक-रासायनिक विधियों के विकास ने तिथि-तिर्धारण के क्षेत्र में क्रांति ला दी है। इन विधियों ने न केवल अनेक विवादों को समाप्त कर दिया, अपितु हमारी तिथि-सम्बन्धी कई भ्रान्तियों को भी दूर किया। प्राचीन विधियों के आधार पर जो तिथियाँ अब तक सर्वमान्य समझी जाती रही हैं उनको नवीनतम विधियों की कसौटी में परख कर तत्सम्बन्धी कई संशोधन भी किये जा चुके हैं। परन्तु यह नहीं समझ लेना चाहिए कि परम्परागत विधियाँ सर्वथा लुप्त हो गईं अथवा उनकी अब कोई उपयोगिता ही नहीं रही। कार्बन-पद्धति की भी अपनी सीमाएँ हैं, अत; कई बातों में परम्परागत विधियों का महत्त्व अब भी कायम है। यहाँ तिथि-निर्धारण की प्रमुख परम्परागत तथा नवीनतम विधियों का निम्न विवरण प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है :—

प्रकार-विज्ञान(Typology)—यह विधि इस सिद्धान्त पर आधारित है कि जिन वस्तुओं के निर्माण की तकनीक में तथा उनके स्वरूप में साम्य होगा वे सम-सामयिक होंगी। वस्तुओं के निर्माण की तकनीक में जो विकास अथवा ह्रास होता है उसमें एक निश्चित क्रम देखा गया है, अतः सांस्कृतिक क्रम निर्धारित करने के लिए प्रकार-विज्ञान का महत्त्व है। प्रागैतिहासिक मानव-समुदायों के तकनीकी विकास के अध्ययन में इसका विशेष महत्त्व है, क्योंकि पृथ्वी की सतह में उपलब्ध उपकरणों

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

के अध्ययन का यही प्रमुख आधार है। मृद्भांडों के तकनीकी विकास का अध्ययन भी प्रकार-विज्ञान के सिद्धान्त पर आधारित है। तिथिक्रम निर्धारित करने के लिए इसकी उपादेयता को सर्वप्रथम पेट्री महोदय ने अनुभव किया और उन्होंने मिस्र के प्रागैतिहासिक मृद्भांडों का प्रकार-विद्या के आधार पर सापेक्ष तिथिक्रम निश्चित किया। इस आधार पर ही अनेक उत्खनित सभ्यताओं को सम्बद्ध करना संभव हुआ है।

परन्तु प्रकार-विद्या के प्रयोग की भी अपनी सीमा है। पहली बात तो यह है कि इसके द्वारा काल-विशेष के आन्तरिक विकास का ही बोध होता है। दूसरी समस्या यह है कि प्रकार-विद्या के आधार पर प्रायः यह निश्चित करना कठिन हो जाता है कि उसे काल-विशेष में किसी संस्कृति के विकास अथवा ह्रास का द्योतक माना जाय। अनेक वस्तुओं के निर्माण-तकनीक का विकास अथवा ह्रास चक्रिक रूप में हुआ है, अतः इस अवस्था में पुरातत्त्वज्ञ को बड़ी सावधानी से काम लेना पड़ता है। इस समस्या के समाधान के लिए स्तरीकरण का सहारा लिया जाता है। यदि प्रकार-विज्ञान और स्तरित परतों से उपलब्ध साक्ष्यों में साम्य हो गया तो वह प्रामाणिक माना जायगा।

स्तर-विन्यास के आधार पर तिथि-क्रम निर्धारण—स्तर-विन्यास का सिद्धान्त भूगर्भशास्त्रियों की देन है। सर्वप्रथम उन्होंने ही इसके महत्त्व को समझा, तदनन्तर पुरातत्त्व के लिए इसकी उपयोगिता प्रमाणित होने पर तिथिक्रम निर्धारित करने के लिए इसका व्यापक प्रयोग होने लगा। सामान्यतः किसी भी उत्खनित स्थल की संस्कृतियों के सापेक्ष तिथि-क्रम के निर्णय का पहला आधार होता है—स्तर-विन्यास। स्तरीकरण-सिद्धान्त के अनुसार यदि पृथ्वी की सतह के नीचे उथल-पुथल न हुआ हो तो निम्नतम स्तर में उपलब्ध वस्तुएँ प्राचीनतम होंगी और क्रमशः ऊपर के स्तरों की सामग्रियाँ उत्तरकालीन होंगी। परन्तु जैसा कहने में लगता है वैसा ही व्यवहार में यह विधि सरल नहीं है। इसमें अनेक व्यावहारिक कठिनाइयाँ उत्पन्न होती हैं जिनका पुरातत्त्वज्ञ को समाधान करना पड़ता है। इसमें ध्यान देने की पहली बात तो यह है कि सभी स्थानों तथा परिस्थितियों में स्तरों का संचय एक समान नहीं होता। कन्दराओं में संचय की रफ्तार अन्य स्थानों की अपेक्षा धीमी रहती है। ढाल और समतल स्थानों तथा गड्ढों और पहाड़ों में संचित स्तरों में भी अन्तर होता है। इस कारण सीमित क्षेत्र के अन्वेषण एवं उत्खनन के परिणाम भ्रामक हो सकते हैं। कभी-कभी विस्तृत भूगर्भीय उथल-पुथल के परिणामस्वरूप स्तरों में उलट-फेर से भी समस्याएँ उत्पन्न हो जाती हैं। नदी-तटों तथा हिमायित प्रदेशों के स्तर-विन्यास का अध्ययन प्रायः पर्यवेक्षण पर आधारित होता है, अतः वहाँ विस्तृत क्षेत्र के सूक्ष्म एवं सतर्क अन्वेषण के अनन्तर ही निष्कर्ष निकालना अपेक्षित होगा।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

नदी-घाटियों में सभी कालों के संचय एक ही स्थान पर नहीं मिलते। प्राकृतिक परिस्थितियों के अनुसार कहीं किसी काल की सामग्रियों का संचय मिलेगा तो कहीं किसी अन्य काल या कालों का। सदा दीर्घकालीन आबादी वाले स्थानों में विशेष रूप में स्तर-वैभिन्न देखने को मिलता है। उत्खनन के क्रम में उत्खनक को इस समस्या का समाधान करना पड़ता है, क्योंकि उसे सभी स्तरों अथवा सभी कालों के संचयों का एक स्थान पर जमाव नहीं मिलता। इस अवस्था में पुरातत्त्वज्ञ उत्खनित खातों के स्तरों के क्रम का वैज्ञानिक क्रम निर्धारित करता है और वह उनमें उपलब्ध वस्तुओं के स्थान का स्तर से सम्बन्ध भी स्थापित करता है। आबादी वाले स्थानों के स्तरों में अनेक जटिलताएँ देखी जाती हैं, अतः उनके क्रम-निर्धारण के लिए सतर्कतापूर्वक पर्यवेक्षण आवश्यक होता है। स्तर-क्रम निर्धारण के द्वारा किसी स्थल में विकसित विभिन्न संस्कृतियों के क्रम का तथा संस्कृति-विशेष के क्रमिक विकास का निर्णय मात्र होता है। परन्तु जब किसी स्तर में ज्ञात-तिथि की कोई वस्तु मिल जाती है तो उसके आधार पर निरपेक्ष तिथि निर्धारित करना संभव होता है।

भूतात्त्विक विधि (Geological Method)—पुरातत्त्व में भूतत्त्व-विज्ञान के महत्त्व पर पहले ही विचार व्यक्त किया गया है। मनुष्य ने अपने उद्भव के समय तथा तदनन्तर जिन-जिन विभिन्न वातावरणों में जीवन-यापन किया उन सबों के प्रमाण का धरती ने अपने गर्भ में सुरक्षित रूप में संचय कर रखा है। पृथ्वी की सतह में अनेक प्रकार के परिवर्तन हुए हैं— जलवायु, वनस्पति, प्राणि-जगत् आदि में बड़े ही महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हुए। यह विषय इतना व्यापक है कि इसका अध्ययन एक विषय-विशेष के अन्तर्गत संभव नहीं, अतः भूतत्त्व-विज्ञान, जलवायु-विज्ञान, प्राणि-शास्त्र, पुरावनस्पति-शास्त्र, जीवाश्म-विज्ञान इत्यादि विषयों से सम्बद्ध परिवर्तनों का तत्-तत् विषयों के अन्तर्गत अध्ययन किये गये हैं, जो पुरातत्त्व के लिए बड़े महत्त्वपूर्ण हैं। इनसे न केवल प्रगैतिहासिक मानव के जीवन-यापन की पद्धति का ज्ञान उपलब्ध होता है, वरन् तिथि-निर्धारण के लिए भी बहुमूल्य प्रमाण मिलते हैं।

जब कोई प्राचीन वस्तु किसी निश्चित भूगर्भीय परत में उपलब्ध होती है तो तिथि-निर्धारण की दृष्टि से उसको महत्त्वपूर्ण माना जाता है। पुराश्मकालीन संस्कृतियों के तिथि-निर्धारण में भूगर्भीय परतों को विशेष महत्त्व प्रदान किया गया है। प्रायः यह देखा गया है कि पुराश्म उपकरण नदी-वेदिकाओं के ग्रेवल (Gravels) तथा कन्दराओं के वायु-संचित मिट्टी (Aeolin) सदृश पृथ्वी की ऐसी परतों में पाये जाते हैं जिनसे प्रतिनूतन विद्या में दक्ष भूतत्त्वज्ञों को उनके तिथि-निर्धारण में सुविधा होती है। यह बात सर्वमान्य है कि मानव-अस्तित्व एवं उसके क्रिया-कलापों के निर्विवाद प्रमाण चतुर्थक-काल (Quaternary Period) के पूर्व की भूगर्भीय परतों

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

में उपलब्ध नहीं होते। चतुर्थक-काल के दो प्रमुख विभाजन किये गये हैं—प्रातिनूतन (Pleistocene) एवं सर्वनूतन (Holocene)। भारत में मध्य-प्रातिनूतन स्तरों में मनुष्य द्वारा प्रयुक्त उपकरण मिलते हैं, परन्तु अफ्रीका में पूर्व एवं मध्य-प्रातिनूतन के बीच के स्तरों में। प्रातिनूतन काल में पृथ्वी की सतह पर अत्यन्त महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हुए जिनमें सर्वाधिक महत्त्व हिमयुगों के प्रादुर्भाव को दिया गया है। इस धरती की सतह पर चार हिमयुगों एवं तीन अंतर्हिमयुगों का आविर्भाव हुआ था। जब हिमयुग का आगमन हुआ तो ध्रुवीय प्रदेशों तथा हिमालय एवं आल्प्स इत्यादि पर्वत-श्रृंखलाओं में जो हिम-भाण्डार हैं उनमें इतनी अधिक वृद्धि हो गई कि शनैःशनैः उनका विस्तार मैदानी इलाकों तक हो गया, फलतः कहीं-कहीं तो समतल क्षेत्र की नदियाँ तक बर्फ की चादरों से ढँक गईं। प्रकृति की इस लीला के प्रभाव बड़े व्यापक एवं दूरगामी हुए। अप्रत्याशित शीतवृद्धि के फलस्वरूप पशु-पक्षी तथा मनुष्य को प्राण-रक्षा के लिए उष्ण प्रदेशों की ओर भागना पड़ा और जो समय पर ऐसा नहीं कर सके वे काल-कवलित हो गये। भीषण शीत ने पेड़-पौधों को भी विनष्ट कर दिया। परन्तु यह स्थिति स्थायी नहीं रही। सूर्य के ताप से धीरे-धीरे हिम-खंड पिघलने लगे और भीषण शीत का स्थान पुनः उष्णता ने ले लिया—स्थिति पूर्ववत् हो गई। इस तरह बर्फ की चादरों के खिसकने और पिघलने का क्रम लाखों वर्षों तक चलता रहा और एक के बाद दूसरा हिमयुग आता गया। हिमयुगों के मध्य के उष्ण जलवायु वाले काल को अन्तर्हिमयुग कहते हैं।

बर्फ की चादरों के लाखों वर्षों तक अनवरत खिसकते और पिघलते रहने के फलस्वरूप अनेक भूतत्त्वीय परिवर्तन हुए, जैसे—हिमनदी उच्चयन (मोरेन) का निर्माण; नदी-वेदिकाओं का निर्माण, नदी-घाटियों में वायुरज-संचय इत्यादि। इन सबों का तिथि-निर्धारण के लिए महत्त्व है, क्योंकि भूतत्त्वज्ञों ने इन संचयों का काल-निर्धारण कर रखा है। अतएव उपर्युक्त भूतत्त्वीय उत्पादनों के साथ मनुष्य से सम्बद्ध अवशेषों के सम्बन्धों को निश्चित करना बड़ा उपयोगी होगा। मोटे तौर पर भूवैज्ञानिकों द्वारा निर्धारित प्रातिनूतन युग को पुराश्मयुग के समकालीन माना जाता है। अतः आदि मानव तथा तत्कालीन उपकरणों के अध्ययन का कार्य उन पुरातत्त्वज्ञों द्वारा कुशलतापूर्वक संपन्न किया जा सकता है जो स्वयं भूतत्त्व-विज्ञान में दक्ष हों, अथवा जिन्हें भूतत्त्वज्ञों का सहयोग उपलब्ध हो।

प्रातिनूतन युग की जलवायु से तत्कालीन जीवजन्तु बड़े प्रभावित हुए। वैज्ञानिकों ने इस बात का पता लगा लिया है कि हिमयुग तथा अन्तर्हिमयुग के जीवजन्तुओं में असमानता थी। अतः इस विषय का अध्ययन भी तिथि-निर्धारण के लिए उपयोगी माना गया। पुराश्मकालीन कन्दराओं में उपलब्ध पशुओं के अस्थि-

अवशेषों से इस बात का पता लगाना संभव है कि वे शीत जलवायु में जीवित रहनेवाले पशुओं की अस्थियां हैं अथवा उनकी जिनके जीवन के लिए उष्ण जलवायु उपयुक्त रही होगी। इस आधार पर पशुओं के अश्मीभूत अस्थियों का काल-निरुपण करना संभव होता है। उदाहरणार्थ—इस प्रकार के अध्ययन से यह निश्चित हुआ कि लेवालाजीय संस्कृति I तथा II के समकालीन परतों में शीत जलवायु में जीवित रहनेवाले जन्तुओं, जैसे—मैमथ, गैंडे, टिकॉर्हिमस, रेंडीयर, इत्यादि की अस्थियां पायी जाती हैं। लेवालाजीय III और IV में हिप्पोपोटेमस और पुरातन (antiqus) हाथी सदृश उष्ण जलवायु के पशुओं की हड्डियाँ मिलती हैं। इससे इस बात की पुष्टि होती है कि तृतीय हिमयुग के अधिकांश काल में तथा तृतीय अंतर्हिमयुग में लेवालाजीय संस्कृति पनपती रही।

सर्वनूतन युग का आविर्भाव आज से लगभग बारह सहस्राब्दियों के कुछ पूर्व हुआ और अभी भी यही युग है। इस युग में भी पृथ्वी की जलवायु में अनेक परिवर्तन हुए। यद्यपि पूर्वकालीन परिवर्तनों की तुलना में सर्वनूतन युग के जलवायु-परिवर्तन तीव्र नहीं माने जायेंगे, परन्तु वनस्पति-जगत् पर उनके दूरगामी प्रभाव पड़े। यूरोप में इस विषय का विशेष अध्ययन हुआ है जिससे वहाँ की वनस्पति के क्रमिक विकास के प्रामाणिक तथ्य उपलब्ध हैं। पश्चिमी तथा दक्षिणी यूरोप में वनस्पतियों के विकास के कई क्रमिक युगों का प्रादुर्भाव हुआ। अंतिम हिमयुग के पश्चात् वहाँ आर्कटिक युग आया जिसकी प्रमुख विशेषताएँ शुष्क तथा ठंढी जलवायु और वनस्पतियों में तुन्द्रा की प्रमुखता थी। तदनन्तर आगमन हुआ उष्ण तथा आर्द्र जलवायु के युग का जब pine और birch अस्तित्व में आए। इसके पश्चात् बोरियल (Boreal) युग में जलवायु उष्ण हो गई और अब नये वातावरण के कारण पूर्वकालीन पेड़-पौधों की सूची में hazel, elm, lime और oak (वंजु) नाम की नई जातियां सम्मिलित हो गई। जलवायु की आर्द्रता तथा उष्णता में एक बार पुनः वृद्धि हुई जो धीरे-धीरे कम हो गई। इस युग के पेड़-पौधों में प्रमुखता रही—oak, elm और lime की, तदनन्तर उप-बोरियल युग में जलवायु पहले की अपेक्षा अधिक शुष्क तथा ठंढी हो गई जिससे elm लुप्त हो गया और beech व्यापक हुआ। अंत में उपअटलांटिक युग में जलवायु आर्द्र तथा कम उष्ण हो गई और वनस्पति ने अपना वर्तमान स्वरूप धारण कर लिया।

अनुवर्षस्तरी विश्लेषण (Varve Analysis) विधि—इस विधि के प्रवर्तक बैरन जेरार्ड द गीर (Baron Gerard De Geer) थे, जिन्होंने सर्व प्रथम स्टॉकहोम में इस पद्धति से तिथि-निर्धारण का प्रयास किया था। अनुवर्षस्तरी अथवा वार्व इस प्रकार के अवसादन को कहते हैं जिनमें

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

प्रतिवर्ष क्रमशः दो प्रकार के युग्मित संचय स्तरित हुआ करते हैं—जैसे एक परत बालू की और दूसरी चिकनी मिट्टी की अथवा एक चूना पत्थर की तथा दूसरी चर्ट के चूर्ण की। इन संचयों की नियमित क्रमबद्धता के कारण यह अनुमान लगाया गया कि ये नियमित प्राकृतिक परिवर्तनों का निर्देश करते हैं, अतः प्रतिवर्ष के युग्मित स्तरों की गणना द्वारा सम्पूर्ण संचय की अवधि का पता लगाना संभव होगा।

अनुवर्षस्तरी का निर्माण उन क्षेत्रों में होता है जहाँ हिमनदियाँ स्थिर-जल में जल-विसर्जन करती है। ग्रीष्म-काल में वर्फ के पिघलने के कारण हिमनदियों से अत्यधिक मात्रा में जल-विसर्जन किया जाता है। हिमनदियों के जल मृं जो बालू और चिकनी मिट्टी होती है वह स्थिर जल में फैलकर धरातल में धीरे-धीरे जम जाती है। जमने की क्रिया में अपेक्षाकृत भारी सामग्री पहले और शीघ्र जमती है। हल्की और सूक्ष्म सामग्री जाड़े में सतह पर पहुँचती है जब जल का विसर्जन कम हो जाता है और जलाशय जमने लगते हैं। अब जमाव का दूसरा दौर शुरू होता है। इस प्रकार एक वर्ष में युग्मित संचय की प्रक्रिया पूरी होती है। पुनः गृष्मकाल में इस प्रक्रिया की पुनरावृत्ति होती है।

हिमनदियों के पिघले जल द्वारा लायी सामग्री से अनुवर्षस्तरी का निर्माण होने के कारण सभी अवस्थाओं में इनका सम्बन्ध अन्तिम-मोरेन (end moraine) से होगा। प्रायः अन्तिम-मोरेन के पीछे खिसकने के साथ अनुवर्षस्तर भी उसी अनुपात में खिसकते रहते हैं। अतः अनुवर्षस्तरी के अध्ययन से इसका अनुमान लगाना सम्भव होगा कि अन्तिम-मोरेन कितने वर्षों तक एक ही स्थान में रहा तथा सम्पूर्ण स्तर-संचय में कितने वर्ष लगे। अनुवर्षस्तरों की तिथि निर्धारित करने की दो विधियाँ है। प्रथम के अनुसार अनुवर्षस्तरों का सम्बन्ध ज्ञात-तिथि भूतात्त्विक स्तर से किया जाता है। इसमें हिमयुगों तथा अंतर्हिमयुगों के संचय विशेष सहायक होते हैं। हिमयुगों और अंतर्हितयुगों की जलवायु हिम के विस्तृत तथा संकुचित होने पर आधारित थी, अतः उनको हिमनदी के अन्तिम उच्चयन तथा अनुवर्षस्तरी से सम्बन्धित किया जा सकता है। इस प्रकार अनुवर्षस्तरी का सम्बन्ध जलवायु की किसी विशेष घटना से स्थापित करके उसको पुरातात्त्विक स्तर से सम्बद्ध कर सकते हैं। दूसरी विधि में स्तरों के आन्तरिक साक्ष्य के आधार पर तिथि-निर्धारण करते हैं। पीट तथा अन्य जैविक अवसाद (organic sediments) के वानस्पतिक अन्वेषण द्वारा यह निर्धारित किया जा सकता है कि जलवायु के किस पक्ष में उन स्तरों का निर्माण हुआ। पुनः उनका सम्बन्ध हिमयुगों एवं अंतर्हितयुगों से स्थापित करके उनकी तिथि निर्धारित की जाती है। अशुद्धियों से बचने के विचार से दोनों विधियों का आश्रय लिया जाता है। परन्तु सिद्धान्त में ये विधियाँ

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

जितनी सरल प्रतीत होती हैं उतनी ही व्यवहार में नहीं है। इसमें अनेक कठनाइयों का सामना करना पड़ता है जिनमें सबसे अधिक परेशानी अनुवर्षस्तरों की गणना के सम्बन्ध में होती है।

परागं विश्लेषण विज्ञान (Palynology, Pollen Analysis)—वनस्पति-विकास का एक संक्षिप्त विवरण ऊपर प्रस्तुत किया गया है। परन्तु पेड़-पौधों के भेद-बाहुल्य एवं संमिश्रता के कारण यह विषय बड़ा जटिल है। वनस्पतियों में भेद के प्रमुख कारण हैं—क्षेत्र-विशेष की ऊँचाई, मिट्टी की बनावट, जलवायु इत्यादि। वनस्पति-जगत् की इन विशेषताओं के अध्ययन को पराग-विश्लेषण विज्ञान की संज्ञा दी गयी है। पराग अथवा पुष्परज प्राय अविनाशी वस्तु है। किसी-किसी मिट्टी में, जैसे पीट और बालुका में तो यह सहस्रों वर्षों तक संरक्षित रह जाता है। इस कारण पृथ्वी की अर्वाचीन भूगर्भीय परतों के प्राचीन स्तरों में करोड़ो पराग-कण सुरक्षित पड़े हैं। प्रत्येक वृक्ष के पुष्परज की प्रकृति दूसरों से भिन्न हुआ करती है। पृथ्वी की परतों में उपलब्ध पुष्प-रज के विश्लेषण द्वारा वनस्पतियों के विकास का अध्ययन पराग-विज्ञान का विषय है।

डेनमार्क, हॉलैण्ड आदि कई देशों में पराग-विज्ञान की बड़ी उन्नति हुई है। जिससे इन देशों की वनस्पतियों के विकास का विस्तृत विवरण उपलब्ध हो गया है। अब यह बतलाना सम्भव है कि प्रत्येक शताब्दी में इन देशों की वनस्पतियों का क्या स्वरूप था। कहीं-कहीं तो प्रागितिहास-कालीन पशुओं जैसे—रेंडीयर, मैमथ इत्यादि की नासिका-रंध्रों में श्वास द्वारा पहुँचे पराग सुरक्षित पाये गये हैं, जिनके विश्लेषण से तत्कालीन वनस्पति का स्वरूप-निर्धारित किया गया। इस विज्ञान की उपयोगिता के सम्बन्ध में एक उदाहरण पर्याप्त होगा—फ्रांस के वानस्पतिक विकास के विषय में आज यह ज्ञात है कि मध्य massif में pine और birch का प्रादुर्भाव wurm के तृतीय हिमयुग के पश्चात् हुआ, परन्तु Parisian Basin में इनके अस्तित्व के प्रमाण बोरियल-पूर्व युग में अर्थात् ८००० वर्ष पूर्व मिलते हैं।[1]

वृक्ष-वलय विश्लेषण विधि (Dendrochronology, Tree Ring Analysis)—जब किसी पेड़ के तने को काटा जाता है तो उसकी मोटाई में प्रायः ऐसा वलयसमूह दीखता है जिसका केन्द्र बिन्दु एक ही होता है। ये वलय पेड़ के वार्षिक विकास के चिह्न माने जाते हैं। प्रत्येक वलय का अपने निकटतम से स्पष्ट भेद दीखता है क्योंकि वसन्तऋतु में तो अपेक्षाकृत बड़े आकार के और हल्के रंग कोषाणुओं का निर्माण होता है, किन्तु गृष्म में इनका आकार छोटा और रंग के गाढ़ा होता है। वृक्ष-कोषाणुओं के निर्माण की इस विशेषता के फलस्वरूप

1. Brion, M., The World of Archaeology, vol. I, p. 20

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

गृष्मकालीन तथा वसन्तकालीन वलयों का भेद स्पष्ट हो जाता है। वृक्षों के विकास संकेतक इन वलयों की मोटाई गृष्मकालीन तथा वसन्तकालीन उष्णता एवं आर्द्रता पर निर्भर करती है। वस्तुतः वृक्ष-वलयों की मोटाई का सौर-विकिरण की घनता से प्रत्यक्ष सम्बन्ध है। एक ही क्षेत्र के समकालीन वृक्षों में निर्मित वलयों में अद्भुत साम्य देखा जाता है। एक वृक्ष के तने के वलयों के पतले और चौड़े आकार दूसरे वृक्ष के वलयों के आकारों से मेल खाते हैं। तिथि-निर्धारण मूलतः इस तथ्य पर आधारित होता है कि सभी वृक्षों का सम-सामयिकीकरण विधि द्वारा तिथि निर्धारित की जाती है। सापेक्ष तिथि-निर्धारण हो अथवा निरपेक्ष (संवत्सरीय) दोनों के मूल में सम-सामयिकीकरण का-ही सिद्धान्त लागू होता है। यदि किसी ज्ञात तिथि के वलयों से गणना प्रारम्भ की जाय तो उस वृक्ष की आयु का पता लगाना, जिसके काटे जाने की तिथि ज्ञात हो, सम्भव हो जायगा। इसी आधार पर अतीत की गणना को आगे बढ़ाया जायगा। यह गणना इस प्रकार की जायगी— मान लीजिए कि एक वृक्ष १९८० ई० में काटा गया और उसके परीक्षण से इस बात का पता चलता है कि वह तीन सौ वर्ष पुराना है और उसके वलय १६८० ई० तक बनते हैं, अर्थात् १६८०-१९८० ई० तक। अब दूसरा वृक्ष भी मिलता है जो १७३० ई० में काटा गया था। जब दोनों वृक्षों के वलयों की तुलना की जायगी तो ५० वलय समान मिलेंगे। यदि दूसरे वृक्ष की आयु भी पहले वृक्ष के बराबर ही रही होगी तो पुनः २५० वर्ष अतीत के वलयों का क्रमनिर्माण सम्भव हो जायगा —

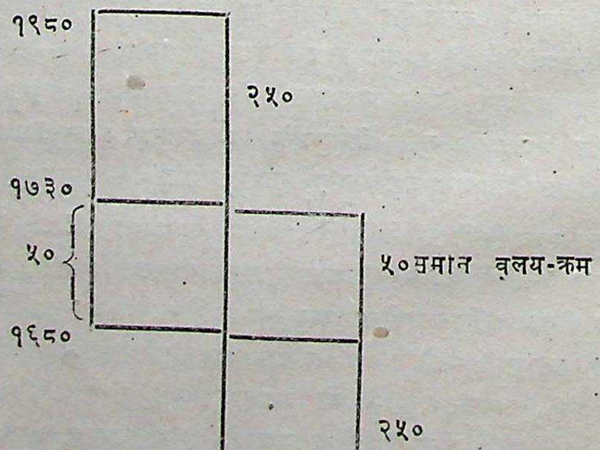

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

जिन देशों में वनों की अधिकता है, वहाँ प्राचीनतम वृक्षों के तनों के अध्ययन में कठिनाइयाँ नहीं हैं, अतः उन देशों में सैकड़ों अथवा हजारों वर्ष पुराने तनों के वलय-मंडलों का क्रम-निर्माण संभव हो जाता है। कैलिफोर्नियाँ में प्राचीन वृक्षों की बहुलता है, अतः वहाँ वैज्ञानिकों ने तीन हजार वर्ष पूर्व तक के वृक्षवलय-क्रम का निर्माण कर लिया है। इस प्रकार अन्यत्र भी कार्य किये गये और किये जा रहे हैं। यह विज्ञान ऋतु-परिवर्तन एवं सौर-विकिरण के अध्ययन के लिए भी लाभप्रद सिद्ध हुआ है। वृक्षवलय-क्रम विधि से दक्षिण-पश्चिम संयुक्त राज्य अमेरिका के पूर्व-कोलम्बिया संस्कृति के ग्रामों का तिथि-निर्धारण किया गया है। परन्तु इस विधि में भी कतिपय त्रुटियाँ तो हैं ही। ऐसा नहीं होता कि क्षेत्र-विशेष के सभी वृक्षों के वलयों में सम-सामयिकीकरण हो ही। प्रायः कम ही वृक्षों के वलयों का सम-सामयिकीकरण हो पाता है। संसार में ऐसे क्षेत्र भी अधिक नहीं हैं जहाँ सम्बन्धीकरण एवं सम-सामयिकीकरण के लिये उपयुक्त वृक्ष हों और दूर-दूर के क्षेत्रों में सम-सामयिकीकरण की संभावना नहीं रहती।

वृक्षवलय-क्रम की विधि को पुरातत्त्व के लिए उपयोगी बनाने के लिए कतिपय अनुकूल परिस्थितियों की विद्यमानता अनिवार्य होती है। पहली बात तो यह है कि तिथि-निर्धारण हेतु पुरातात्त्विक वतावरण के सम्पर्क में लकड़ी और चारकोल के नमूने प्रर्याप्त मात्रा में उपलब्ध होने चाहिए। अतीत में सर्वत्र लकड़ी का प्रयोग अधिक नहीं होता था। अत. कई क्षेत्रों के लिए इस विधि की उपयोगिता नहीं रह जाती। चारकोल महत्त्वपूर्ण माना जाता है क्योंकि जबतक इसे कुचल नहीं दिया जाय, यह विनष्ट नहीं होता। यह बात ध्यान देने की है कि जो भी नमूना परीक्षण के लिए चुना जाय उसमें वलय स्पष्ट हों।

भौतिक-रासायनिक (Physical-Chemical) विधियाँ

कार्बन-१४ (C^{14}) विधिः—सन् १९४९ ई० में शिकागो विश्वविद्यालय के प्रोफेसर लिब्बि (W. F. Libby) ने पुरातात्त्विक अवशेषों में विद्यमान रेडियो-सक्रिय कार्बन के आधार पर तिथि-निर्धारण की विधि का विकास किया। उन्होंने इसकी परिकल्पना १९४६ में की थी और इस सम्बन्ध में उनके प्रयोगों का विवरण १९४७ में प्रकाशित हुआ (The Physical Review, Nov., 1947)। तब से इस विधि में निरन्तर सुधार होता रहा है जिसके फलस्वरूप आरम्भ में जो त्रुटियाँ इसमें थीं, उन्हें दूर कर दिया गया है।

कार्बन -१४ क्या है? इस प्रश्न का संक्षिप्त उत्तर इस प्रकार होगा—पृथ्वी के बाह्य वायुमंडलीय स्तरों पर ब्रह्मांड-रश्मियाँ निरन्तर प्रहार करती रहती हैं।

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

जब वे वायुमंडल में प्रवेश करती हैं तो उसके परिणामस्वरूप विभिन्न शक्तियों के न्यूट्रनों का निर्माण होता है। वायु मूलतः ऑक्सीजन और नाइट्रोजन का मिश्रण है। प्रयोगों से यह प्रमाणित है कि जहाँ आक्सीजन निष्क्रिय रहता है, वहीं न्यूट्रनों के सम्पर्क से नाइट्रोजन में अनेक प्रकार की प्रतिक्रियाएँ हो जाती हैं, जिनमें प्रमुख माना गया है—कार्बन-१४ का प्रादुर्भाव। कार्बन-१४ एक विशिष्ट नाइट्रोजन आइसोटोप का परिवर्तित रूप है। आकाश की प्रयोगशाला में इन नवनिर्मित कार्बन-परमाणुओं का रेडियो-कार्बन डायोक्साइड में ऑक्सीकरण (oxidation) हो जाता है। इसे वनस्पतियाँ अन्य गैसों के संग स्वाभाविक रूप में आत्मसात् कर लेती हैं। तत्पश्चात् न केवल शाकाहारी पशु-पक्षी वनस्पतियों को खाकर, अपितु जो मांसाहारी हैं वे भी, पशु-पक्षियों का भक्षण कर रेडियो-कार्बन आत्मसात् कर लेते हैं। इस प्रकार अंततोगत्वा सभी प्राणी प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष किसी-न-किसी रूप में C^{14} को आत्मसात् करके रेडियो-सक्रिय बन जाते हैं।

सामान्य कार्बन में जो वायुमंडल में सर्वत्र विद्यमान् रहता है, ६ प्रोटोनों और ६ न्यूट्रनों का योग है—इसे C^{12} कहा गया है। इस कार्बन में रेडियो-सक्रियता नहीं होती है, परन्तु कार्बन-१४ रेडियो-सक्रिय है। C^{14}, C^{12} के साथ वायुमंडल के ऑक्सीजन में मिल जाता है। अनुमान लगाया गया है कि कार्बन-१४ की मात्रा पृथ्वी में लगभग ८० टन है। ब्रह्मांड-विकिरण के माध्यम से प्रतिवर्ष २० पौंड रेडियो-कार्बन उत्पन्न होता है। प्रो० लिब्बि ने ही गणना कर इसका पता लगाया कि कार्बन-१४ की विद्यमानता सभी प्राणियों में समान रहती है। पृथ्वी के घूर्णन (rotation) के कारण वायुमंडल में इसका समान वितरण होता है और प्राणियों द्वारा इसका अवशोषण भी समान होता है। सभी प्राणी निश्चित अनुपात में C^{14} और C^{12} को आत्मसात् करते हैं। कार्बन-१४ के नवीन परमाणु निरन्तर क्षतिपूर्ति का कार्य करते रहते हैं। यह प्रक्रिया वायु के माध्यम से सम्पन्न होती है। यह तो स्पष्ट हो गया कि सभी प्राणियों में C^{14} और C^{12} विद्यमान् हैं, परन्तु जिस क्षण कोई शरीर जीवन-शून्य हो जाता है, उसी क्षण उसमें कार्बन-१४ के आत्मसातकरण अथवा अवशोषण की प्रक्रिया का भी अन्त हो जाता है और तत्पश्चात् जिस प्रक्रिया का आरम्भ होता है वह मात्र C^{14} के विघटन की होती है। यह प्रक्रिया सम्पूर्ण कार्बन-१४ की समाप्ति तक चलती है और C^{14} के विघटन की क्रिया निश्चित कालानुसारिणी होती है। प्रो० लिब्बि की गणना के अनुसार ५५६८ ± ३० वर्षों में C^{14} की मात्रा आधी हो जाती हैं। कुछ लोगों ने C^{14} का अर्धजीवन ५५७० ± ३० वर्षों का माना है (रेडियो-कार्बन तिथि निर्धारण पंचम सम्मेलन, कैंब्रिज, १९६२) और कुछ लोग ५७३० ± ४०

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

वर्षों का[1] । एटकिन महोदय ५००० वर्षों का अर्धजीवन मानते हैं। उनके मत में ८०-वर्षों में कार्बन-१४ का एक प्रतिशत विघटन होता है ।[2] कार्बन-१४ के अर्धजीवन के सिद्धान्त के अनुसार मरणोपरान्त शरीर में विद्यमान C^{14} जितने वर्षों में आधा हो जाता है, पुनः उतने ही वर्षों में अवशिष्टांश का आधा रह जाता है और यह प्रक्रिया सम्पूर्ण कार्बन-१४ की समाप्ति तक चलती रहती है । इस प्रकार यदि C^{14} का अर्धजीवन ५७३० वर्ष मान लें तो ११४६० वर्षों में उसका चतुर्थांश, १७१९० वर्षों में अष्टमांश, २२९२० वर्षों में सोलहवाँ भाग, और लगभग ७०,००० वर्षों के पश्चात् कुछ भी शेष नहीं रहेगा ।

C^{14} के उपर्युक्त विघटन-गति के आधार पर ही तिथि निर्धारित की जाती है । अतः उपयुक्त प्राचीन वस्तु में विद्यमान रेडियो-सक्रियता को माप कर अर्वाचीन वस्तु में विद्यमान सक्रियता से उसका अन्तर निकाला जाता है । इसके लिए प्रति मिनट प्रतिग्राम परीक्षण-पदार्थ द्वारा निःसृत बीटा (Beta) विकिरण की गणना करके अर्धजीवन निर्धारित की जाती है । अर्वाचीन C^{14} की विकिरण-गति लगभग १५ cpm/g होती है, परन्तु ५७०० वर्ष प्राचीन C^{14} की ७:५ cpm/g । विघटन की प्रक्रिया में C^{14}, बीटा विकिरण करता हुआ N^{14} में बदलता जाता है । इसका सूत्र है—$C^{14} = B{-} + N^{14} +$.

सबसे अधिक विश्वसनीय C^{14} परीक्षण-विधि में परीक्षणीय वस्तु की सर्वप्रथम सफाई की जाती है, तत्पश्चात् उसे कार्बन-डायोक्साइड (CO_2), एसिटाइलीन (C_2H_2) अथवा मैथेन (CH_4) में परिवर्तित करते हैं । तदनन्तर आनुपातिक गणक यंत्र द्वारा विकिरण की गणना की जाती है । C^{14} तिथि-विधि के जनक प्रो० लिब्बि द्वारा प्रयुक्त यंत्र की तुलना में प्रचलित विधि अत्यन्त विकसित है । लिब्बि महोदय की Screen Wall विधि के अनुसार परीक्षण के नमूने को कर्बन में परिवर्तित कर Geiger Counter के भीतरी भाग में फैला दिया जाता था । यह विधि त्रुटिपूर्ण थी । नवीन पद्धति की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इसमें वायुमंडलीय प्रदूषण उत्पन्न होने की संभावना नहीं रह पाती है, क्योंकि नमूने को गैस में बदलने के लिए तैयार करने के पश्चात् उसे बाह्य सम्पर्क से मुक्त रखा जाता है । इन दो विधियों के अतिरिक्त और दो विधियाँ कम में लाई जाती हैं । एक के अनुसार Geiger Muller Counter में CO_2 की गणना की जाती है । दूसरी विधि में तरल Scintillation Spectrometer का प्रयोग होता है ।

---

1. Nature, 196?, International Journal of Applied Radiation and Isotopes, 1961.
2. Aitken, M. J., Physics and Archaeology, 1967,

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

C^{14} तिथि-विधि की सफलता के लिए यह अनिवार्य है कि परीक्षणीय वस्तु में आवश्यक न्यूनतम मात्रा में कार्बन-१४ विद्यमान हो। अतः निस्तप्त अस्थि तो इस विधि के लिए अनुपयुक्त होगी, परन्तु अधजली हड्डी सर्वथा उपयुक्त होगी। C^{14} परीक्षण के लिए उपयुक्त वस्तुओं में प्रमुख हैं—चारकोल, अस्थियाँ, सुरक्षित काष्ठ, घास, कपड़े और पीट। केश, पत्तियाँ, खाद-मिट्टी, दलदली मिट्टी (swamp earth), अक्षार जल (fresh water), चूना-पत्थर आदि वस्तुओं का भी C^{14} परीक्षण किया जा सकता है। यह आवश्यक है कि परीक्षण के लिए जिस वस्तु का चयन किया गया हो उसमें प्राचीन कार्बन का मूलरूप, अर्थात् वह कार्बन जो उस वस्तु के प्राणान्तकाल में था, सुरक्षित हो। कहीं ऐसा न हो कि अर्वाचीन कार्बन के सम्पर्क से उस वस्तु में किसी प्रकार का रासायनिक परिवर्तन अथवा प्रदूषण आ गया हो। ऐसा होने से काल की सही गणना नहीं हो पायगी। अतः पुरातत्त्वज्ञों का यह कर्त्तव्य हो जाता है कि वे उपलब्ध प्राचीन अवशेषों को अत्यन्त सावधानी से संरक्षित करके प्रयोगशाला में भेज दें।

यद्यपि C^{14} विधि तिथि-निर्धारण की अत्यन्त विकसित वैज्ञानिक पद्धति है, फिर भी इसमें अशुद्धियों की संभावना रहती है। बटजर महोदय के अनुसार इसमें निम्न तीन प्रमुख प्रकार की अशुद्धियों की संभावना हो सकती है[1] :—

(१) सांख्यिकी-क्रियात्मक अशुद्धि।

(२) C^{14} परीक्षण के नमूनों के प्राप्ति-स्तर सम्बन्धी अशुद्धि।

(३) प्रयोगशाला तथा मापकीय सम्बन्धी अशुद्धि।

रेडियो-सक्रिय कार्बन के कुछ अनियमित विघटन के कारण सांख्यिकी-क्रियात्मक अशुद्धि होने की संभावना रहती है। इस अशुद्धि के निराकरण के लिए सभी C^{14} तिथियों को धन (+) और ऋण (—) चिह्न लगाकर लिखा जाता है, जैसे— ४१२० ± १०० वर्ष। इसका अर्थ होगा कि परीक्षित वस्तुओं की तिथि दोनों कोष्ठकों (४०२० और ४२२०) के बीच होगी।

C^{14} परीक्षण के नमूनों में अशुद्धि निम्न कारणों से भी हो सकती हैं—

(क) प्राचीन काल में C^{14} के केन्द्रीकरण में उतार-चढ़ाव।

(ख) विभिन्न वस्तुओं में C^{14} के केन्द्रीकरण की मात्रा में अन्तर।

(ग) नमूनों में स्थानीय सम्पर्क-विकार।

(क) कई विद्वानों के मत में सौर-विकिरण के उतार-चढ़ाव ने वायुमंडल में C^{14} केन्द्रीकरण को अवश्य प्रभावित किया होगा। रोशाल्ट तथा अन्य कई विद्वानों के

1. Butzer, K. W., Environment And Archaeology.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

विचार में लगभग ६४००० वर्षों में इसमें कोई खास परिवर्तन नहीं हुआ, परन्तु अन्यों के मतानुसार गत चार-पाँच दशाब्दियों के आणविक विस्फोटों के फलस्वरूप वनस्पति आदि में C^{14} की मात्रा २५ प्रतिशत बढ़ गई होगी। स्ट्रोन्शियम-९० (Strontium-90) के वर्षाजल के साथ पृथ्वी की मिट्टी में मिल जाने से अधिक अशुद्धि की संभावना हो जाती है।

ख. रेडियो-सक्रिय कार्बन में प्रायः रेडियो सक्रियता-विहीन कार्बन के मिश्रण से भी अनेक कठिनाइयाँ उत्पन्न हो जाती हैं। मोलुस्का (Mollusca) या जलीय वनस्पतियाँ पुराने चट्टानों आदि से प्राचीन कर्बोनेट ग्रहण करती हैं, जिसके कारण उनकी C^{14} सक्रियता की गति क्षीण हो जाती है। अतः यदि उनका परीक्षण होगा तो वे अधिक प्राचीन तिथि का संकेत करेंगी। दूसरी बात यह कि सभी समान प्राचीन वस्तुओं के परीक्षण से समान तिथि का निर्देश नहीं मिलता। कोयला, पीट और लकड़ी से शुद्ध तिथि ज्ञात होती है, परन्तु शेल तथा अस्थियों के परीक्षण से वैसी शुद्ध तिथि नहीं निकलती।

ग. स्थानीय सम्पर्क-विकार में भू-जीव रासायनिक विकार सर्वाधिक भ्रामक होता है। ह्यूमिक एसिड तथा अन्य तत्त्व जल के माध्यम से धरातल के अन्दर पहुँच कर अपने सम्पर्क में आने वाली सभी वस्तुओं को विकृत कर देते हैं। वृक्ष की जड़ें भी विकृत पदार्थों को जमीन के अन्दर पहुँचाने का काम करती है। परन्तु इन विकारों को सफाई द्वारा बहुत हद तक दूर कर दिया जाता है।

२. C^{14} परीक्षण सम्बन्धी शुद्ध अथवा अशुद्ध तिथियों के लिए प्रयोगशालाओं का बड़ा उत्तरदायित्व है। यदि भिन्न-भिन्न प्रयोगशालाओं से भिन्न-भिन्न तिथियाँ निर्धारित हों तो पुरातत्त्वज्ञों की कठिनाई बढ़ जाती है। विभिन्न प्रयोगशालाएँ C^{14} का अर्ध-जीवन अलग-अलग मानती हैं—जैसे, ५५७० ± ३० वर्ष, ५७६० वर्ष, ५७३० ± ४० वर्ष इत्यादि। अर्ध-जीवन की अवधि के अतिरिक्त तिथि की शुद्धता रेडियो-कार्बन गणक यंत्र की कुशलता तथा C^{14} विश्लेषण पद्धति पर भी आधारित है। कार्बन की सफाई में भूल होने से भी तिथि में अन्तर आ सकता है।

इस प्रकार C^{14} तिथि-विधि में थोड़ी त्रुटियाँ हैं परन्तु इनके बावजूद अभी तक विकसित तिथि-विधियों में यह सर्वाधिक ~~वैज्ञानिक~~ है। इसमें जो थोड़ी त्रुटियाँ हैं उनको आधुनिक वैज्ञानिक प्रगति के युग में दूर करना असंभव नहीं है, क्योंकि प्रयोग में आने के पश्चात् इस विधि का उत्तरोत्तर परिष्कार होता रहा है और दिनोंदिन इसकी गणना को सही करने का प्रयास किया गया है। इसकी एक बड़ी त्रुटि यह है कि इस विधि द्वारा ७०,००० वर्ष से अधिक प्राचीन वस्तुओं का तिथि-निर्धारण नहीं

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

हो पाता। परन्तु ऐसी अन्य विधियाँ भी विकसित हो गई हैं जिनसे अत्यधिक प्राचीन पुरावशेषों की तिथि निर्धारित करना सम्भव हो गया है। वस्तुतः इस तिथि-विधि का विकास तिथि-निर्धारण के क्षेत्र में क्रान्तिकारी सिद्ध हुआ है। इस विधि की प्रामाणिकता को पुष्ट करने के लिए उन अवशेषों पर इसके परीक्षण किये गये जिनकी तिथि सन्देहास्पद नहीं मानी जाती है। अन्य प्राचीन देशों के इतिहास की तुलना में मिश्र के इतिहास का तिथि-क्रम सर्वाधिक प्रामाणिक रूप में ज्ञात है। प्रोफेसर लिब्बि ने मिश्र के प्रथम राजवंश के मकबरों की काष्ठ-यष्टियों का C^{14} परीक्षण किया। तत्पश्चात् उन वस्तुओं पर भी परीक्षण किये गये जो अधिक प्राचीन नहीं थे, जैसे—सेसोस्ट्रिस III के अन्त्येष्टि-वल्कल के एक टुकड़े और टॉलेमी के ताबूत के तख्ते के परीक्षणों से भी सही तिथियाँ मिलीं।[1] डेड-सी स्क्रॉल (Dead Sea scrolls) को विद्वान् ईसा के जन्म के समय का मानते हैं और कार्बन-परीक्षण से इस तिथि की प्रामाणिकता की पुष्टि होती है। कार्बन-१४ विधि की प्रामाणिकता पर आश्वस्त होकर कई मान्य तिथियों में सुधार किये गये और आज परिस्थिति यह है कि इस परीक्षण के बिना पुरातत्त्व का कार्य आगे बढ़ नहीं सकता। चारकोल के विश्लेषण द्वारा लैस्कॉक्स (Lascaux) की प्रागैतिहासिक गुफाओं में बने चित्रों की तिथि १३६०० ई० पू० निर्धारित की गई और रोडेशिया के नचिफुकन (Nachifukan) उद्योग की ६००० ई० पू०। ब्रेडवुड महोदय ने इस विधि के आधार पर हमुरबी के समय का संशोधन किया। इस शासक द्वारा निर्मित भवन की तिथि ३०४५ वर्ष पूर्व निर्धारित की गई। आज भारत सहित संसार के सभी देशों में इस विधि का व्यापक प्रयोग किया जा रहा है, परन्तु संयुक्त राज्य अमेरिका आरम्भ से ही अग्रणी रहा है। फॉलसम (Folsom) संस्कृति का काल विद्वानों के बीच अत्यंत विवादास्पद विषय था, परन्तु टेक्सास में उपलब्ध एक वन-भैंसे (bison) की अस्थि के कार्बन-१४ परीक्षण द्वारा इस संस्कृति का काल ८०००-७००० ई० पू० निश्चित किया गया जिससे सभी विवादों का अन्त हो गया। इसी प्रकार ओरेगॉन में उपलब्ध एक रस्सी में गूँथे चंदन के परीक्षण से यह प्रमाणित हुआ कि उसके प्रयोक्ता इंडियन वहाँ ९००० वर्ष पूर्व निवास करते थे। जापान के विद्वानों ने अपने देश के आद्यैतिहासिक स्थानों के तिथि-निर्धारण में इस विधि का खुलकर उपयोग किया है। इसी विधि से इस बात का भी पता चला कि टस्मानियाई लोग ६५०० ई० पू० में इंडोनेशिया से टस्मानिया में जाकर बसे थे।[2]

पोटाशियम-आरगन विधि (Potassium-Argon Method)—यह विधि भी कार्बन-१४ विधि के समान सिद्धान्त पर आधारित है। इसमें पोटाशियम-४० (K^{40}) और आरगन-४० (A^{40}) के अनुपात-विश्लेषण द्वारा तिथि निर्धारित की जाती है।

1. Brion, M , The World of Archaeology, vol. I, p., 22.
2. वही पृ० २२-२३.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

यह सूत्र K^{10}/A^{10} विघटन के अनुपात का निर्देश करता है। इस विधि का आधार यह तथ्य है कि रेडियो-सक्रिय K^{10} निश्चित गति से A^{10} में परिवर्तित होता है। अतः एक mass spectrometer में K^{10} और A^{10} के अनुपात का विश्लेषण करके ज्वालामुखी-जनित पोटाशियम-बहुल चट्टानों की तिथि ज्ञात करना संभव होता है। K^{10} का अर्धजीवन १,३३० सहस्र वर्ष माना गया है, अतः इस विधि से उन अति प्राचीन वस्तुओं का तिथि-निर्धारण संभव है, जिनकी तिथि C^{14} विधि से निर्धारित नहीं हो पाती। वैज्ञानिकों के प्रयासों से इस विधि का पर्याप्त परिष्कार हो जाने से पुरातत्त्व में इसकी उपयोगिता बढ़ गई है। इसका प्रमुख उदाहरण है—टंगानिका की ओल्डुवाई संस्कृति के प्रथम स्तर का तिथि-निर्धारण। K^{10} तिथि-विधि के आधार पर ओल्डुवाई संस्कृति के निम्नतम स्तरों की औसत तिथि १७५०००० वर्ष निर्धारित की गई। परन्तु इस विधि द्वारा उन पुरावशेषों की तिथि निर्धारित नहीं की जा सकती जो किसी स्थान पर अन्यत्र से आए हों, क्योंकि उस अवस्था में वे उस स्थान पर मनुष्य के बसने के समय से बहुत पहले के हो सकते हैं। यह विधि उन स्थानों में ही अधिक उपयोगी होगी जहाँ मनुष्य के बसने के तत्काल पूर्व अथवा पश्चात् ज्वालामुखी द्वारा पोटाशियम-बहुल खनिज का संचय हुआ हो।

ऊष्मिक-दीप्ति (Thermo-luminiscence)—सन् १९६० ई० में केनेडी (G. C. Kennedy) और नोपोफ (L. Knopoff) नामक विद्वानों ने पुरावशेषों के तिथि-निर्धारण की इस विधि का प्रतिपादन किया। यह विधि इस तथ्य पर आधारित है कि मृद्भांड सदृश जिन वस्तुओं को अतीत में पकाया गया हो, उनकी ऊष्मिक-दीप्ति की गणना द्वारा तिथि-निर्धारण किया जा सकता है।

इस विधि द्वारा प्राचीन मृद्भांडों के तिथि-निर्धारण की संभावना ने वैज्ञानिकों और पुरातत्त्वज्ञों का ध्यान आकर्षित किया। परन्तु इस पर जो अनुसंधान किये गये उनसे यह परिणाम सामने आया कि यह विधि उसी अवस्था में उपयोगी होगी जब कोई पुरावशेष पकाने के पश्चात् विकृत न हुआ हो। अधिकांश मृद्भांडों में प्रायः रासायनिक विकृतियाँ पाई जाती हैं जिनसे सही परिणाम नहीं निकल पाते। परन्तु त्रुटि के बावजूद पुरातत्त्व में इस विधि की उपयोगिता का महत्त्व है और तिथि निर्णय के क्षेत्र में इससे लाभ उठाया जा रहा है। इस विधि का एक अच्छा उपयोग यह है कि इससे असली और नकली मृद्भांडों का भेद खुल जाता है।

पुराचुम्बकत्व (Archaeomagnetism)—पुरावशेषों में अवशिष्ट चुम्बकत्व के अध्ययन द्वारा तिथि-निर्धारण की विधि को पुराचुम्बकत्व-विधि का नाम दिया गया। इस विधि का जब भूतात्त्विक पदार्थों के सम्बन्ध में प्रयोग होता है, तो इसे

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

पुराचुम्बकत्व (Palaeomagnetism) कहा जाता है। दोनों इस सिद्धान्त पर आधारित हैं कि समय-समय पर पृथ्वी के चुम्बकीय क्षेत्र की दिशा एवं तीव्रता में जो परिवर्तन होते हैं उनके प्रमाण प्रकृति सुरक्षित रखती है। यह सर्वविदित है कि पृथ्वी एक बृहत् चुम्बक की भांति व्यवहार करती है। चुम्बकीय दिशा-निर्देशक (कुतुबनुमा) की सूई सदा पृथ्वी के चुम्बकीय अक्ष के समानान्तर हो जाती है। चट्टानों के सभी लौह-खनिज भी उत्तराभिमुख हो जाते हैं। द्रवित पाषाणों—लावा या मैग्मा के जमने अथवा अवसादों (रेत, मिट्टी वगैरह) के निक्षेपण के समय उनके मैग्नेटाइट, हेमाटाइट इल्मेनाइट इत्यादि लौह-घटक चुम्बकीय अक्ष की दिशा में अभिमुख हो जाते हैं। अतः शिलाओं में इन खनिजों के अभिविन्यास की दिशा देखकर उन चट्टानों के निर्माण-काल में उस स्थान के संदर्भ में चुम्बकीय ध्रुव की दिशा और स्थिति का पता लगाना संभव होता है। विभिन्न कल्पों एवं युगों की चट्टानों के खनिजों के चुम्बक-प्रेरित अभिविन्यासों के मापन से यह ज्ञात होता है कि भिन्न-भिन्न काल में चुम्बकीय ध्रुव की स्थिति भिन्न-भिन्न रही है। चुम्बकत्व क्षेत्र में वार्षिक तथा प्रति शताब्दी परिवर्तन हुआ करते हैं। अतः पृथ्वी के चुम्बकत्व और उन प्राचीन वस्तुओं में, जिनमें चुम्बकत्व आ गया हो, तारतम्य स्थापित कर तिथि-निर्धारण सम्पन्न किया जाता है। सन् १९२८ ई० में M. E. Thellier महोदय ने अपने एक विद्वतापूर्ण निबन्ध में इस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया कि मृद्भांडों में चुम्बकत्व का अवशेष रहता है जिसका तारतम्य पृथ्वी की चुम्बकीय दिशा से स्थापित करना संभव है। उन्होंने आठवीं सदी ई० पू० तक के यूनान, पोम्पाई, एट्रुस्का तथा ऑरेंजो आदि की सभ्यताओं की मिट्टी के पात्रों का विश्लेषण किया था। तदनन्तर इस विद्वान् ने अपना अनुसंधान जारी रखा और पुनः १९५० ई० में प्रकाशित अपनी पुस्तक में इस विषय पर अपने बीस वर्षों के प्रयोगों का विवरण प्रस्तुत किया।

इधर हाल के वर्षों में अनेक देशों में इस विधि पर शोध-कार्य हुए हैं जिनके परिणाम-स्वरूप उन देशों के चुम्बकीय दिशा का रेकर्ड बनाया गया है। उदाहरण के लिए—जापान में २००० ई० पू० और पंद्रहवीं शताब्दी के चार्ट का निर्माण किया गया है। भारत में भी बम्बई के टाटा शोध संस्थान (T. I. F. R.) में कार्य हुए हैं। रेडियो-कार्बन और ऊष्मिक-दीप्ति विधियों की तुलना में इसमें यह विशेषता है कि गणना आज से अतीत की ओर न जाकर निकटतम निश्चित बिन्दु से आरम्भ की जाती है।

जैसा कि ऊपर उल्लेख किया, सामान्यतः जब किसी शिलोच्चय में चुम्बकत्व का समावेश होता है, तो उसकी दिशा पृथ्वी के चुम्बकीय धारा द्वारा निर्धारित होती

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

है। अनेक शिलाओं में लौह चुम्बकीय ऑक्साइड (oxides) पाये जाते हैं। ये ऑक्साइड किसी कण में उस समय तक स्थिर रहते हैं जबतक कि वह एक निश्चित तापमान तक तप्त न हो जाय। निश्चित ताप जिसे क्यूरी बिन्दु (curie point) कहते हैं, के ऊपर इन ऑक्साइडों के कणों में गतिशीलता आ जाती है जो इस विन्दु के ऊपर कुछ डिग्रियों के तापमान तक जिन्हें 'अवरोध बिन्दु' (blocking point) कहते हैं, उनमें बनी रहती है। अतएव अवरोध-बिन्दु के नीचे किसी वस्तु में चुम्बकत्व की जितनी मात्रा रहती है, वह बनी रहती है। सभी चुम्बकीय ऑक्साइडों की क्यूरी-बिन्दु समान नहीं होती। हेमाटाइट (Haematite) को ६७० डिग्री सेन्टीग्रेड तप्त करने पर उसमें क्यूरी-विन्दु उत्पन्न होती है जो सभी ऑक्साइडों से अधिक है। कई ऑक्साइड तो सामान्य वायुमंडलीय तापमान में ही क्यूरी-बिन्दु में पहुँच जाते हैं। भट्ठे, चूल्हे आदि का इस विधि द्वारा तिथि-निर्धारण किया जाता है। जले हुए निर्माणों की उपादेयता के लिए यह आवश्यक है कि वे पूर्ववत् स्थिति में हों तथा उनका स्थानान्तरण न किया गया हो। चल वस्तुओं की उपयोगिता दो बातों पर निर्भर करती है—(१) लगभग एक सौ मील के दायरे में पकाने का स्थान ज्ञात हो, क्योंकि आक्षांश एवं देशान्तर रेखाओं द्वारा पृथ्वी के चुम्बकत्व क्षेत्रों के स्थानीय दिशाओं का आंशिक निर्धारण होता है। (२) पकाने के समय किसी वस्तु की क्या स्थिति थी इसका पता हो, क्योंकि भट्ठों में बर्तन तो प्राय; खड़े रखे जाते हैं, परन्तु ईंटों को समतल रखा जाता है। दूसरी बात ध्यान देने की यह है कि नमूनों में निश्चित मात्रा में चुम्बकत्व की विद्यमानता तथा उनका अच्छी तरह पका होना अनिवार्य है। व्यवहार में देखा गया है कि इस विधि द्वारा तिथि-निर्धारण के लिए भट्ठियाँ सर्वथा उपयुक्त होती है। इसके ये कारण हैं कि भट्ठों का निर्माण प्रायः खुले स्थानों में भूमि को खोदकर किया जाता था जिससे उनके निम्न भागों की सुरक्षा की अधिक संभावना रही है; भट्ठी की दीवारें मिट्टी की बनती थीं अथवा उन पर मिट्टी का लेप किया जाता था और भट्ठों का तापमान कम-से-कम ८०० डिग्री सेंटीग्रेट तक पहुँच जाता था जो क्यूरी-विन्दु से काफी ऊपर है। जिन भवनों को जला दिया गया हो, उनकी दीवारें और फर्श भी इस कार्य के लिए उपयोगी हो सकती हैं, परन्तु मिट्टी की दीवारे ही सर्वोत्तम मानी गई हैं; ईंट और खपड़ों में दिक्कतें होती हैं। मृत्पात्रों तथा अन्य चल वस्तुओं में सबसे बड़ी कठिनाई यह होती है कि सम्भवतः आकस्मिक अग्निकांड अथवा भोजन पकाने अथवा शवदाह की प्रक्रिया में उनका पुनः चुम्बकीकरण हो गया हो।

फ्लोरिन-परीक्षण (Fluorine Test) :—जमीन में दबी पड़ी हड्डियों में समय के प्रवाह के साथ रासायनिक परिवर्तन हुआ करते हैं जिनमें पहला है, जैविक

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

(organic) तत्त्वों का क्षय। वसा और प्रोटीन अस्थि के प्रमुख जैविक तत्त्व हैं। वसा का क्षय तो शीघ्रता से होता है, पर प्रोटीन का अति मंद-गति से। दूसरा परिवर्तन है, अस्थि द्वारा बाह्य तत्त्वों का अवशोषण। इन तत्त्वों में दो प्रमुख हैं—फ्लोरिन और यूरेनियम।

फ्लोरिन विलयनशील तत्त्व है और यह प्रायः सभी प्रकार के भूमिगत जल में विद्यमान रहता है। जब फ्लोरिन के आयनों (ions) का अस्थियों और दाँतों से संपर्क होता है तो उनका अवशोषण हो जाता है। जितना अधिक समय व्यतीत होता जाता है, उतनी ही हड्डियों और दाँतों में संचित फ्लोरिन की मात्रा में वृद्धि होती जाती है। फ्लोरिन की मात्रा-वृद्धि सभी स्थानों में समान नहीं होती, परन्तु एक ही संचय के सभी अस्थियों में अवशोषित-फ्लोरिन की समान मात्रा रहती है। अस्थि में संचित फ्लोरिन का क्षय न होने के कारण किसी प्राचीन संचय से बहकर अन्यत्र स्थापित अस्थि में इस तत्त्व की मात्रा तत्कालीन संचयों में उपलब्ध अस्थियों से अपेक्षाकृत अधिक होगी।

अस्थियों और दाँतों के तिथि-निर्धारण की एक नूतन विधि के परीक्षण पिल्टडाउन के नमूनों पर किये गये, तो उसके परिणाम फ्लोरिन-परीक्षण से भिन्न नहीं हुए। प्रो० डेविडसन (C. F. Davidson) द्वारा विकसित इस विधि को रेडियोमितीय आमापन (Radiometric Assay) कहते हैं। इसका आधार यह है कि किसी संचय में जितने अधिक समय तक कोई अस्थि पड़ी रहेगी उसके अनुपात में उसमें यूरेनियम का अवशोषण होगा। यूरेनियम रेडियो-सक्रिय होता है। अतः अश्मीभूत अस्थि में, विद्यमान यूरेनियम की मात्रा का निर्णय कर तिथि-निर्धारण संभव है। चूनिया-मिट्टी और चिकनी मिट्टी (clay) में दबी अस्थियों में यूरेनियम की मात्रा ग्रेवल और बालू में संचित तत्कालीन अस्थियों से अपेक्षाकृत न्यून रहती है। भूमि की जिस परत में अस्थियाँ उपलब्ध हुई हों, उनसे वे प्राचीनतर हैं अथवा नवीनतर, इसका निर्धारण भी कभी-कभी इस विधि से फ्लोरिन-परीक्षण के समान किया जाता है। इस विधि में एक खूबी यह है कि फ्लोरिन-परीक्षण के समान इसमें पदार्थ का नाश नहीं करना पड़ता।

ओब्सिडियन (Obsidian) जल-स्तर माप विधि—ओब्सिडियन एक प्रकार के ज्वालामुखीय गैस से निर्मित पत्थर होता है। इसका उपयोग अतीत में उपकरण निर्माण के लिए किया जाता था। जिस क्षण कोई आकार प्रदान करने के लिए ओब्सिडियन को काटा या तराशा जाता है उसी क्षण वह सद्यः निर्मित सतह जल का अवशोषण करने लगता है, जिससे उसके अन्दर एक अदृश्य जल-स्तर का निर्माण हो जाता है। नव-निर्मित उपकरण के अन्दर जल का प्रवेश ज्ञात गति से होता है। अतीत में जब मनुष्य ने ओब्सिडियन के टुकड़े को तराशा अथवा उससे फलक

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

निकाला तो उसने अपने बनाए उपकरण में जल-स्तर के निर्माण का श्रीगणेश करा दिया। जल-स्तर की गहराई के माप के आधार पर उस उपकरण के निर्माण का काल ज्ञात करना संभव है। जल-स्तर के माप की विधि की उपयोगिता ओब्सिडियन तक ही सीमित है; फ्लिंट, जैस्पर, चर्ट, क्वार्ट्ज इत्यादि पत्थरों के लिए इसकी कोई उपयोगिता नहीं।

खगोल-विज्ञान--भूतात्त्विक-विधि के संदर्भ में हिमयुगों एवं अंतर्हिमयुगों के क्रमिक आविर्भाव का उल्लेख किया गया। जो विशेषज्ञ इन ऋतु-परिवर्तनों का कारण ज्ञात करने के प्रयास में संलग्न रहे, उन्होंने इस तथ्य का उद्घाटन किया कि प्रकृति की इस प्रक्रिया का कारण है—नियत-कालिकता। अतः इस प्रक्रिया का कारण नाक्षत्रिक गति-विधियाँ मानी गईं। इस विषय पर उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य से ही विद्वान् कार्यरत रहे और सन् १९४२ में J. Blanchard महोदय ने एक अति रोचक सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। इस सिद्धान्त के अनुसार चांद्र एवं सौर गुरुत्वाकर्षण तथा पृथ्वी की गति के मेल से, जो सामयिक होता है, ध्रुवीय प्रदेशों का स्थानान्तरण हुआ और हिमयुगों तथा अंतर्हिमयुगों का क्रमिक प्रादुर्भाव हुआ। क्योंकि ध्रुवीय क्षेत्रों के स्थानान्तरण की सामयिकता की गणना संभव है, अतः हिमयुगों का तिथि-निर्धारण भी संभव है।

जहाँतक ऋतु-परिवर्तन का सम्बन्ध है, इसका कारण ध्रुवीय क्षेत्रों का स्थानान्तरण मात्र नहीं हो सकता—इसके मूल में अनेक जटिल प्राकृतिक प्रक्रियाएँ हैं, जैसे—रविमार्ग की वक्रता, ग्रहपथ की विषमता तथा विषुवीय अग्रगति के प्रभाव महत्त्वपूर्ण हैं। सूर्य की परिक्रमा की पृथ्वी की गति से समस्त सामयिक विकल्पों का प्रभाव पृथ्वी की सतह के क्षेत्र-विशेष में सौर-विकिरण की तीव्रता पर पड़ता रहा है। अनेक विशेषज्ञों ने सौर-विकिरण की विभिन्न अस्थिरताओं को मापने तथा उनके काल-निर्णय का प्रयास किया है। इस विषय में ज्योतिर्विद् मिलांकोविच महोदय की उपलब्धियाँ ध्यान देने योग्य हैं। इस विद्वान् द्वारा निश्चित विकिरण-वक्रता तथा भूतत्त्वज्ञों द्वारा प्रतिपादित हिमयुगों एवं अंतर्हिमयुगों के क्रम में अद्भुत साम्य है। अतएव सौर-विकिरण की तीव्रता तथा हिमयुगों में प्रत्यक्ष सम्बन्ध प्रतीत होता है और इस प्रकार की मान्यता अविवेकपूर्ण भी नहीं मानी जायगी। मिलांकोविच ने अपनी सौर-वक्रता की निरपेक्ष तिथियाँ निश्चित की है। अतः इस विद्वान् द्वारा स्थापित काल-क्रम का उपयोग भूतात्त्विक युगों के काल-निर्णय तथा इन युगों से सम्बद्ध पुरातात्त्विक संस्कृतियों के तिथि-निर्धारण के लिए किया जा सकता है। इस विधि के अनुसार प्रथम हिमयुग के प्रथम चरण (Gunz—I), जब मानव-निर्मित प्राचीनतम उपकरणों के अवशेष मिलने लगते हैं, के प्रारंभ का काल ५९०,००० वर्ष पूर्व होगा। इस युग की मानव-संस्कृति को इप्सविचियन कहा गया है। अबेविलियन और

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

क्लेक्टोनियन संस्कृतियों का प्रादुर्भाव गुंज-मिंडेल अंतर्हिमयुग में हुआ और इसका अस्तित्व ६०,००० वर्षों तक रहा। इस युग में सौर-विकिरण की तीव्रता पराकाष्ठा पर थी और इसका प्रारंभ ५,००००० वर्ष पूर्व हुआ था। अंतिम हिमयुग के अंतिम चरण अथवा वूर्म—III का प्रारंभ २५००० वर्ष पूर्व हुआ और इस युग में मैगडलेनियन संस्कृति पनपी। इस प्रकार मोटे तौर पर मिलांकोविच द्वारा प्रस्तुत किया गया तिथि-क्रम अन्य विधियों द्वारा निर्धारित कालक्रमों से काफी मेल खाता है। दूसरी ओर रेडियो-कार्बन विधि से निर्धारित तिथियाँ इससे भिन्न हैं, खगोल वैज्ञानिकों के भी मिलांकोविच महोदय के तिथि-क्रम के सम्बन्ध में भिन्न-भिन्न मत हैं।

उत्खनन-सम्बन्धी कुछ अन्य बातें—उत्खनन संचालन के प्रसंग में उत्खननकर्ता को कई बातों पर ध्यान देना पड़ता है। उसके लिए यह आनिवार्य है कि वह उत्खनन आरम्भ करने के पूर्व तत्सम्बन्धी सभी आवश्यक उपकरणों एवं सामग्रियों की व्यवस्था पूरी कर ले, क्योंकि किसी सामग्री के अभाव में उत्खनन के बीच में विघ्न हो जाना उत्खननकर्ता का गंभीर दोष माना जाता है। अतः उत्खनन के निर्देशक को स्वयं निरीक्षण करके आश्वस्त होना चाहिए कि उत्खनन-सम्बन्धी सभी आवश्यक उपकरण तथा वस्तुओं का संग्रह कर लिया गया है। उत्खनन सामग्रियों में कुछ तो विशेषज्ञों के उपयोग की रहती है, जैसे—सर्वेक्षण और चित्रांकन की सामग्रियाँ तथा रासायनिक द्रव्य। अन्य सामग्रियों का उपयोग पर्यवेक्षकों तथा खनकों द्वारा किया जाता है जिसमें आवश्यकता की मुख्य वस्तुएँ ये हैं—(१) बड़ी गैंती (२) छोटी गैंती (३) फावड़ा (४) एक ओर कुदाल और दूसरी ओर छोटी गैंती की नोक वाला औजार, (५) बेल (६) बेलचा (७) पर्यवेक्षक की छुरी (८) टोकरी (९) गुनिया (१०) स्केल-१/२, १ तथा २ मीटर के (११) दो—फुटा (१२) मापक फीता—५० या १०० फुटा (१३) ठीकरे रखने की थैलियाँ (१४) बुलबुला पट्ट (Bubble level) (१५) साहुल (१६) ब्रश—कड़े, नरम तथा शून्य से तीन इंच के (१७) खुँटे-$१\frac{१}{२}''$ × $१\frac{१}{२}''$ मोटा और एक १ फुट ३ इंच लंबा. (१८) बाल्टियाँ (१९) मिट्टी के नाद या टब (२०) सुतली (२१) कीलें—१-३ और ६ इंच (२२) ग्राफयुक्त कॉपी (नोट बुक) और पेंसिल (२३) रोशनाई (२४) सफेद और काला पेंट (२५) खड़िया (२६) पुरावशेष रखने के लिफाफे जिनके ऊपर ६ खानें (स्थल-नाम, बिन्दुपथ अर्थात् अनुदैर्घ्य और बहिर्मुखी माप, गहराई, वस्तु, पर्यवेक्षक का हस्ताक्षर तथा तिथि) बने हों (२७) लेबुल-इसमें भी लिफाफा-जैसा खाना बना हो (२८) कोरा कागज और (२९) रुई।

उत्खनन संपन्न करने में उत्खनक को कई प्रकार के कार्यों को पूरा करना आवश्यक होता है, जैसे-मृद्भांड संचय, उत्खनित वस्तुओं का संरक्षण, सर्वेक्षण, चित्रांकन, छायांकन इत्यादि। इन सभी कार्यों के लिए उसे कई तकनीकी विशेषज्ञों,

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

जैसे-मृद्भांड-विशेषज्ञ, सर्वेक्षक, रसायनशास्त्री, नक्शाकार, फोटोग्राफर, अभिलेख तथा मुद्राशास्त्र विशेषज्ञ इत्यादि का सहयोग प्राप्त करना अपेक्षित होता है। चूँकि उत्खननकर्त्ता इन कामों के लिए मुख्यतः विशेषज्ञों पर निर्भर करता है, अतः इन विषयों का विवरण प्रस्तुत नहीं करके इनका निम्न उल्लेखमात्र प्रर्याप्त समझा गया ।

मनुष्य द्वारा निर्मित एवं प्रयुक्त वस्तुओं में अति प्राचीन एवं व्यापक होने के कारण पुरातत्त्व में मृद्भांड का महत्त्व निर्विवाद है। इनको संस्कृति-चिह्न स्वीकार किया गया है और विभिन्न संस्कृतियों का सापेक्ष तिथिक्रम निर्धारित करने के प्रमुख साधन के रूप में भी इनकी उपयोगिता सर्वमान्य है। अतः उत्खननकर्त्ता के लिए मृद्भांड के सम्बन्ध में प्रमुख बातों की जानकारी, जैसे—भारतीय मृद्भांडों का विकास तथा तिथिक्रम, निर्माण विधियाँ, रचना-वैशिष्ट्य, प्रमुख प्रकार-भेद इत्यादि का सामान्य ज्ञान तो होना ही चाहिए। उत्खनन में उपलब्ध वस्तुओं में सर्वाधिक संख्या ठीकरों की रहती है, अतः इनके रखने की विशेष व्यवस्था करना आवश्यक होता है। इनके अनुक्रम में कहीं गड़बड़ी न हो जाय, इस दृष्टिकोण से उत्खनन-क्षेत्र के निकट एक ऐसे प्रांगण का निर्माण किया जाता है जिसमें एक दिशा में खात-संख्या के अनुसार खूँटे, और दूसरी में स्तर-संख्या के क्रम से छोटे-छोटे वर्ग के चिन्ह बना दिये जाते हैं। इससे अलग-अलग स्तरों में उपलब्ध ठीकरों के मिश्रित होने के संभावना नहीं रहती। पश्चात् ठीकरों की सफाई, टूटे-फूटे बर्तनों को जोड़ना, आवश्यकतानुसार चित्रांकन, रेखांकन आदि कार्यों को सम्पन्न करना आवश्यक होता है। तदनन्तर इनका समुचित अध्ययन किया जाता है। मिट्टी के खिलौनों, मुद्राओं और मूर्तियों का भी महत्त्व कम नहीं होता है। इसी प्रकार उत्खनित पुरावशेषों का समुचित संरक्षण आवश्यक होता है जो मुख्यतः रसायनशास्त्री को सम्पन्न करना पड़ता है।

सर्वेक्षण और नक्शा-निर्माण भी उत्खनन के अभिन्न अंग हैं। ये काम सर्वेक्षण और नक्शाकार द्वारा सम्पन्न किये जाते हैं। परन्तु उत्खननकर्त्ता को भी इनका सामान्य ज्ञान होना चाहिए। उत्खनित स्थल, प्राचीन भवनों तथा खातों को प्लान और चित्र में दिखलाये बिना उत्खनन का विवरण पूर्ण नहीं होता। स्तरीय-प्रमाणों की सम्बद्धता को स्पष्ट करने के लिए सम्पूर्ण उत्खनन का एक रनिंग सेक्शन बनाना अनिवार्य होता है।

मृद्भांड, ठीकरे, अश्मोपकरण इत्यादि के रेखांकन और चित्रांकण का भी कम महत्त्व नहीं। चूँकि उत्खनन के पश्चात् उत्खनित स्थल का अस्तित्व कागज पर ही रह जाता हैं, अतः प्लान, चित्रांकन और छायांकन सहित लिखित विवरण प्रस्तुत करके वहाँ के अतीत को साकार करने का प्रयास किया जाता है।

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

उत्खनन स्वयं में साध्य नहीं, साधन है, अतः जबतक उत्खनन-विवरण प्रस्तुत नहीं किया जाता—उसका प्रकाशन नहीं होता पुरातत्त्वज्ञ का कार्य अधूरा माना जायगा। अतः उत्खनन की समाप्ति पर यथाशीघ्र विवरण का प्रकाशन भी होना चाहिए।

उत्खनन की सफलता बहुत हद तक उत्खनकर्त्ता की सूझ-बूझ, कल्पना-शक्ति, संगठन-क्षमता तथा व्यावहारिक ज्ञान पर निर्भर करती है। उत्खनन-स्थल की प्रकृति के अनुरूप उसमें कार्य की रूपरेखा का निर्धारण एवं परिस्थितिवश उत्पन्न समस्याओं के समाधान की योग्यता होने से ही उत्खनन सफलतापूर्वक पूर्ण हो पाता है। क्योंकि उत्खनन एक व्यक्ति का कार्य नहीं होता, अतः सहयोगियों का उचित सहयोग प्राप्त करने में अक्षम व्यक्ति प्रायः अपने लक्ष्य तक पहुँचने में अपेक्षित सफलता प्राप्त नहीं कर पाते। यह नितान्त आवश्यक है कि उत्खननकर्त्ता अपने विषय का ज्ञाता होने के साथ व्यवहार कुशल भी हो। इसके साथ ही पुरातत्त्व-सम्बन्धी राजकीय अधिनियमों की भी उसे पूरी जानकारी रखनी चाहिए।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

कुछ उत्खनित स्थलों के संक्षिप्त विवरण

तक्षशिला

प्राचीन भारत के ऐतिहासिक महानगरों में तक्षशिला का महत्त्वपूर्ण स्थान है और इसका सुदीर्घ इतिहास बड़ा ही रोचक है। रामायण के अनुसार भरत के पुत्र तक्ष द्वारा स्थापित होने के कारण तक्षशिला नाम से यह विख्यात हुआ।[1] महाभारत में जनमेजय द्वारा इसे विजित करने का उल्लेख मिलता है। जैन ग्रन्थों के अनुसार आदि तीर्थंकर ऋषभदेव भी इस महानगर से सम्बन्धित रहे। बौद्ध पालि ग्रन्थों में, विशेषतः जातकों में तो विद्याकेन्द्र के रूप में तक्षशिला के उल्लेख की भरमार है।[2] इसी विद्याकेन्द्र में भगवान् बुद्ध के समकालीन प्रसिद्ध चिकित्सक जीवक ने आयुर्वेद की शिक्षा पाई थी। पाणिनि सदृश वैयाकरण, चाणक्य समान राजनीतिज्ञ तथा चन्द्रगुप्त जैसे शूरवीर एवं राष्ट्रनिर्माता को शिक्षा प्रदान करने का श्रेय तक्षशिला के आचार्यों को ही मिला। इस विद्याकेन्द्र को यहाँ की भौगोलिक स्थिति के फलस्वरूप अपने अस्तित्व काल में अनेक उतार-चढ़ाव देखने पड़े और कई विदेशी आक्रमणकारियों का कोपभाजन भी बनना पड़ा। इस महानगर पर ईरानी, यूनानी, शक, पार्थियन, कुषाण, हूण इत्यादि विभिन्न जातियों का आधिपत्य रहा, फलस्वरूप यहाँ संस्कृति-समन्वय का अद्भुत उदाहरण प्रस्तुत करना संभव हुआ।

तक्षशिला महानगर सिन्धु और झेलम नदियों के मध्य की एक सुरम्य एवं उर्वरा घाटी में बसा हुआ था। मरी और मारगल पहाड़ियों से घिरी यह घाटी लगभग ११ मील लम्बी तथा पांच मील चौड़ी है, और इसे हथियाल पहाड़ी दो असमान भागों में विभाजित करती है। इस घाटी में लुंडीनाला और तमरानाला नामक दो प्रमुख नाले बहते हैं। यहाँ रावलपिंडी से बीस मील पश्चिमोत्तर बसे तक्षशिला की उन्नति के दो प्रमुख कारण जान पड़ते हैं—एक तो अंतर्राष्ट्रीय व्यापार के लिए इसका महत्त्व और दूसरा, विद्याकेन्द्र के रूप में इसका विकास। भारत के पश्चिमोत्तर प्रवेशद्वार पर बसा यह महानगर तीन प्रमुख व्यापार मार्गों का संगम था जिनके माध्यम से यह पूर्व भारत, पश्चिम एशिया एवं मध्य एशिया से जुड़ा हुआ

---

१. रामायण, उत्तरकांड, अध्याय, 101.

२. पालि जातकों के अतिरिक्त विनयपिटक (S. B. E., XVII, 174-75) तथा दीपवंश में भी तक्षशिला का उल्लेख है।

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

था। अतएव तक्षशिला होकर ही स्थलमार्ग द्वारा भारत का पश्चिम एशिया एवं मध्य एशिया के साथ सारा व्यापार होता था। इस प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का प्रमुख मंडी होने के कारण इस महानगर की उन्नति हुई और कालान्तर में यहाँ के विदेशी व्यापार में ह्रास के फलस्वरूप ही संभवतः इसका महत्त्व घट गया।

तक्षशिला तीन बार अलग-अलग स्थानों पर बसाया गया, जिनके खंडहरों के नाम पड़े—भीड़, सिरकप तथा सिरसुख। इन तीन प्रमुख खंडहरों के अतिरिक्त कई महाविहारों तथा स्तूपों के अवशेष भी इस घाटी में विद्यमान हैं। भीड़ का टीला मूल तक्षशिला के अवशेषों से बना, सिरकप यवन शासकों द्वारा स्थापित नगर का अवशेष है और सिरसुख कुषाणों द्वारा बनाई राजधानी। सिरकप भीड़ से थोड़ा पूर्वोत्तर है और सिरकप के उत्तरी रक्षा-प्राचीर से एक मील पूर्वोत्तर सिरसुख है।

भीड़ वस्तुतः एक छोटी सी उपत्यक्ता है जो तमरानाला के तल से ६०-७० फुट ऊँची तथा उत्तर-दक्षिण ३६०० फुट लंबी और पूर्व-पश्चिम २१९० फुट तक चौड़ी है। यहाँ लगभग तीन एकड़ के क्षेत्र में नगर बसा हुआ था जो कच्ची ईंट, मिट्टी और लकड़ी के बने रक्षा-प्राचीर से घिरा था। पत्थर के भवनों के जो प्राचीनतम अवशेष यहाँ पाये गये उनकी तिथि मार्शल महोदय ने छठी शताब्दी ई०पू० निर्धारित की।[१] ह्वीलर महोदय के विचार में यह तिथि छठी शताब्दी का उत्तरार्द्ध अथवा पाँचवीं का आरंभ होनी चाहिए। भीड़ के उत्खनक मार्शल ने यहाँ बसे तक्षशिला के चार निर्माणकाल निर्धारित किये जो इस प्रकार हैं—(I) लगभग छठी-पाँचवीं शताब्दी ई० पू० की प्राचीनतम बस्ती; (II) सिकन्दर के आक्रमणकाल से लेकर मौर्य-शासन पर्यन्त; (III) परवर्ती मौर्य शासकों के समकालीन और (IV) मौर्योत्तर तथा यवन आक्रमण-कालीन।

भीड़ में बसे नगर का सुनियोजित विकास नहीं हो पाया। मकानों तथा विथियों का लगभग चार शताब्दियों तक (छठी से दूसरी शताब्दी ई०पू०) तक अनियमित तथा अनियोजित ढंग से निर्माण होता गया। तक्षशिला की चौड़ा तथा संकीर्ण सड़कों के दोनों ओर आवासीय मकानों तथा दूकानों का निर्माण किया गया, परंतु कहीं भी यह कार्य व्यवस्थित नहीं हो सका। उत्तर से दक्षिण जाती हुई यहां की प्रमुख सड़क २२ फुट चौड़ी थी। अन्य सड़कों की चौड़ाई ९-१७ फुट के बीच थी और गलियों की इससे भी कम। कहीं-कहीं तो इतना ही स्थान रह जाता कि

---

१. मार्शल, Taxila, vol. I, p. 12.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

दो व्यक्ति भी साथ-साथ सुविधापूर्वक न चल सकें। सड़कों के बीच-बीच में यातायात की सुविधा हेतु खुले प्रांगणों की व्यवस्था की गई थी। इस नगर के नियोजन में जल-निष्कासन की कारगर व्यवस्था का अभाव खटकता है। प्रमुख मार्गों में नालियों की व्यवस्था न होने से पार्श्व-विथियों का सारा बरसाती पानी सड़क में भर जाता। सिरकप के मुख्य पथ में भी यह दोष था। परन्तु भीड़ के चतुर्थ पथ तथा एक गली में सतही नाली पाई गई जिसका निर्माण बरसाती पानी की निकासी के उद्देश्य से किया गया था। अतएव यह कहना सही नहीं होगा कि नगर में नालियों की व्यवस्था का सर्वथा अभाव था।

भीड़ के भवनों के निर्माण में भी विथियों के सदृश अव्यवस्था देखाने को मिलती है। नियमतः खुले आंगन से सम्बद्ध कमरों की व्यवस्था के आधार पर उनका निर्माण होता था, परन्तु इस नियम के संप्रयोजन तथा नियोजन में पर्याप्त विविधता रहती। संपन्न वर्ग के आवास सामान्यतः लगभग ३६०० वर्गफुट की भूमि पर दो मंजिले बनाए जाते, जिसमें ७०० वर्गफुट का स्थान तो आंगन का रहता और शेष कमरों के लिए। निचली मंजिल में १५-२० छोटे-छोटे कमरों का निर्माण किया जाता और दो आंगनों का। आंगन होकर ही कमरों में जाना पड़ता और दोनों आंगन में गलियों से प्रवेश मार्ग रहते।

भीड़ में भवनों के जो अवशेष पाये गये वे सभी अनगढ़ पत्थर के बने थे और दीवारों के बाहरी एवं भीतरी भागों पर मिट्टी का मोटा पलस्तर किया गया था।

सपाट अश्म-खंडों तथा नदी-तलीय पेबुल बिछाकर आंगन को पक्का बनाया जाता था, परन्तु कमरों के फर्श प्रायः जमीन को पीटकर कठोर बनाये जाते। मकानों से बरसाती पानी के निष्कासन हेतु सतही नालियाँ बनाई जातीं, परन्तु मल एवं दैनंदिन के दूषित जल का विसर्जन शोषगर्तों में किया जाता। सामान्यतः हर आंगन में एक शोषगर्त बनाया जाता और शौच तथा स्नानादि के लिए अन्यत्र।

भीड़ के भवनावशेषों में नगर के पश्चिमी भाग में पाया गया भवन विशेष महत्त्वपूर्ण माना जायगा। तृतीय निर्माण काल (स्तर—II) के इस भवन के दो खंड चारों ओर गलियों से घिरे १८०×१७० फुट की भूमि में बने थे। दोनों खंड के मध्य एक संकीर्ण मार्ग था और बड़े उत्तरी खंड में दो आंगन, एक विशाल मंडप तथा लगभग तीस कमरे थे। मंडप एक आंगन के पश्चिमी भाग में था। ५९×२४ फुट माप के इस आयत स्तम्भ मंडप के अनगढ़ पत्थरों के दीवारों के

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

५½ फुट तक ऊँचे अवशेष पाये गये। भवन के अक्ष की दिशा उत्तर-दक्षिण है जिसमें तीन वर्गाकार स्तम्भ ११—११ फुट के अन्तराल में बनाये गये थे और बीच का स्तम्भ ठीक केन्द्र में था। प्रमाण के अभाव में इस बात का निर्णय नहीं किया जा सकता कि यह सभामंडप था अथवा मंदिर, फिर भी इसके मंदिर होने की अधिक संभावना प्रतीत होती है, क्योंकि इसके मलवे में देवी-देवताओं की अनेक मृण्मयी मूर्तियाँ पाई गईं।

यहाँ के प्राचीनतम पुरावशेषों में पत्थर, हड्डी, हाथीदाँत तथा शीशे की बनी विभिन्न वस्तुएँ, मिट्टी की मुहरें, पत्थर, शंख, शीशे, हड्डी और पक्की मिट्टी के मनके इत्यादि उल्लेखनीय हैं। मार्शल के मत में झींगुर, आँख तथा जोंक की आकृति वाले मनके यहाँ पाँचवीं शताब्दी ई० पू० ईरानी शासनकाल में प्रचलित हुए क्योंकि झींगुर की आकृति का अखिमिनियन कला में प्रमुख स्थान था। सिक्कों में आयत, दंडाकार, गोल तथा अवनतोदर आकार के आहत सिक्के उल्लेखनीय हैं।

सिकन्दर के आक्रमणकालीन स्तर में यहाँ का प्रमुख मृद्भांड पाया गया। अब यहाँ के मृद्भांड में यूनानी प्रभाव भी पड़ने लगा। कृष्णवर्ण के अलंकृत मृद्भांड सिरकप में प्रचुर संख्या में मिलते हैं, परन्तु यहाँ अल्पसंख्या में। मृण्मयी मूर्तियों में नग्न मातृदेवी, देवी-देवताओं की आकृतियुक्त दान-फलक, खिलौने हाथी, तगमे, मनके इत्यादि तथा पत्थर, हड्डी और हाथीदाँत की बनी वस्तुएँ भी पाई गईं।

इस काल के स्तर में उपलब्ध पुरावशेषों में एक घड़े में स्वर्ण एवं रजत आभूषणों के साथ संचित ११६७ चाँदी के आहत सिक्कों का महत्त्वपूर्ण स्थान है। इन रजत मुद्राओं में १०५१ विकसित प्रकार के, ३३ दंड प्रकार के तथा ७९ वृत्ताकार छोटे सिक्के, २·३ और २·८६ ग्रेन तौल के हैं। इस संचय में काफी चला हुआ एक चाँदी का फारसी सिगलॉस तथा टकसाल से सद्यः विमोचित सिकन्दर के एक सिक्के की विद्यमानता का विशेष महत्त्व है। इस ढेर के अतिरिक्त नौ आहत सिक्के अलग से पाये गये जिनमें दो आयत दंड सदृश और सात वृत्ताकार तथा अवनतोदर हैं।

भीड़ के तृतीय संस्कृति-काल के अनेक अवशेषों में मौर्य तत्त्व की विद्यमानता से यह स्पष्ट है कि तत्कालीन संस्कृति मौर्यकालीन थी। इस काल की कुंभकार-कला पूर्णतः भारतीय है और इसमें किसी प्रकार की विदेशी छाप देखने को नहीं मिलती। अब महंगे और अलंकृत पात्रों के निर्माण का महत्त्व कम हो गया और न्यूनतम मूल्य पर उपयोगी मृद्भांडों के निर्माण पर ध्यान दिया जाने लगा। परन्तु मिट्टी की मूर्तियों के निर्माण में मृद्भांडों के समान सादगी नहीं बरती जाती थी।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

यद्यपि कलात्मकता के मामले में उत्कृष्टता का अभाव स्पष्ट है, परन्तु मूर्तियों की अलंकरण बहुलता से कलाकार की कल्पनाशीलता का परिचय मिलता है। धार्मिक महत्त्व की मृण्मयी मूर्तियों में अनावृत्त मातृदेवी (अथवा पृथ्वी देवी) की मूर्तियाँ उल्लेखनीय हैं।

मौर्यकालीन प्रस्तरकला उच्चकोटि की थी और तक्षशिला में उपलब्ध विभिन्न प्रकार के पत्थरों की बनी वस्तुओं से तत्कालीन कलाकारों की निपुणता का अनुमान लगाया जा सकता है। यहाँ पाये गये नीस, अगेट, अलावेस्टर, स्फटिक, कैलसिडोनी इत्यादि पत्थरों के बने थाल, प्याले, कटोरियाँ, ट्रे, तेजक इत्यादि वस्तुओं में मौर्यकालीन कलाकार की दक्षता की छाप स्पष्ट है। यहाँ के बने मनके बड़े ही सुन्दर होते थे और उनके निर्माण हेतु मुख्यतः कार्नेलियन और अगेट का उपयोग किया जाता था।

यहाँ उपलब्ध चाँदी और ताँबे के आहत सिक्कों में पूर्व तथा उत्तरकालीन दोनों वर्ग सम्मिलित हैं और साथ ही स्थानीय प्रकार के भी, जिनकी तिथि मौर्य-शासन के अंतिम वर्ष एवं तदनन्तर निर्धारित की जायगी।

भीड़ के अंतिम संस्कृतिकालीन (मार्शल का स्तर-I) भवनावशेषों में कुछेक नींव के खंडमात्र ही बच पाये हैं। परन्तु इस काल के स्तर में उत्तरकालीन वर्ग के ११६ आहत सिक्कों का एक महत्त्वपूर्ण संचय पाया गया। सिक्कों के इस संचय में अन्तियोकस द्वितीय के नाम से ढाला गया डायोडोटस का एक स्वर्ण स्टेटर मिला, जो तिथि निर्धारण हेतु बड़ा महत्त्वपूर्ण सिद्ध हुआ।

सिरकप—जब द्वितीय शताब्दी ई० पू० में तक्षशिला पर बैक्ट्रिया के यवन शासकों का आधिपत्य हो गया, तो उन्होंने भीड़ का परित्याग कर उससे थोड़ा उत्तर-पूर्व हट कर एक नये नगर की स्थापना की और सुनियोजित रूप में उसका निर्माण किया। नगर-नियोजन यूनानी ढंग की की गई (द्यूत-फलक के नमूने पर) और नगर की सुरक्षा हेतु ३½ मील लम्बे सुदृढ़ रक्षा-प्राचीर का निर्माण किया गया, जिसके अवशेष अभी भी स्पष्ट देखे जा सकते हैं। इसकी प्रस्तर-निर्मित दीवार १५ से २१½ फुट तक चौड़ी थी और इसमें कई तोरण बनाये गये थे। उत्तरी प्राचीर के बाहर एक मील या कुछ अधिक के घेरे में एक उपनगर था जिसे अब बाबरखाना या कच्चाकोट कहते हैं।

मार्शल द्वारा सिरकप में पाँच संस्कृति-कालों में संचित सात स्तर उत्खनित किये गये जो क्रमशः यवन-पूर्व (स्तर-VII), यवनकालीन (स्तर-V-VI), पूर्वशक

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

(स्तर-IV), उत्तर शक-पार्थियन (स्तर-II-III) तथा कुषाण कालीन (स्तर-I) माने गये हैं।

प्रथम संस्कृति-काल में सिरकप तक्षशिला का उपनगर था। तदनन्तर वहाँ पर यवनों ने नये नगर का निर्माण किया जिस काल का संचय स्तर-६ है। स्तर-५ उस अवधि में संचित हुआ जब वहां पर यवनों ने राज्य किया (लगभग १९०-९० ई० पू०)। यवनों के पश्चात् इस नगर पर शक शासन स्थापित हुआ और इस अवधि (लगभग ९० ई० पू०—२५ ई० सन्) में स्तर, २-४ संचित हुए। लगभग ३० ई० सन् में भूकम्प द्वारा ध्वस्त सिरकप का पार्थियन शासकों ने पुर्ननिमाण किया। सबसे ऊपर का स्तर-१ कुषाणों द्वारा इस नगर को विजित किये जाने के पश्चात् संचित हुआ।

चित्र १२. सिरकप के अवशेष AI, No. 9

सिरकप का मुख्य पथ नगर के मध्य में उत्तर-दक्षिण बनाया गया था जिसके दोनों ओर कायदे से मकान तथा पार्श्व-वीथियों का निर्माण किया गया था। इस नगर की स्थापना काल से लेकर राजधानी के यहाँ से कुषाण काल में स्थानान्तरण पर्यंत मुख्य एवं पार्श्व मार्गों का नियोजन अपरिवर्तित रहा, फलतः भवनों के पर्याप्त आंतरिक परिवर्तनों का उनके बाहय दीवारों की सम्बद्धता पर कोई असर नहीं पड़ा। भीड़ के समान सिरकप के यवन-कालीन मकान भी बीच में आंगन और

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

उनके चतुर्दिक कमरों की व्यवस्था के आधार पर बनाए जाते थे, परन्तु तत्कालीन निर्माण में पूर्वापेक्षा नियमितता पर अधिक ध्यान दिया गया था। तदनन्तर द्वितीय तथा तृतीय स्तरों में इसमें अनियमितता आई, परन्तु पुनः पार्थियन स्तर में यह दोष दूर हो गया। सिरकप में आवासीय भवन के नियोजन का जो सर्वोत्कृष्ट अवशेष उपलब्ध हुआ है वह यवनकालीन है और इसमें आंगन के चारों ओर ग्यारह कमरे थे। इसकी पत्थर की दीवारें ठोस थीं। एक कमरे में विशाल भांडार-भांड मिला। स्तर-VI (यवन-पूर्व) में दो मकानों के बीच एक विभाजक दीवार होने के प्रमाण मिले।

भूकंप से ध्वस्त तक्षशिला का शक-पार्थियन काल में पुनर्निर्माण किया गया। तत्कालीन नगर के प्लान को मार्शल ने पूर्णतया उद्घाटित किया। पुनर्निर्मित नगर के नियोजन में कोई मौलिक परिवर्तन नहीं हुआ, परन्तु पार्श्व-मार्गों की सतह मुख्य मार्ग से चार-पाँच फुट ऊँची हो गई। सभी पार्श्व-मार्ग पूर्ववत् मुख्य मार्ग के साथ समकोण पर मिलते हुए पूर्व-पश्चिम फैले थे। इनकी संख्या कई थी और उत्खननकर्त्ता ने एक से लेकर तेरह पार्श्व-मार्गों का नामकरण संख्या से किया, (जैसे, प्रथम पथ, द्वितीय पथ इत्यादि); मार्गों के मिलन-स्वरुप जो खंड बने उनका नामकरण अक्षरों से किया गया।

जैसा कि ऊपर उल्लेख किया गया, मुख्य पथ की दिशा उत्तर-दक्षिण थी। जब कोई व्यक्ति उत्तरी तोरण से नगर-प्रवेश करता तो उसे पथ के दोनों ओर थोड़े-थोड़े अन्तराल पर दूकानों की पंक्तियाँ दिखलाई पड़तीं। ये दूकान दो-दो कमरे के एक मंजिले मकान थे जिनके सामने एक छोटा बरामदा रहता था। दूकानों की पंक्तियों के बीच-बीच में देवालय एवं पूजागृह बनाये गये थे। दूसरे तथा तीसरे पथ के मध्य गुंबदनुमा स्तूप खड़ा था और उससे कुछ हट कर एक बौद्ध चैत्य। पुनः उसके सन्मुख एक स्तूप और आगे बढ़ने पर कई स्तूपों के गुंबद विभिन्न ब्लॉकों में दिखलाई पड़ते। फिर सामने दृष्टिपथ में आता शुभ्र राजप्रासाद। दूकानों और पूजागृहों के पृष्ठ भागों में आवासीय मकान थे। रक्षा-प्राचीर के निकट सैनिकों के आवास थे। संपन्न नागरिकों के आवास एक मंजिले बंगले-जैसे बनाये गये थे। लगभग १५०० वर्ग फुट के मकानों में बीसों कमरे और कई छोटे-छोटे खुले आंगन बनाये जाते। राजप्रासाद का निर्माण आवासीय मकानों के समान ही किया गया था, परन्तु व्यापक पैमाने पर।

तत्कालीन सिरकप में अनेक स्तूपों का निर्माण हुआ था जिनमें कुछ बड़े भव्य थे। ब्लॉक-A में द्वितीय तथा तृतीय पथों के बीच ११० फुट उत्तर-दक्षिण

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

तथा ९५-९८ फुट पूर्व-पश्चिम माप का स्तूप प्रांगण उल्लेखनीय है। प्रांगण के चारों ओर छोटे आकार के आवासीय कक्षों का निर्माण इसकी मुख्य विशेषता है। प्रांगण के मध्य में ३२′.९″ वर्गाकार आधार पर निर्मित स्तूप था। ब्लॉक D में निर्मित चैत्य अथवा गृह-स्तूप का विशेष महत्त्व है। इस भव्य भवन का निर्माण उत्तर शक-कालीन ध्वंसावशेष के ऊपर २२८ फुट पूर्व-पश्चिम तथा १३५ फुट उत्तर-दक्षिण प्रांगण के मध्य सड़क से साढ़े चार फुट ऊँची वेदिका के ऊपर किया गया था। वेदिका के चतुर्दिक के प्रस्तर-प्राचीर की औसत चौड़ाई ५ फुट नौ इंच थी और यह अभी भी प्रांगण के ऊपर कहीं-कहीं २-३ फुट ऊँची बची हुई है। मुख्य पथ से प्रांगण में प्रवेश हेतु पश्चिमी प्राचीर के साथ दो सामानान्तर सोपान बनाये गये थे जिनके पार्श्व में आवासीय कक्षों की दो पंक्तियाँ थीं। इस चैत्य का प्लान सुदामा गुफा से मिलता-जुलता है। इसका पश्चिमाभिमुख प्रवणयुक्त द्वार विशाल था। कनिंघम को १८६२ ईसवी में इसके कुछ अवशेष देखने को मिले और उन्होंने इस द्वार के चौदह फुट चौड़े होने का उल्लेख किया है। इसके आयत (१२९×५१ फुट) चैत्य मंडप में पारंपरिक स्तम्भों के स्थान पर दीवार का निर्माण किया गया था। चैत्य के अंदर स्तूप का निर्माण भी अवश्य ही किया गया होगा, परन्तु उसको चोरों से बहुत पहले ही नष्ट कर दिया। प्रांगण में प्रवेश-मार्ग के दोनों ओर भी चूना-पत्थर के बने एक-एक वर्गाकार स्तूप उत्खनित किये गये।

शक-पार्थियन कालीन भवन निर्माण कला में नवीन तकनीक का समावेश ध्यान देने योग्य है। इस संबंध में चार मुख्य विशेषताएँ जिनका उद्देश्य भवनों को स्थायित्व प्रदान करना था, उल्लेखनीय हैं। पूर्वकालीन परिपाटी में अनपढ़ पत्थरों तथा मिट्टी के उपयोग किये जाते थे, परन्तु अब ज्यामितीय प्रस्तर-खंडों का प्रयोग होने लगा; पूर्वापेक्षा गहरी नीवें खोदी जाने लगीं; दीवारों के निम्न-भाग पत्थर के बनाए जाने लगे और भवनों की ऊँचाई में कमी होने लगी।

सिरकप के यवनकालीन स्तरों से भवनों के अतिरिक्त जो ऐतिहासिक महत्त्व की वस्तुएँ उपलब्ध हुईं उनमें सिक्के, मृद्भांड, मिट्टी की मूर्तियाँ, पत्थर तथा धातु-निर्मित वस्तुएँ प्रमुख हैं। तत्कालीन स्तर में ८९ सिक्के मिले जिनमें लगभग आधे उन दिनों प्रचलित रहे होंगे। सिक्कों से संबंधित उपलब्ध साक्ष्यों से यह प्रमाणित होता है कि यवन शासन काल में स्थानीय तथा पूर्वकालीन आहत सिक्कों का प्रचलन था, परन्तु यवन सिक्कों की कतिपय विशेषताओं के कारण उनकी मांग स्थानीय सिक्कों की अपेक्षा अधिक होने लगी। यह तो स्पष्ट ही है कि यवन सिक्के कलात्मक बनाये जाते थे।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

मृद्भांडों में टोंटीदार बर्तन, धूपदानी और पूजा के पात्र उल्लेखनीय हैं। मृद्भांडों के आकार तथा अलंकरण में नवीनता का समावेश देखने को मिलता है। मार्शल के मत में मृण्मयी मूर्तियों में यवन तथा भारतीय तत्वों का समन्वय हुआ। मातृदेवी की मृण्मयी मूर्तियाँ प्रचुर संख्या में पाई गईं। जहाँ तक प्रस्तर-निर्मित वस्तुओं का संबंध है, थालियाँ, ट्रे, प्याले इत्यादि पहले से ही उपयोग में लाये जाते थे, परन्तु अब इनके निर्माण हेतु कठोर पत्थरों के बदले कोमल पत्थरों का प्रयोग होने लगा। कठोर पत्थर की उपयोगिता केवल ओखली और सिलबट्टा इत्यादि बनाने के लिए रह गई। धातु-निर्मित वस्तुएँ बहुत कम पायी गईं। अस्थि एवं हस्ति-दंत निर्मित चौपड़, चमच, छिछले कटोरे इत्यादि तथा शीशा, शंख, काचित-चित्रित मृद्भांड (Faience), मूल्यवान पत्थर, मूंगा और तांबे के मनके इत्यादि भी यहाँ उपलब्ध वस्तुओं में उल्लेखनीय हैं।

यवनों के पश्चात् तक्षशिला में शक शासन स्थापित हुआ। यह सिरकप का तृतीय संस्कृति-काल है। इस काल के पुरावशेषों में मृद्भांड, पत्थर के बर्तन, खिलौने, मनके इत्यादि उल्लेखनीय हैं। तत्कालीन शक इतिहास के लिए सिरकप में उपलब्ध सिक्कों का विशेष महत्त्व है, क्योंकि यहाँ के उत्खनन में मउयस, वोनोनिज, स्पलहोर, स्पेलिरायसिस तथा एजेस के सिक्के काफी संख्या में मिले। केवल एजेस प्रथम तथा द्वितीय के सिक्कों की संख्या २८०० से भी अधिक है और इसके आधार पर ही यह प्रमाणित हुआ कि एजेस नाम के दो शासकों ने राज्य किये। एजेस प्रथम के राज्य-काल में स्तर-IV के भवन आबाद थे, परन्तु इसके परवर्ती एजेस द्वितीय ने जो राजातिराज हुआ, प्रथम शताब्दी ईसवी सन् के पूर्वार्द्ध में राज्य किया।

इस काल के मृद्भांड में स्थानीय तत्त्वों की प्रधानता है। मृण्मयी मूर्तियाँ अधिक नहीं मिलीं, परन्तु प्रस्तर-पात्र एवं अश्मोत्कीर्णन उल्लेखनीय हैं। प्रसाधन-पात्रों के विविधाकृति अलंकरण गांधार कला के विकास-क्रम के आरंभिक नमूनों के रूप में महत्त्वपूर्ण माने जायेंगे। शक समाज में मनकों का खूब प्रचलन था, परन्तु उनके आकारों में परिवर्तन नहीं हुए। उत्खनन में उपलब्ध धातु, पकी मिट्टी, पत्थर, अस्थि, हस्ति-दंत, शीशा, शंख, स्वर्ण-रजत, ताम्र-कांस्य इत्यादि की बनी उपयोग की विभिन्न वस्तुओं की लंबी सूची है। मिट्टी के खिलौने, मुहरें तथा मूर्तियाँ, तांबे के कप, चषक, घंटे, चांदी और तांबे के चमच, पत्थर के मनके, लोहे के शस्त्रास्त्र स्वर्ण-रजत-ताम्र के आभूषण इत्यादि उल्लेखनीय हैं।

सिरसुख : सिरकप के उत्तरी रक्षा-प्राचीर से लगभग एक मील दूर उत्तर-पूर्व में कुषाण शासकों ने जो नगर बसाया उसके खंडहरों का सिरसुख नाम पड़ा।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

यह नगर लगभग ४५००×३३०० फुट के क्षेत्र में बसा हुआ था। इसके दक्षिण तथा पूरब के रक्षा-प्राचीर के अवशेष विद्यमान है, परन्तु उत्तर और पश्चिम के प्राचीर नष्ट हो गये हैं। सिरकप और सिरसुख के रक्षा-प्राचीरों में मौलिक भेद दीखता है। यवन-शक-कालीन प्राचीर निर्माण में अनगढ़ प्रस्तर-खंडों का उपयोग किया गया था, परन्तु सिरसुख के प्राचीर को भारी उत्कीर्ण प्रस्तर-खंडों से सजाया गया। जमीन पर खड़े सैनिकों के उपयोग हेतु दीवार में छेद बनाये गये। बुर्ज को अर्ध-वृत्ताकार बनाया गया जिसका निम्न-खंड खोखला था।

तक्षशिला के संघाराम : नगर कोलाहल से दूर सुरम्य एकांत स्थानों में वास सदा ही भिक्षुओं को प्रिय रहा। अतएव तक्षशिला के निकटवर्ती उपयुक्त प्राकृतिक वातावरण में कई संघारामों का निर्माण हुआ जिनमें धर्मराजिका, कालवां, गिरि इत्यादि उल्लेखनीय हैं। इनके अतिरिक्त सिरकप के उत्तरी तोरण के निकट (लगभग २१०० फुट उत्तर) जंडियाल में दक्षिण-मुख के एक भव्य भवन के अवशेष हैं। मार्शल ने यूनानी मंदिरों से इसकी समानता स्थापित करने का प्रयास किया है और उनके विचार में यह पारसी मंदिर रहा होगा। प्रवण सहित उसकी लम्बाई १५८ फुट और चौड़ाई ८५ फुट है। उत्खनन के समय इसकी भीतरी दीवारें ९-१० फुट तक ऊँची थी और फर्श से इतनी ही गहरी इसकी नींव थी। रक्षा-प्राचीर के समान ही इसकी दीवारें पत्थर की थीं। इस भवन के धूसर बालुकाश्म निर्मित स्तम्भ के आधार, मध्यभाग तथा शीर्ष अलग-अलग बनाकर जोड़ दिये गये थे। फर्श के ऊपर संचित मलवे के साक्ष्य के आधार पर स्तम्भोपरि भाग के काष्ठ-निर्मित एवं सपाट होने का सहज अनुमान लगाया गया है।

धर्मराजिका : हथियाल पहाड़ी के दक्षिणी छोर और तमरा नाला के मध्य मार्शल ने २०-३० फुट ऊँचे ध्वंसावशेष में दबे अनेक स्तूप, पूजागृह तथा विहारों को उत्खनित किया। इस स्थान पर संभवतः तक्षशिला का प्राचीनतम संघाराम स्थापित हुआ था और उत्खनित पुरावशेषों से यहाँ का लगभग पाँच शताब्दियों का इतिहास ज्ञात होता है। इस स्थान पर स्तूपों तथा विहारों का पांचवीं शताब्दी तक निर्माण होता रहा।

धर्मराजिका का अर्थ है वह स्तूप जिसका निर्माण धर्मराज ने किया। दिव्या-

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

दान में अशोक को धर्मराज कहा गया है, अतएव उनके द्वारा निर्मित स्तूप को धर्मराजिका कहा जायगा। भगवान बुद्ध धर्मराज थे, अतः जिस स्तूप में उनके अस्थि-अवशेष स्थापित हों, वह धर्मराजिका कहलायगा। दोनों ही अर्थ सही हैं और मूल स्तूप का अशोक द्वारा निर्माण कराने तथा उसमें बुद्ध के अस्थि-अवशेष स्थापित किये जाने की पूरी संभावना है। यह सर्वथा स्वाभाविक प्रतीत होता है कि तक्षशिला जैसे महत्त्वपूर्ण नगर में अशोक ने अवश्यमेव स्तूप निर्माण कराया होगा। मूल स्तूप के ध्वस्त होने पर शक-पार्थियन काल में इसका पुनर्निर्माण हुआ। बनावट की शैली के आधार पर इसके पुनर्निर्माण की तिथि प्रथम शताब्दी ईसवी सन् निर्धारित करना तर्कसंगत प्रतीत होता है। इसके गर्भ-भाग का निर्माण अनगढ़ पत्थरों से किया गया है जिसके दृढ़ीकरण हेतु सोलह दीवार बनाये गये थे। केन्द्रीय स्तूप का प्लान वृत्ताकार है जिसके आधार के चारों ओर की ऊँची वेदिका पर आरोहण हेतु प्रत्येक दिशा में एक सोपान का निर्माण किया गया था। स्तूप को परिवेष्टित करती वेदिका तथा सोपानों का निर्माण कुषाणकालीन होने के पर्याप्त प्रमाण पाये गये। स्तूप के वर्तमान अवशेष ४५ फुट ऊँचे हैं और इसके व्यास की औसत लम्बाई ११५ फुट है।

धर्मराजिका के दक्षिण-पूर्व कई संघाराम के अवशेष पाये गये। इनमें विशालता की दृष्टि से (धर्मराजिका के पश्चात्) कालवां का स्थान है। यह मार्गल पहाड़ी की उत्तरी ढाल पर, धर्मराजिका के दक्षिण-पूर्व में भीड़ से दो मील की दूरी पर है। एक अभिलेख के अनुसार इसका प्राचीन नाम चडशिला था। यहाँ के अवशेषों में स्तूप-प्रांगण, कक्षों से संबद्ध तीन प्रांगण तथा कई कमरे और मंडप उल्लेखनीय हैं। यहाँ के भवन न तो एक सतह पर बने हैं और न वे समकालीन ही हैं। निर्माण-विधि ही तीन प्रकार की है।

गिरि का संघाराम कालवां से एक मील पूर्व एकांत घाटी में था। यहाँ स्तूप, विहार तथा अनेक पूजागृह के अवशेष विद्यमान हैं। कुणाल स्तूप और संघाराम तथा घई, मोहड़ा मोराडु, पिपल, जौलियां, लालचक, भमाल इत्यादि स्थानों में बने संघारामों ने तक्षशिला को बौद्धमत का एक दर्शनीय एवं ख्यातिप्राप्त केन्द्र बना दिया था।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

हस्तिनापुर

स्वाधीनता-प्राप्ति के पश्चात् हड़प्पा-युग और ऐतिहासिक काल के बीच की लुप्त कड़ी को जोड़ने की दिशा की प्रथम उल्लेखनीय सफलता हस्तिनापुर के उत्खनन को माना जायगा। महाभारत में वर्णित यह पुरास्थल उत्तर प्रदेश के मेरठ जिले में है, जहाँ सन् १९४९ ई० में खोज-क्रम में टीले की निचली परत से धूसर मृद्भांड का एक सुन्दर नमूना मिला था। अगले वर्ष श्री व्रजवासी लाल के निर्देशन में यहाँ उत्खनन का समारंभ किया गया जो दो वर्षों तक चला।

हस्तिनापुर के ६० फुट तक ऊँचे टीलों को दूर से देखा जा सकता है। गंगा की धारा यहाँ से मात्र पाँच मील है। टीलों का विस्तार उत्तर से दक्षिण आधा मील है जिससे यह संकेत मिलता है कि प्राचीन नगर नदी-तट पर बसा हुआ था। परन्तु अतीत में एक बार गंगा की बाढ़ से इसका विनाश होने के कारण मूल आकार का ठीक अनुमान नहीं लगता।

यहाँ के उत्खनन से पाँच संस्कृति-काल के साक्ष्य उपलब्ध हुए। अन्तिम संस्कृति-काल अर्थात् काल-V के आरम्भ की तिथि ग्यारहवीं शताब्दी निर्धारित की गई। टीले की सतह में सुल्तान महमूदशाह द्वितीय (१३९२-१४१२) का एक सिक्का मिला था। काल-IV के स्तरों में मथुरा के द्वितीय ई० पू० के शासकों तथा यौधेय गणराज्य के सिक्के मिले। काल-III का अंत अग्निकांड से हुआ। काल-IV और III के मध्य समय के विराम का साक्ष्य मिला, पर इसकी अवधि निर्धारित नहीं की जा सकी। काल-III का अंत तीसरी शताब्दी ई० सन् माना गया।

काल I—गेरु-मृद्भांड संस्कृति—हस्तिनापुर में सर्वप्रथम बसने वाले लोग गेरु-मृद्भांड का प्रयोग करते थे। इस संस्कृति के अवशेषों के स्तरों का ९—९½ फुट मोटा संचय मिला। गेरु-मृद्भांड इतने छोटे-छोटे टुकड़ों में उपलब्ध हुए हैं कि उनका प्रकार ज्ञात करना बड़ा कठिन है। परन्तु इतना तो पता लग ही गया कि ये पात्र चाक पर बनाये जाते थे और जिस मिट्टी का प्रयोग किया गया वह मध्यम श्रेणी का था। पकाने के पूर्व बर्तनों पर गेरु-रंग का घोल चढ़ाया जाता था। चूंकि ये पूरे नहीं पक पाये अतः इनका रंग नारंग-लोहित से गहरा लाल हो गया। यह रंग हाथ लगाने से ही छूटने लगता है। मृद्भांड के अतिरिक्त अन्य प्रकार के अवशेषों के अभाव में इस युग के लोगों के रहन-सहन सम्बन्धी पहलुओं का विवरण प्रस्तुत नहीं किया जा सका, परन्तु अन्यत्र उपलब्ध साक्ष्य से गेरु-मृद्भांड प्रयोगी जाति घुमक्कड़ प्रतीत होती है।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

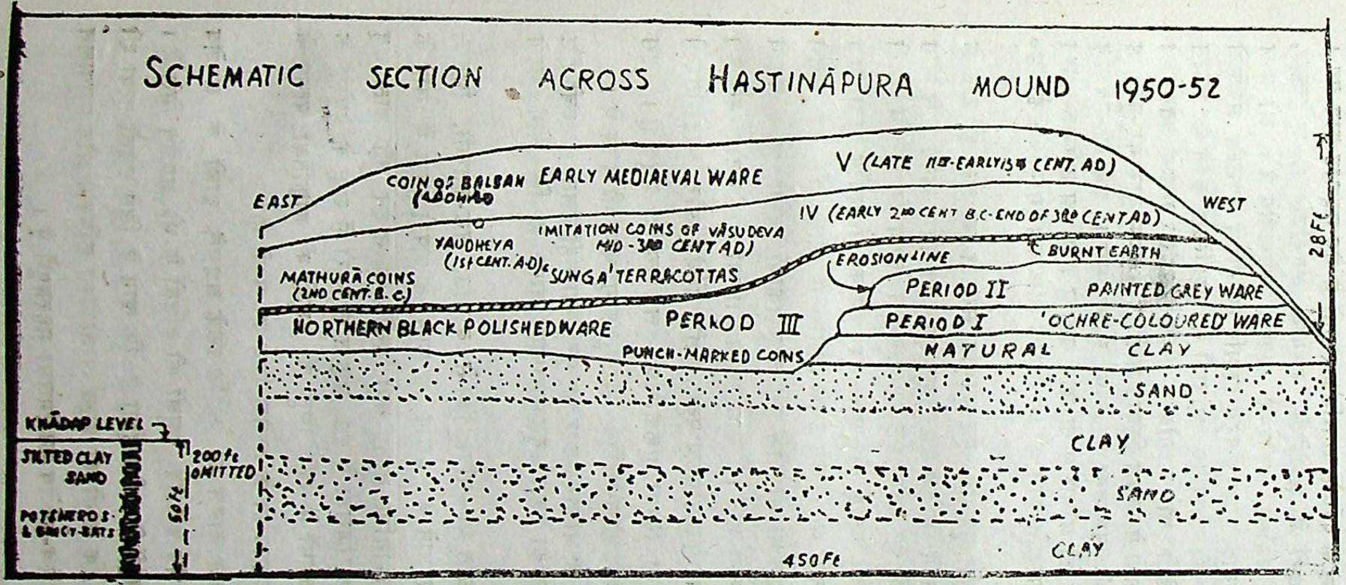

AI, No. 9

हस्तिनापुर के संस्कृति क्रम

चित्र—१३

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

हस्तिनापुर के उत्खनन के पश्चात् शताधिक स्थानों में गेरु-मृद्भांड पाये गये। इस संस्कृति से सम्बद्ध पुरास्थलों में अम्बखेड़ी, बरगाँव, अतरंजिखेड़ा, अहिच्छत्र, नोह, बहादराबाद, साईपाई, बिसौली, नसीरपुर इत्यादि उल्लेखनीय हैं। श्री लाल महोदय ने बिसौली, बहादराबाद, राजपुर परसु इत्यादि स्थानों में उपलब्ध अवशेषों के आधार पर गेरु-मृद्भांड को ताम्रायुध भांडारों से सम्बन्धित करने का प्रयास किया। दूसरी ओर, अम्बखेड़ी और बड़गाँव में मिले इसी संरचना के बर्तनों को श्री देशपांडे ने उत्तर-हड़प्पा काल से सम्बद्ध किया। साईपाई में प्रथम बार गेरु-मृद्भांड संस्कृति के साथ ताम्रायुधों की सम्बद्धता के स्पष्ट साक्ष्य मिले। अब गेरु-मृद्भांड तथा ताम्रायुध के निर्माताओं को अभिन्न माना जाने लगा है। विभिन्न ऊष्मिक-दीप्ति तिथियों के आधार पर इस संस्कृति-काल की आरम्भिक तिथि लगभग २००० ई० पू० मानी जायगी।

काल II—चित्रित धूसर मृद्भांड—गेरु-मृद्भांड संस्कृति का अन्त हो जाने के कुछ समय पश्चात् हस्तिनापुर में चित्रित धूसर मृद्भांड का प्रयोग करने वाले लोग आकर बस गये। धूसर रंग के इन बर्तनों पर साधारणतया कृष्ण रंग से चित्रकारी की जाती थी, परन्तु कभी-कभी कत्थई और लाल-भूरा रंग का भी प्रयोग होता था। यह मृद्भांड भी चाक पर बनता था, परन्तु इसके निर्माण में साफ की हुई उत्तम श्रेणी की मिट्टी का प्रयोग होता था और इसे पूरी तरह पकाया जाता था। पकाने के पूर्व इस पर चित्र बनाये जाते। साधारणता थालियाँ और कटोरे मिले हैं। चित्रकारी के नमूनों में किनारे पर सामान्य पट्टी, सीधी, तिर्यक् और आड़ी-तिरछी रेखाओं के समूह, सर्पिल नमूना, सिग्मा, एककेन्द्रिय वृत्त इत्यादि प्रमुख हैं। इस मृद्भांड के साथ लोहित, कृष्ण, कृष्ण-लोहित और धूसर मृद्भांड भी बनते थे।

इस युग के आवासों के आकार-प्रकार का पूरा पता नहीं चलता। कच्ची ईंट के अवशेष मिलने से इस बात का सहज अनुमान लगाया जाता है कि लोग कच्चे मकानों में रहा करते थे।

इस युग का प्रमुख धातु था—ताँबा, जिससे बाणाग्र, नख-कतरनी, छिद्रक, अंजन-शलाका इत्यादि बनाये जाते थे। यद्यपि इस काल के ऊपरी स्तरों में लोहे के पिंड उपलब्ध हुए, परन्तु लौह-निर्मित वस्तुएँ नहीं मिलीं। ध्यान देने की बात यह है कि आलमगीरपुर तथा अतरंजिखेड़ा में इस संकृति के स्तरों में लोहे के प्रयोग के प्रमाण मिलते हैं। अन्य अवशेषों में पकी मिट्टी की पशुओं की आकृतियाँ, पत्थर के बने मनके और बाट, पेन्डेन्ट इत्यादि के उल्लेख किये जा सकते हैं।

लोगों का मुख्य भोजन चावल था, क्योंकि इसके अधजले दानों के अवशेष मिले हैं। गाय, बैल, भैंस, भेड़ इत्यादि पशुओं की हड्डियों के भी अवशेष मिले हैं। हड्डियों में अस्त्र-प्रहार के चिह्नों से प्रतीत होता है कि खाने के लिए इनकी हत्या की जाती थी। यह भी स्पष्ट है कि लोगों की प्रमुख आजीविका कृषिकर्म और पशुपालन थी। अवशेषों में घोड़े के अस्थि-अवशेष का मिलना महत्त्वपूर्ण है।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

इस सभ्यता के ६-७ फुट मोटे संचय के ऊपर एक विनाशकारी बाढ़ के प्रमाण उपलब्ध हुए। इस बाढ़ के फलस्वरूप आबादी का काफी बड़ा भाग बह गया। इस प्राकृतिक प्रकोप के कारण लोग वहाँ से भाग खड़े हुए और हस्तिनापुर वीरान हो गया।

हस्तिनापुर के उत्खनन के पश्चात् चित्रित धूसर मृद्भांड संस्कृति के अवशेष अहिच्छत्र, आलमगीरपुर, अतरंजिखेड़ा, कौशाम्बी प्रभृति कई स्थानों में मिले। हस्तिनापुर के उत्खनक ने इस संस्कृति का काल ११००-८०० ई० पू० निर्धारित किया। विभिन्न स्थानों के नमूनों के C[14] परीक्षण से इस संस्कृति की भिन्न-भिन्न तिथियाँ निकाली गई हैं। हस्तिनापुर के इस काल की ऊपरी परतों की कार्बन-१४ तिथि ५०५ ± १३० और ३३५ ± ११५ आई। परन्तु परीक्षित नमूनों में वृक्ष की जोड़ों का सम्पर्क दूषण आ जाने के कारण यह तिथि मान्य नहीं है। अतरंजिखेड़ा में इस संस्कृति की C[14] तिथि १०२५ ± ११० ई० पू० तथा नोह में ८२० ± २२५ ई० पू० और ६०५ ± २५५ के बीच आती है। इस मृद्भांड के प्रचलन की सर्वमान्य कार्बन-१४ तिथि ८००-४०० ई० पू० निर्धारित की गई है।

चित्रित धूसर मृद्भांड संस्कृति को लाल महोदय महाभारत के अधार पर आर्य संस्कृति मानते हैं। जिस बाढ़ का ऊपर उल्लेख किया गया, उसे उन्होंने पुराणों में वर्णित बाढ़ से अभिन्न माना। अधिक संभावना इस बात की है कि यह संस्कृति महाभारत काल के कौरव-पांडवों की थी।

काल III—उत्तरी कृष्ण-मार्जित मृद्भांड संस्कृति—कुछ काल तक वीरान रहने के पश्चात् हस्तिनापुर पुनः आबाद हुआ। उत्खनन में जो वस्तुएँ उपलब्ध हुईं उनसे विदित होता है कि इस बार जो लोग यहाँ आकर बसे वे अत्यन्त समृद्ध थे। कृषि और पशुपालन के अतिरिक्त वाणिज्य-व्यापार में भी उन्नति करके उन लोगों ने अपने समाज को सुखी-संपन्न बनाया था। ये लोग मार्जित मृद्भांड का प्रयोग करते थे। इस मृद्भांड का अति उत्तम श्रेणी की मिट्टी से चाक पर निर्माण किया जाता था, परन्तु इसके निर्माण की तकनीक का सही पता अभी तक नहीं लग पाया है। यह कई रंगों का मिला है, जैसे—काला, नीला, सुनहरा एवं रजत सदृश चमकीला इत्यादि। कटोरे और थालियाँ इसके प्रमुख प्रकार हैं। इसके अतिरिक्त धूसर, लोहित और कृष्ण-लेपित मृद्भांड भी मिले। जहाँ तक उत्तरी कृष्ण-मार्जित मृद्भांड का प्रश्न है, यह मुख्यतः गंगा घाटी में मिला है, यद्यपि अमरावती तक इसका विस्तार परिलक्षित होता है।

इस काल के भवन पक्की ईंट के बनते थे। उत्खनन में १५ × १५ फुट आकार के कमरे मिले। प्रत्येक घर में एक शोष-गर्त की व्यवस्था रहती थी। कई पकी मिट्टी के बने मण्डल-कूप भी पाये गये।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

लौह वस्तुओं में कँटीले और कोटरयुक्त बाणाग्र, छेनी, हँसुए की धार इत्यादि मिले, जिससे प्रतीत होता है कि इस काल में लोहे का प्रचुर प्रयोग होने लगा था। इस परिवर्तन के फलस्वरूप समाज के आर्थिक आधार में दृढ़ता आई। परन्तु लोहे के प्रयोग के कारण ताँबे की उपयोगिता का अन्त नहीं हो गया। ताम्र-निर्मित वस्तुओं में अंजन-शलाका, नख-कतरनी इत्यादि मिले।

इस सभ्यता के निर्माताओं ने आर्थिक क्षेत्र में इतनी प्रगति कर ली थी कि चाँदी और ताँबे के सिक्कों का प्रयोग भी होने लगा। इन सिक्कों को आहत सिक्का कहा जाता है। एक दूसरे प्रकार का भी सिक्का मिलता है जिसे ढला सिक्का कहते हैं। इन सिक्कों का उल्लेख विभिन्न प्राचीन ग्रन्थों में कार्षापण के नाम से हुआ है।

लोग पकी मिट्टी की मूर्तियाँ बनाने की कला में भी दक्षता प्राप्त कर चुके थे। वे विभिन्न पशुओं और मनुष्य की आकृतियों का निर्माण करते थे। पशुओं की आकृतियों में हाथी और घोड़े प्रमुख थे। स्त्री-मूर्तियों को कान और गले के सुन्दर अभूषणों तथा केश-सज्जा से अलंकृत किया जाता था। इन सबों के अतिरिक्त कई छोटे-छोटे अवशेष मिले, जैसे—मनके, वलय, तकुआ-चक्री इत्यादि। इस काल के अंतिम संचय में भीषण अग्निकांड द्वारा सम्पूर्ण नगर के विनाश के प्रमाण-स्वरूप जली दीवारें, फर्श और चारकोल के अवशेष मिले।

काल IV—शुङ्ग-कुषाण (२०० ई० पू०—३०० ई० सन्)—हस्तिनापुर के तृतीय सांस्कृतिक युग का भीषण अग्निकांड से अन्त के अनन्तर कुछ समय व्यतीत होने पर वह पुनः सजीव हो उठा। इस काल के अवशेषों में पूर्व-कालीन मृद्भांड नहीं दीखते। अब लोहित और धूसर मृद्भांडों का निर्माण होने लगा, जिनको विशेष उत्तम नहीं माना जा सकता। इन पर मुद्रांकित तथा उत्कीर्ण नमूने बनाये जाते थे जिनमें त्रिरत्न, स्वस्तिक इत्यादि मिलते हैं। नये मृद्भांड के प्रकारों में प्रमुख थे—कटोरे, टोंटीदार चिलमची, बोतल-ग्रीवाकार फुहारे, लघु-कलश इत्यादि। शुङ्ग-कुषाण कालीन जो मिट्टी की मूर्तियाँ मिली हैं वे अत्यन्त कलात्मक हैं।

मिट्टी की वस्तुओं के अतिरिक्त यौधेय गणराज्य तथा मथुरा जनपद के सिक्के भी मिले। इस काल के अंतिम स्तर में कुषाण राजा वासुदेव के सिक्कों की अनुकृति भी उपलब्ध हुई। कार्नेलियन और जैस्पर के मनके भी बनते थे। अभिलेखयुक्त दो पात्र तथा एक मुहर भी मिले। इस काल के आवास पक्की ईंट के बने होते थे और लोहे का प्रयोग भी पर्याप्त मात्रा में होता था।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

काल V—पूर्व मध्य काल (११[illegible]—१२०० ई० सन्)—चतुर्थकाल के अन्त के पश्चात् लम्बी अवधि के अनन्तर हस्तिनापुर पुनः आबाद हुआ। इस काल के संचय के मध्य-स्तर से बलवन का सिक्का तथा मुगल-पूर्व काल के काचित मृद्भांड मिलने से मुगलकाल में इस स्थान को दो बार आबाद करने का अनुमान लगाया जाता है।

इस प्रकार उत्खनन में उपलब्ध साक्ष्यों के आधार पर प्रस्तुत उपर्युक्त विवरण से यह प्रमाणित होता है कि हस्तिनापुर को अतीत में अनेक संस्कृतियों का केन्द्र होने का गौरव प्राप्त हुआ। इस स्थान का सर्वाधिक महत्त्व यह है कि यहाँ सर्वप्रथम चित्रित धूसर मृद्भांड संस्कृति के पूर्व-स्तर में गेरू मृद्भांड मिले, जिससे इस मृद्भांड से सम्बद्ध संस्कृतियों का स्तरीय स्थान निर्धारित करना सम्भव हुआ। यह भी स्पष्ट हुआ कि चित्रित धूसर मृद्भांड उत्तरी कृष्ण-मार्जित मृद्भांड का पूर्व-कालीन है। यह मृद्भांड गंगा घाटी के अनेक स्थानों में उपलब्ध हुआ और इसके निर्माताओं ने हड़प्पाइयों के पश्चात् घग्गर घाटी को आबाद किया। जिन प्राचीन नगरों के अवशेष-स्थलों में यह मृद्भांड मिला वे सभी अतीत में प्रमुख राज्यों की राजधानियाँ थीं। बाढ़ द्वारा हस्तिनापुर के विनाश कि पौराणिक कथा की पुष्टि उत्खनन द्वारा होने से यह अनुमान लगाना तर्कसंगत होगा कि पांडव वंश के राजा निचक्षु द्वारा हस्तिनापुर से कौशाम्बी राजधानी स्थानान्तरित करने की कथा भी सच्ची है।

कालीबंगां

हड़प्पा के दक्षिण-पूर्व १२० मील दूर, राजस्थान के गंगानगर जिले के कालीबंगां नामक प्रसिद्ध पुरास्थल के उत्खनन से भारत की हड़प्पा-पूर्व संस्कृति एवं हड़प्पाइयों के साथ उसके सम्बन्धों पर महत्त्वपूर्ण प्रकाश पड़ा। यह स्थान किसी जमाने में घग्गर नदी की सदानीरा धारा से सिंचित होकर हरा-भरा एवं उर्वर था, परन्तु आज वह धारा शुष्क है। भारतीय पुरातत्त्व सर्वेक्षण ने सन १९५९ ई० में यहाँ पर उत्खनन आरम्भ किया जिसके परिणामों ने इस स्थल को ख्याति के शिखर पर पहुँचा दिया।

कालीबंगां में प्राकृतिक भूमि के ऊपर के स्तर में जिस संस्कृति के अवशेष उपलब्ध हुए वह निश्चितरूप में हड़प्पा-पूर्व है। इस स्थान पर पाँच हड़प्पा-पूर्व निर्माण-कालों का पता लगा। यहाँ के हड़प्पा-पूर्व नगर का प्लान २५० × १८० मीटर के समचतुर्भुज जैसा है (चित्र-१४अ)। इसे कच्ची ईंट के रक्षा-प्राचीर से परिवेष्टित बनाया गया था। इस रक्षा-प्रचीर के दो प्रमुख निर्माणकालों का पता लगाया जा

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh
सका। मूल रक्षा-प्राचीर की औसत चौड़ाई १·९० मीटर थी, जो उत्तरकाल में विस्तार एवं सुदृढ़ करने पर ३·७०-४·१० मीटर हो गई। दोनों निर्माणकालों के मकानों और रक्षा-प्राचीर के निर्माण में ३० × २० × १० सेंटीमीटर माप के ईंटों का प्रयोग किया गया।

हड़प्पा-पूर्व काल के मकान कच्ची ईंट के बनते थे। वे कभी-कभी सड़क के दोनों ओर बनाये जाते।

इस संस्कृति के मध्यकालीन स्तर के एक गृह के कमरे में उपलब्ध चूल्हों के अवशेष से तत्कालीन पाक-विधि सम्बन्धी रोचक बातें ज्ञात हुईं। ये चूल्हे दो प्रकार के थे—जमीन के ऊपर और अन्दर।

इस काल के मृद्भांड का संरचना के आधार पर प्रकार-भेद निर्धारित किया गया। प्रकार-१ के बर्तनों का सेक्शन हल्का तथा पतला है, और उसका रंग लाल और गुलाबी के बीच। बर्तनों पर प्रायः कृष्ण रंग से चित्रकारी की जाती, और कभी-कभी मंदलोहित रंग पर कृष्ण-श्वेत चित्रण होता। चित्रकारी के नमूनों में क्षैतिज रेखाएँ, आड़ा-तिरछा नमूना, जालीदार त्रिभुज या सादे त्रिभुज के ऊपर सीढ़ियाँ, खंड अथवा पूरक कम्बुक, लहरदार खड़ी रेखाओं के अन्दर मूँछ-जैसे त्रिदल-पट्ट इत्यादि उल्लेखनीय हैं। एक विशिष्ट नमूना था—मध्यवर्ती मुक्त स्थान युक्त सममित संयुक्त अर्धवृत्त, जिनके मध्यवर्ती स्थान देखने में अवतल (नत)-भुजी त्रिभुज के लटकन जैसे लगते। त्रिभुजों एवं अर्धवृत्तों को आड़ा-तिरछा नमूना, तिर्यक् या तरंगित रेखाएँ, सीढ़ियाँ, मसूराकृति, जाली इत्यादि विभिन्न नमूनों से अलंकृत किया जाता। जहाँ तक बर्तनों के आकार का प्रश्न है, उसकी संख्या सीमित है। प्रमुख आकारों में उठे कोर अथवा बाहर मुड़े किनारे वाले बर्तन, चकती या मंडलाधार, शुंडाकार या उत्तल (उन्नत) भुजी कटोरे और सपादपीठ आधार कलश ध्यान देने योग्य हैं।

प्रकार—२ के मृद्भांड की विशेषता इसकी लेप-विधि और वाह्य रचना है। इस वर्ग के बर्तनों का सतर्कतापूर्वक निर्माण किया जाता था और गर्दन तक लाल लेप चढ़ाया जाता। तत्पश्चात् फूल-पत्ते, पशु-पक्षी इत्यादि के नमूने कृष्ण रंग से चित्रित किये जाते। इस वर्ग में केवल गोलाकार जार मिला।

प्रकार—३ के मृद्भांड में अधिक उत्तम प्रकार के लेप का प्रयोग किया जाता था, जिससे बर्तन काफी स्निग्ध हो जाते। लाल और नील-लोहित रंग के लेप चढ़े पात्रों पर कृष्ण रंग से पौधे, मापक्रम, मेटोप (metopes), जालीदार फंदे इत्यादि के नमूने चित्रित किये जाते। नमूनों में पक्षी-युक्त ताड़-वृक्ष के फलक विशेष रोचक हैं। आकारों में पेंदेदार गोल और अंडाकार कलश, ढक्कन, कटोरे, सस्तम्भ थाली इत्यादि उल्लेखनीय हैं।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

प्रकार—४ के बर्तनों पर लोहित लेप चढ़ाया जाता। इनके सेक्शन मोटे और दृढ़ होते थे और इनके मुख्य आकारों में भारी जार, कटोरे और बेसिन प्रमुख हैं। इनको उर्मिल रेखाओं सदृश उत्कीर्ण नमूनों से अलंकृत किया जाता।

प्रकार—५ में पांडु या पांडु-लोहित रंग का लेप चढ़ाया जाता था। चित्रण के लिए कृष्ण और कभी-कभी नील-लोहित या श्वेत रंगों का प्रयोग होता। नमूनों में क्षैतिज रेखाएँ, तिर्यक रेखाएँ, सिग्मा, जालीदार अथवा सादा कम्बुक या पाश, मछली, मुर्गा इत्यादि मिलते हैं। इस वर्ग के बर्तनों के मुख्य आकार थे—जार, ढक्कन, कटोरे, थाली, सस्तम्भ थाली इत्यादि।

प्रकार—६ का मृद्भांड धूसर रंग का होता था और इसके आकार वही होते जो ऊपर के प्रकारों में मिले।

उपर्युक्त अवशेषों के अतिरिक्त छोटे-छोटे ब्लेड, स्टियटाइट, शेल, कार्नेलियन, पकी मिट्टी तथा ताँबे के बने मनके, शेल के वलय, पकी मिट्टी की वस्तुएँ जैसे सांड़ खिलौना-बैलगाड़ी, वलयाकार अंगूठी, चूड़ियाँ इत्यादि उल्लेखनीय हैं।

कालीबंगां के हड़प्पा-पूर्व काल में कृषि का स्पष्ट लक्ष्य मिलना महत्वपूर्ण है। रक्षा-प्राचीर के बाहर नगर से दक्षिण-पूर्व खेत पाया गया। जोत की पंक्तियाँ एक दूसरे से पूर्व-पश्चिम, ३० सेंटीमीटर और उत्तर-दक्षिण १०० सेंटीमीटर के अन्तर पर पाई गईं। इस प्रकार की जोत से तत्कालीन कृषकों द्वारा एक ही खेत, में दो अनाज बोने का संकेत मिलता है। जोत-चिह्न का मिलना यहाँ के उत्खनन की एक प्रमुख उपलब्धि है क्योंकि इस प्रकार का साक्ष्य भारत में संभवतः प्रथम बार मिला।

जब कालीबंगां में हड़प्पाइयों का आगमन हुआ तो उन्होंने वहाँ कच्ची ईंट के एक सदृढ़ और विशाल रक्षा-प्राचीर का निर्माण कर उसे हड़प्पा और मोहेंजोदड़ो सदृश रूप प्रदान किया, अर्थात् पश्चिम में दुर्ग और पूर्वी भाग में नागरिक बस्ती। दोनों भागों का नियोजन उत्तर-दक्षिण लंबा समांतर चतुर्भुज जैसा था, और पूर्वी भाग पश्चिमी से काफी बड़ा था (चित्र-१४ ब)। कालीबंगां का पूर्वी भाग भी रक्षा-प्राचीर से परिवेष्टित था और संभवतः मोहेंजोदड़ो में भी ऐसा ही था, परन्तु हड़प्पा के पूर्वी भाग में रक्षा-प्राचीर का अवशेष नहीं मिला। लोथल और सुरकोतदा में एक ही रक्षा-प्राचीर से नगर के दोनों भागों को सुरक्षा प्रदान की गई थी। हड़प्पा और कालीबंगां में दुर्ग तथा पूर्वी भाग के मध्य खाली जमीन थी। मोहेंजोदड़ो में संभवतः दोनों भागों के बीच से होकर एक नहर निकाली गई थी अथवा वहाँ सिंधु नदी की कोई धारा प्रवाहित थी। हड़प्पा और मोहेंजोदड़ो के दुर्ग के मिट्टी और कच्ची ईंट

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

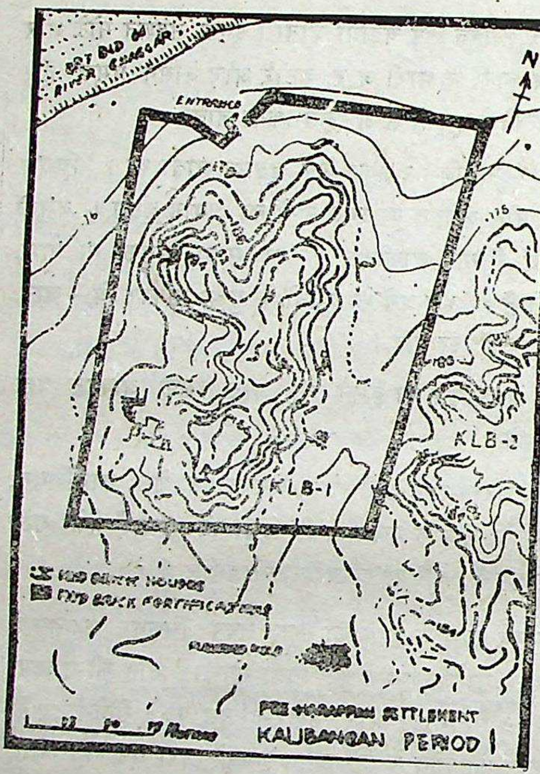

हड़प्पा-पूर्व काजीवंगां
चित्र—१४अ

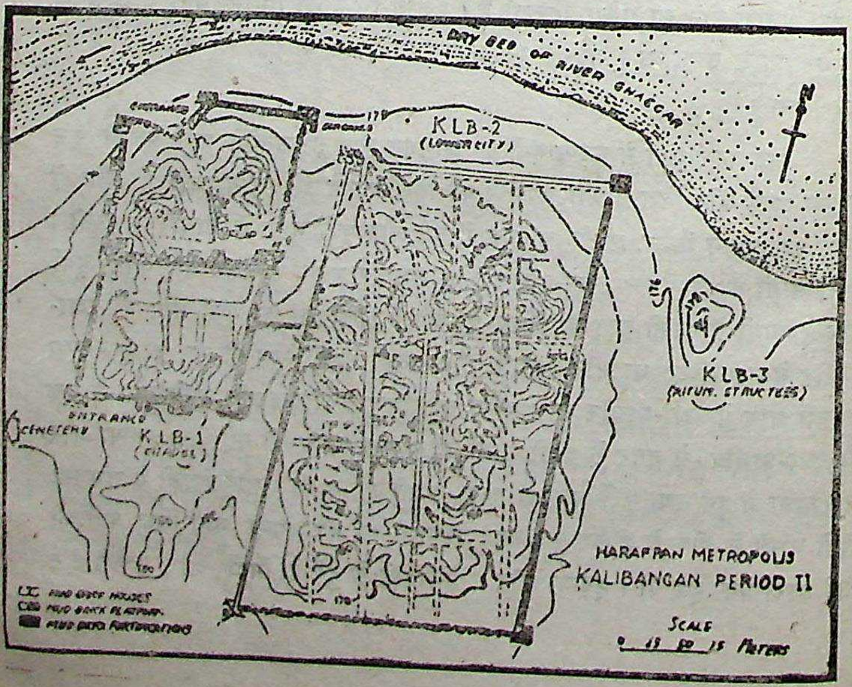

हड़प्पाकालीन कालीवंगां चित्र—१४व

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

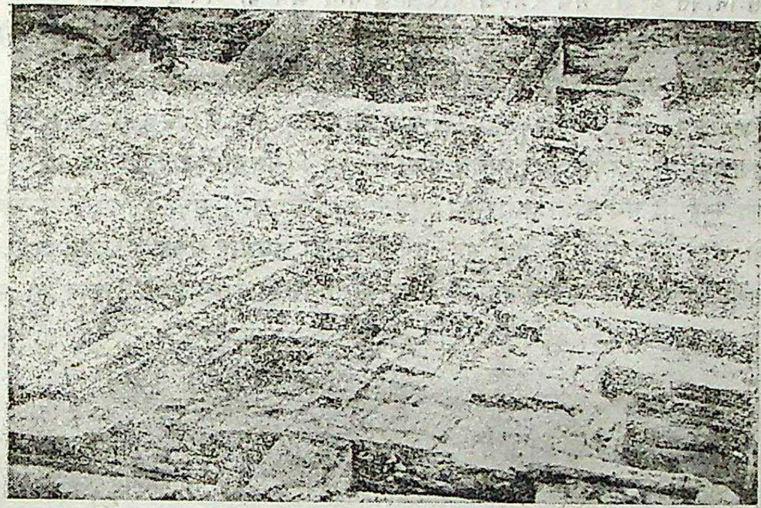

IAR, 1962-63

हड़पा-पूर्व कालीबंगां के भवनावशेष

चित्र—१५

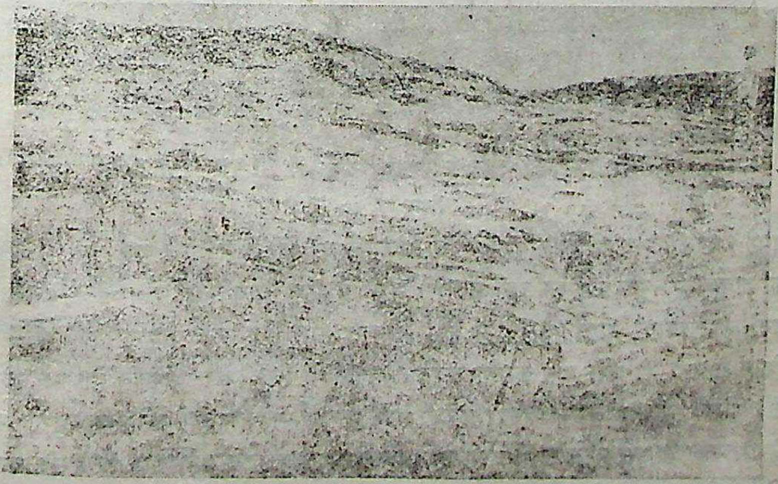

रक्षा-प्राचीर

चित्र—१६

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

से निर्मित आधार मंच रक्षा-प्राचीर के अभिन्न अंग थे, परन्तु कालीबंगां में यह विशेषता नहीं पाई गई। प्लान में समचतुर्भुज फलक जैसा यहाँ के दुर्ग को दो बराबर भागों में विभाजित किया गया था और दक्षिणी अर्धभाग में मिट्टी तथा ईंट (४० × २० × १० या ३० × १५ × ७·५ सेंटीमीटर माप के) मंच की कई (४-६) इकाइयाँ थीं जिनके ऊपर विशेष भवन बने थे। समकालीनता के बावजूद यहाँ का कोई भी मंच रक्षा-प्राचीर का अभिन्न अंग नहीं था— मंचों और रक्षा-प्राचीर के बीच अंतराल रखा गया था। दुर्ग के उत्तरी अर्धभाग तथा नागरिक वस्ती की सभी गलियों में मोहेंजोदड़ो के समान नालियों की व्यवस्था का अभाव भी पाया

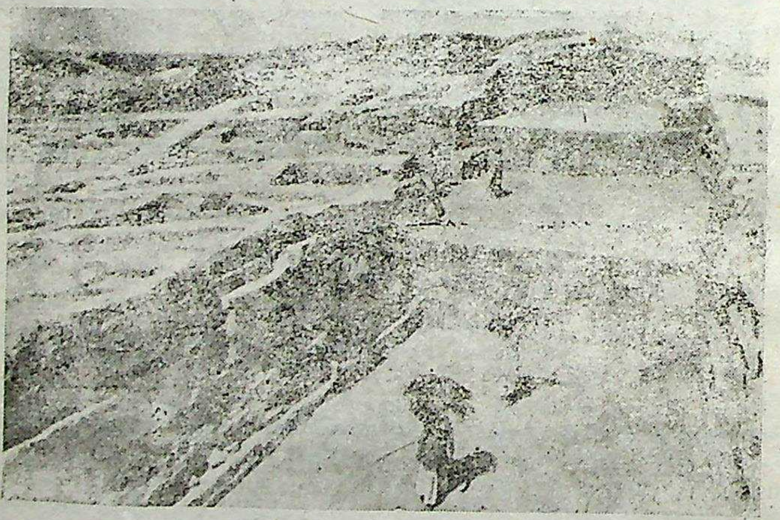

कालीबंगां नगर का मुख्य मार्ग IAR, 1962-63

चित्र—१८

गया। पक्की ईंट की नालियों की विशेष व्यवस्था दुर्ग के दक्षिणी अर्धभाग में होने का अवश्य ही कुछ उद्देश्य रहा होगा। मंचों से सम्बन्धित कुछ कुओं के मिलने से अनुमान लगाया गया है कि इनका सम्बन्ध सामूहिक स्नान सदृश किसी धार्मिक क्रिया से रहा हो और इस कारण अवसर-विशेष के लिए जल विसर्जन हेतु इस भाग में नालियों की समुचित व्यवस्था करनी पड़ी हो। मोहेंजोदड़ो में स्नानागार की विद्यमानता से इस संस्कृति में जल का महत्त्व स्पष्ट हो जाता है, अतः ऐसी संभावना को अस्वीकार नहीं किया जा सकता।

रक्षा-प्राचीर के दो निर्माण कालों में क्रमशः ४० × २० × १० और ३० × १५ × ७·५ से० मी० माप की ईंटों का प्रयोग किया था। पूर्व अवस्था में प्राचीर

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

की चौड़ाई ६·५० और ७ मीटर, के बीच थी परन्तु उत्तरावस्था में दोनों पार्श्वों के विस्तार के फलस्वरूप इसकी मोटाई ९ से ११ मीटर तक पहुँच गई। वाह्य प्रवण-युक्त (battered) १७ मीटर चौड़ा और ९·३५ मीटर प्रक्षेपण का उभार भव्य है। रक्षा-प्राचीर में बुर्जों और तोरणों की भी व्यवस्था की गई थी। तोरणों का निर्माण पक्की ईंट से हुआ था। प्राचीर के बाह्य तथा भीतरी आमुख पर कच्चा पलस्तर किया हुआ था। दुर्ग के उत्तरी भाग के उत्खनन में तीन मीटर चौड़ा रक्षा-प्राचीर का अवशेष मिला।

हड़प्पा और मोहेंजोदड़ो के समान कालीबंगां के उत्खनन में भी कई मुख्य मार्गों का पता लगा (चित्र-१८)। वीथियों और मुख्य पथों की चौड़ाई क्रमशः १·८० और ७·२० मीटर थी, जिनके दोनों ओर मकानों के ब्लॉक बने हुए थे। सड़कों को पक्का करने के लिए विशेषतः ऊपरी परतों में मृत्पिंड का प्रयोग किया गया था। संभवतः वर्षा कम होने से सभी गलियों में पक्की नालियों की व्यवस्था नहीं की गई थी। जिन गलियों में नालियों का निर्माण नहीं किया जा सका वहाँ के आवासों की गंदगी को काष्ठ तथा पक्की ईंट की नालियों द्वारा गलियों में गड़े शोषभांड़ों (Soak-jar) में गिराया जाता था। नगर-नियोजन इस ढंग से किया गया था कि प्रत्येक भवन के अगल-बगल मार्ग पड़ते थे। गृहों का प्लान आयताकार होता जिनमें एक आंगन, प्रायः एक कुआँ और तीन पश्वों में क्रम से ६-७ कमरे रहते। करीब-करीब सभी घरों के एक कमरे में अग्नि-कुंड पाया गया जिससे अग्नि-पूजन के प्रचलन का संकेत मिलता है। दुर्ग के एक मंच के ऊपर एक पंक्ति में पाँच अग्नि-कुंडों की विधमानता से अग्नि का महत्त्व स्पष्ट होता है। लोथल में अग्निकुंड के निकट पकी मिट्टी का चम्मच मिला जिसका उपयोग आहुति देने के लिए किया जाता होगा। सभी भवनों का निर्माण ३० × १५ × ७.५ से० मी० माप की कच्ची ईंटों से किया गया था। एक मकान के कमरे में प्रतिच्छेदी वृत्त का हड़प्पाई नमूना वाले खपड़े की फर्श का अवशेष मिला। उत्खनित भवनों में १३.४० × १२.३५ मीटर क्षेत्र में निर्मित विशाल दीवारों का भवन उल्लेखनीय है। यह भवन सामान्य प्रकार का नहीं था—इसके मध्य में वर्ग-जैसा कमरा था जिसके चतुर्दिक बरामदे सदृश कमरों और कक्षों को सममित बनाया गया था।

जैसा कि ऊपर उल्लेख किया गया, कालीबंगां की संस्कृति में अग्नि और जल का विशेष धार्मिक महत्त्व था। अग्नि-कुंड न केवल दुर्ग के एक मंच और अनेक मकानों में पाये गये, परन्तु रक्षाप्रचीर के बाहर पाँच अग्नि-कुंड वाला एक भवन भी पाया गया। पाँच संख्या भी ध्यान देने योग्य है। यहाँ हड़प्पा और मोहेंजोदड़ो के समान देवी-देवता या पूजा के पात्र सम्बन्धी सामग्री का अभाव पाया गया। मुहरों

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

से भी इस सम्बन्ध में विशेष ज्ञान प्राप्त नहीं होता। इस स्थिति में उपलब्ध सामग्री द्वारा अग्नि और जल के धार्मिक महत्त्व का संकेत सही प्रतीत होता है।

दुर्ग के टीले से पश्चिम-दक्षिण, पश्चिम लगभग ३०० मीटर की दूरी पर हड़प्पाई श्मशान पाया गया। उत्खनन से दो प्रकार के शवाधान के साक्ष्य मिले—एक तो यथावत् लंबा शवाधान और दूसरा, भांड शवाधान। हड़प्पाई श्मशान में दूसरी प्रथा का यह प्रथम उदाहरण है। इसमें शव के साथ अन्त्येष्टि-सामग्री रख दी जाती थी। ईंट की बनी कब्र का मिलना एक महत्त्वपूर्ण उपलब्धि है। इस कब्र का फर्श लगभग आयताकार था और इसकी चारों दीवारें कच्ची ईंट की बनी थीं, जिनपर कच्चा पलस्तर किया हुआ था।

यहाँ के मृद्भांड हड़प्पा और मोहेंजोदड़ो में पाये गये हड़प्पाई प्रकार के हैं—दोनों के प्रकार भेद और नमूने समान हैं। अन्य प्रमुख पुरावशेषों में ये उल्लेखनीय हैं—चर्ट के बने ब्लेड, तौल, मापक-स्केल, मुहरें, पकी मिट्टी की मूर्तियाँ, ताम्रोपकरण, शृंगार-प्रसाधन इत्यादि। पकी मिट्टी की टिकिया जिसके पुरोभाग तथा पृष्ठभाग में संकीर्ण आकृतियाँ उत्कीर्ण हैं, जिनमें एकशृंगी भी है, रोचक है। इसका धार्मिक क्रिया के अतिरिक्त कोई दूसरा उपयोग नहीं जान पड़ता। एक मृद्भांड ऐसा भी मिला जिस पर वस्त्र का चिह्न है। साभिलेख कुछ ठीकरें भी उपलब्ध हुए हैं और अक्षरों के अतिक्रमण के आधार पर उनके लिखने कि दिशा दाहिने से बाएँ होने का अनुमान लगाया जाता है।

कालीबंगां के अन्त के संभावित कारणों में किसी दूरगामी प्राकृतिक घटना का प्रभाव अर्थपूर्ण प्रतीत होता है। इसके लिए जलवायवीय परिवर्तन का प्रभाव स्वीकारने के पर्याप्त आधार पाये गये। इस सम्बन्ध में प्राकृतिक वातावरण के सर्वेक्षण से जो तथ्य सामने आये वे महत्त्वपूर्ण हैं। तदनुसार कालीबंगां के अवसान का मूल कारण घग्गर की धारा का गंगा से मिलन था। यह मत पूर्व काल में यमुना की धारा का सिंधु तथा गंगा नदियों द्वारा अधिग्रहण के अनुमान पर आधारित है। कालीबंगां के अस्तित्व काल में यमुना सिंधु-घग्गर जलधारा का अंग थी। तदनन्तर उसने अकस्मात् अपना मार्ग पूरब की ओर मोड़ दिया। इस घटना का यमुना की पूर्व धारा के तटीय प्रदेश स्थित अबादी के स्थलों पर दूरगामी प्रतिकूल प्रभाव पड़ा—जलाभाव के फलस्वरूप आबाद बस्तियाँ वीरान होने लगीं। यमुना की अनुमानित पुरानी धारा के क्षेत्र में किये गये सर्वेक्षण से अनेक प्राचीन आबादी के स्थानों के अवशेष पाये गये।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

आहड़

राजस्थान की बनास घाटी में किये गये खोज और उत्खनन से वहाँ सुविकसित ताम्राश्म संस्कृति के अवशेष मिले जिसके दो प्रमुख केन्द्र थे—आहड़ और गिलुंड। आहड़ नाम की नदी के तट पर उदययुर रेलवे स्टेशन से लगभग ६ सौ मीटर पश्चिम दो टीले खड़े हैं जिनके मध्य से आधुनिक सड़क निकलती है। इन्हीं टीलों में अहाड़ का गौरवमय अतीत छिपा पड़ा था। सौराष्ट्रीय हड़प्पाई संस्कृति के ह्रास के अनन्तर विकसित आद्यैतिहासिक संस्कृतियों के लिए इस पुरास्थल के उत्खनन में उपलब्ध साक्ष्य महत्त्वपूर्ण माने जायेंगे। इस स्थान में सर्वप्रथम पुरातत्त्व विभाग, राजस्थान सरकार की ओर से सन् १९५४-५६ में उत्खनन-कार्य किये गये। पुनः सन् १९६१-६२ ई० में डेक्कन कॉलेज स्नातकोत्तर अनुसंधान संस्थान, पूना विश्वविद्यालय, मेलबोर्न विश्वविद्याय तथा राजस्थान सरकार के पुरातत्त्व विभाग द्वारा सम्मिलित रूप में इसका उत्खनन किया गया।

आहड़ के उत्खलन से वहाँ विकसित दो साँस्कृतिक कालों एवं उनकी तीन-तीन अवस्थाओं का अस्तित्व प्रमाणित हुआ। प्रथम काल के पंद्रह निर्माण कालों के साक्ष्य मिले। इस काल की प्रमुख विशेषताएँ थीं—चित्रित मृद्भांड तथा ताम्र-मल का उपयोग और लोहे के प्रयोग का सर्वथा अभाव। दूसरे सांस्कृतिक युग की विशेषताओं में लोहे का प्रयोग, शोष-गर्त, ब्राह्मी लिपि के अभिलेख-युक्त पकी मिट्टी की मुहरें और उत्तरी कृष्ण-मार्जित मृद्भांड उल्लेखनीय हैं।

मृद्भांडों के तुलनात्मक अध्ययन एवं कार्बन-१४ विधि के आधार पर प्रथम सांस्कृतिक काल के आरम्भ की तिथि लगभग २००० ई० पू० निर्धारित की गई। नवदाटोली के प्रथम काल के अन्तिम स्तर में पाये गये विशेष आकार के जिस श्वेत-चित्रित कृष्ण-लोहित मृद्भांड की तिथि १७९१-१७६२ ई० पू० निर्धारित की गई, वह आहड़ के प्रथम काल की तीसरी अवस्था (IC) में उपलब्ध हुआ। यह तो हुआ अप्रत्यक्ष तिथि-निर्धारण, परन्तु इसकी पुष्टि C^{14} विधि द्वारा भी होती है। इसका सुदीर्घ-कालीन अस्तित्व ५०० ई० पू० तक बना रहा।

आहड़ के प्रथम सांस्कृतिक काल की प्रमुख विशेषता, जैसा कि ऊपर कहा गया, श्वेत-चित्रित कृष्ण-लोहित मृद्भांड़ है, परन्तु इसके साथ मृद्भांड़ों के निर्माण भेद की विविधता भी उल्लेखनीय हैं। इस संपूर्ण काल में चाक पर बने मृद्भांडों का प्रयोग हुआ और उनके विविध आकारों के निर्माण में भिन्न-भिन्न तकनीक अपनाए गये। परन्तु हाथ से बर्तन बनाना बिल्कुल बन्द नहीं हो गया, विशेषतया पट्टित और

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

गोल नमूने वाले संग्रह-भांड तो हस्त-निर्मित ही होते थे। कुछ बर्तनों के गर्दन और ऊपरी हिस्से तो चाक पर और शेष हाथ से अलग-अलग बनाये जाते और तब उनको मिलाकर रगड़ा और पीटा जाता जिससे वे जुट जाते। कुछ धब्बेदार धूसर और लोहित कलशों के निम्न-भाग बड़े ही पतले बनाए जाते थे जिससे वे शीघ्र ही टूट जाते। पेंदे को जान-बूझकर स्फटिक-चूर्ण या बालू मिलाकर रूक्षता प्रदान करने के अनेक उदाहरण मिले। इस काल के मृद्भांडों की एक अन्य प्रमुख विशेषता उनको गोदना है। यह बात गोल या सैगर (sagger) आधार वाले पूर्वकालीन कृष्ण-लोहित पात्रों में समरूप पायी गयी। इसके लिए संभवतः सूखी घास के गुच्छों अथवा विदारित बाँस का प्रयोग किया जाता था। इस काल के प्रमुख मृद्भांड उद्योग ये थे—१-अ—क्रीम-लेपित पांडु रंग का मोटा कृष्ण-लोहित, चित्रित कृष्ण-लोहित, धब्बेदार धूसर और लोहित-लेपित (नारंगी, टैन और कत्थई सदृश भेद); १-ब—क्रीम या धूसर मृद्भांड का लोप; १-स—लोहित घोल चढ़ाया, कृष्ण-रंजित लोहित, कृष्ण-लोहित, रूक्ष लोहित, चमकीला लोहित और धब्बेदार धूसर। इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि क्रीम और पांडु, लोहित घोल चढ़ाया और चित्रित कृष्ण-लोहित इस काल के मृद्भांड के मुख्य प्रकार थे। क्रीम और पांडु मृद्भांड के दो रूप मिले—छोटे-छोटे गोल बर्तन और अवतल भुजी कटोरे। नवदाटोली के क्रीम-लेपित मृद्भांड में भी ये दोनों मिले। आहड़ में पांडु मृद्भांड पर हरापन लिए धूसर लेप है, जिसकी समता उत्खनकों ने ईरान-बलुचिस्तान में उपलब्ध समान संचरना के पात्रों से की है।

चित्रित कृष्ण-लोहित तथा अन्य मृद्भांडों में महत्त्वपूर्ण विकासक्रम के लक्षण परिलक्षित हुए। अवस्था १-अ तथा १-ब में बिना किनारे वाला खड़ा अथवा उत्तल भुजी कटोरा, किनारे के पास फाँकेदार कटोरा, बाह्य कगार और फैले किनारा वाला कटोरा तथा छिछली कड़ाही, और बेसिन प्रमुख बर्तन थे। १-स में सामान्य नौतलीय (carinate) कटोरा अस्तित्व में आया।

इस काल के दो आद्य अवस्थाओं में प्रचुरता से उपलब्ध लोहित-लेपित मृद्भांड के दो वर्ग थे—मोटा लोहित-लेपित और पतला लोहित-लेपित। दोनों को ही खूब चमकाया जाता था। टैन, नारंगी, भूरा या कत्थई रंग के सभी मृद्भांड लोहित-लेपित वर्ग में आते हैं। ढलुवाँ नालीदार कंधा और चौड़ा या ऊँचा बेलनाकार नालीदार गर्दन वाला और संभवतः पादपीठाधार कलश, मोटा लोहित-लेपित मृद्भांड का एक उल्लेखनीय आकार था। कंधे के नीचे के भाग को बालू या स्फटिक चूर्ण से रूक्ष बनाया जाता था। संभवतः इन बर्तनों का सादा निम्न भाग जमीन के अन्दर गड़ा रहता था। लोहित-लेपित मृद्भांड की सतह खूब

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

चमकीली बनाई जाती थी। इसके मुख्य आकार थे, किनारा रहित कटोरा और छोटा वेसिन।

प्रथम दो अवस्थाओं की सस्तम्भ थाली में लोहित, टैन, कत्थई और नारंगी रंगों के लेप चढ़ाये जाते। अन्तिम अवस्था में कृष्ण-रंजित लोहित सस्तम्भ थालियाँ बनाई जाती थीं। लोहित मृद्भांड में खोखली अथवा ठोस साधार थाली मिली। एक असामान्य आकार का कलश मिला जिसे थालीस्तम्भ में थाली के स्थान पर स्थापित करने से उसकी आकृति झाड़फानूस या दोहरा कटोरा सदृश हो जाती है। उत्खनकों ने इसकी समता ईरान और क्रीट में उपलब्ध इस प्रकार के बर्तनों से की है। उलटने से यह शुंडाकार स्तम्भ के सीढ़ीनुमा कंदाधार पेंदा (bulbous base) जैसा लगता है। स्तम्भ के ऊपर एक छोटी-सी उलटी कली या अर्द्ध मुकुलित पुष्प-समान पात्र रहा होगा। इनके अतिरिक्त अन्य प्रकार ये थे—शुंडाकार वर्तन, जिसका गर्दन मध्यम ऊँचाई का रहता था और उदर-भाग में काला बिन्दु; कुंड और वेसिन जिसमें कभी-कभी नाली बनी रहती।

धूसर-लेपित मृद्भांड प्रथम काल के सभी स्तरों में मिला, परन्तु १·ब में इसकी प्रचुरता देखी गई। यहाँ इसके ये मुख्य रूप थे—मूठदार तिकोना पकड़ वाले ढक्कन, गोल पात्र, कुंड, सस्तम्भ थाली। पशु-शिराकृति मूठ विशेष महत्त्व का है, क्योंकि यह तत्त्व मध्य तथा पश्चिम भारत के किसी भी हड़प्पोत्तर ताम्राश्म स्थल में नहीं पाया गया, यद्यपि ईरान और क्रीट में यह मिलता है।

रूक्ष सतह वाले वर्तन प्रचुर संख्या में मिले। इनका उपयोग भोजन पकाने में किया जाता होगा। सच्छिद्र वेसिन या कटोरा वाष्प-पाक विधि के लिए अथवा अंगार-पात्र के रूप में प्रयुक्त होता होगा। चौड़े, खोखले स्तम्भ एवं आधार वाला एक ऐसा भी कटोरा मिला जिसकी समता तेपे हिस्सार में पाये गये तादृश पात्रों से की जाती है।

इस काल के मृद्भांडों के अलंकरण में पर्याप्त विविधता थी। अलंकरण के लिए चित्रण, उत्कीर्णन तथा काट विधियाँ अपनाई जाती थीं। दो प्रकार की चित्रकारी की जाती—एक तो कृष्ण-लोहित मृद्भांड को मंद-श्वेत रंग से चित्रित किया जाता और दूसरा कि लोहित-लेपित पात्रों को कृष्ण रंग से। पहले प्रकार की चित्रकारी में सर्पिल नमूने, तरंगित रेखाएँ, तिरछी रेखाओं का समचतुर्भुज और पताकाएँ सदृश रेखीय नमूने बनाये जाते। यह परिपाटी अवस्थाएँ १-अ और १-ब में देखी गई। १-स में बिन्दु-चिह्नित त्रि-अरीय (chevcon) फलक चित्रित किया जाता। कृष्ण-चित्रित लोहित मृद्भांड केवल १-स में बनता था। इसमें केवल पट्टियाँ, तरंगित रेखाएँ और पाश के चित्र बनाये जाते। अधिकतर धूसर तथा लोहित

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

मृद्भांड का उत्कीर्ण-अलंकरण किया जाता था, इसमें तिरछी या तरंगित रेखाएँ उत्कीर्ण की जातीं। यह क्रिया विदारित बाँस की शलाकाओं से सम्पन्न की जाती थी। इस तरह का अलंकरण भी प्रायः १-अ में मिला। काट-विधि का अलंकरण धूसर मृद्भांड में किया जाता था। इसकी विधि यह थी कि बर्तनों पर बनाये गये पट्टियों के ऊपर बार-बार तीक्ष्ण नोक से रेखाएँ खींची जातीं। इस प्रकार का अलंकरण १-ब में ही अधिक होता था।

जैसा कि ऊपर कहा गया, आहड़ की संस्कृति-१ के पन्द्रह निर्माण-काल के प्रमाण मिले। सभी अवस्थाओं की निर्माण-विधि में साम्य था, परन्तु भवनों के प्लान भिन्न-भिन्न होते। भवन-निर्माण के लिए पत्थर, कच्ची ईंट और मिट्टी का उपयोग किया जाता था। नींव में स्थानीय अनगढ़े शिस्ट-खंड ही काम में लाए जाते। दीवारों के दृढ़ीकरण के लिए या तो बांस के चिक अथवा स्फटिक-कण मिश्रित मिट्टी का प्रयोग होता था। यह विधि आज भी दक्षिण-पूर्व राजस्थान में अपनाई जाती है। फर्श के लिए पीली चिकनी मिट्टी मिली काली मिट्टी का प्रयोग किया जाता था। कभी-कभी बस्ती के पार्श्व में प्रवाहित नदी से संग्रहित ग्रेवल बिछाकर फर्श को पक्का बना दिया जाता।

मकानों का औसत माप ९·१५ × ४·६० मीटर रहता था। बड़े मकान १० मीटर लंबे और छोटे ६.७ × ५.२ मीटर तथा ३ × २.७ मीटर के बनाये जाते। लम्बी दीवारों को मिट्टी अथवा कच्ची ईंट की दीवारों से विभाजित कर कमरे बनाये गये थे। कुछ स्तम्भ-गर्तों के मिलने से छप्पर बनाने में बाँस या काष्ठकड़ियों के उपयोग का अनुमान लगाया जाता है। सामान्यतया भोजन बड़े चूल्हों में बनता था जिनमें एक साथ दो या चार बर्तन चढ़ाये जाते।

वर्गाकार मंच पर बना दो बर्तन चढ़ाने वाला एक त्रि-अरीय अलंकरण-युक्त चूल्हा मिला। पंचबाहु चूल्हा सादा बनता था और पाकपात्रों के आधार अन्दर से बनाये गये थे। इन चूल्हों के उपयोग के विषय में निश्चितरूप से कुछ कहना कठिन है। सम्भवतः सामूहिक भोज के अवसर पर अथवा धातु गलाने के लिए इन चूल्हों का उपयोग होता होगा।

पशुओं की अस्थियों के अवशेष मांसाहार का साक्ष्य प्रस्तुत करते हैं और चक्की, मूसल, रगड़-घोटा से अन्न पीसने की क्रिया का संकेत मिलता है। परन्तु अन्न के अवशेष नहीं मिल पाए।

चार सपाट कोटर-विहीन ताम्र-परशु मिले। एक ताँबे का चादर भी मिला जिसे एक बर्तन में रखकर मकान के फर्श में गाड़ दिया गया था। आबादी के आद्य-स्तर में विशेष प्रकार के बने एक गोल गर्त में ताम्रमल मिला। इस क्षेत्र में अतीत

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

में ताँबा निकालने के साक्ष्य उपलब्ध होने से संकलिया महोदय का यह अनुमान है कि आहड़ में आबादी के आरम्भ से ही ताँबा गलाने का काम होता था और यह वहाँ के लोगों के आर्थिक जीवन का लगभग दो हजार वर्षों तक प्रमुख आधार बना रहा।

यहाँ उपलब्ध अन्य वस्तुओं में पकी मिट्टी की द्विकोणी, गोलाकार या सुपारी के आकार की अड़तीस तकुआ चक्रियाँ उल्लेखनीय हैं। इनके अलंकरण के नमूनों में जालीदार त्रिकोण, ढलुवाँ रेखाएँ, त्रि-अरीय, तरंगित रेखाएँ तथा सछिद्र बिन्दु मुख्य हैं। इनमें से कुछ नमूने ट्रॉय तथा अनाउ में मिलते हैं। पकी मिट्टी का बना भेड़ और सश्रृंग सांड़ इत्यादि आकृतियाँ गिलुंड में मिली आकृतियों के समान हैं।

द्वितीय सांस्कृतिक काल का १·५० मी० से लेकर १·८० मी० मोटा संचय मिला। इसके आरम्भ की तिथि लगभग ५०० ई० पू० निर्धारित होती है। लोहे का उपयोग, मृद्भांड-परम्परा तथा वास्तुशिल्प में नवीनता का समावेश एवं लेखनकला का ज्ञान इस काल की प्रमुख विशेषताएँ थीं। इस काल की तीन अवस्थाएँ निर्धारित की गईं — II-अ, II-ब और II-स।

II-अ के संचयों की प्रमुख वस्तुओं में उत्तरी कृष्ण-मार्जित मृद्भांड, सकोटर लौह बाणाग्र, रूक्ष लोहित, लोहित-लेपित, सादा कृष्ण-लोहित और कृष्ण-चित्रित लोहित मृद्भांड इत्यादि उल्लेखनीय हैं। II-ब में कुषाणकालीन कटोरे और अन्य प्रकार के मृद्भांड मिले। फर्श में स्तम्भ-गर्त के अवशेष, मंडल शोषगर्त, पकी मिट्टी के मन्नत टंकी, शेल की चूड़ियाँ और कान की बालियाँ भी मिलीं। दूसरी शताब्दी ई० पू० और दूसरी शताब्दी ई० सन् के बीच की ब्राह्मी लिपि में अभिलिखित दो पकी मिट्टी की मुहरें इस काल के एक गर्त में मिलीं। आहड़ के सबसे ऊपरी संचय में अभ्रक-लेपित मध्यकालीन मृद्भांड मिला।

चिरांद

उत्तर बिहार के सारन जिले में छपरा शहर से ११ किलोमीटर दक्षिण-पूर्व गंगा और घाघरा के संगम के निकट चिरांद नामक स्थान के उत्खनन का सन् १९६२-६३ ई० में बिहार सरकार के पुरातत्त्व निदेशालय के तत्त्वावधान में श्रीगणेश किया गया और तदनन्तर अबतक उससे जो सामग्रियाँ प्रकाश में आईं उनसे यह स्थान पूर्व भारत का एक महत्त्वपूर्ण पुरास्थल बन गया। उत्खनन के फलस्वरूप यहाँ पाँच सांस्कृतिक काल निर्धारित किये गये तथा संस्कृतियाँ I और II के कई उपकालों का भी पता चला।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

काल-I, नवाश्म—चिरांड की आदि संस्कृति नवाश्म थी। प्राकृतिक भूमि के ऊपर इस काल के स्तरों का ३·५ मीटर संचय मिला। इस काल में धूसर मृद्भांड (मार्जित तथा अमार्जित), लोहित मृद्भांड तथा कृष्ण मृद्भांड का प्रयोग होता था। चाक पर बने बर्तन के असंदिग्ध नमूने नहीं मिले, परन्तु दक्षिण भारत के उटनूर तथा अन्य स्थानों में उपलब्ध घूम-चक्कर (turn-table) विधि के कुछ प्रमाण मिलने के आधार पर यहाँ भी उसी प्रकार की प्रथा के प्रचलन का अनुमान लगाया गया है। कुछ बर्तन हस्त-निर्मित हैं और उनकी सतह कंकरीली है। मिट्टी के पिंड में अभ्रक अथवा स्टफिक के चूर्ण मिला दिये जाते थे और बर्तन की सतह पर भी उनका छिड़काव कर दिया जाता। कुछ बर्तनों को चमकाया जाता था और कुछेक पर पतला लेप चढ़ाया जाता। कई बर्तनों को बाहर और भीतर से चमकीला बनाया जाता था—कई तो द्युतिमान् लोहित दीखते हैं। चमकाने के पूर्व पतला लेप चढ़ाने की परिपाटी का भी प्रचलन था। धूसर तथा कृष्ण मृद्भांडों को पकाने के पश्चात् गेरू रंग से चित्रित किया जाता था। उटनूर, पिक्लीहल, और संभवतः ब्रह्मगिरि में उपलब्ध मृद्भांडों के किनारों पर गेरु पट्टियाँ बनाने के कुछ उदाहरण हैं। परन्तु चिरांद में चित्रित मृद्भांड के प्रचुर नमूने मिले। पात्रों के किनारे, मुख, टोंटी और टोंटी तथा पात्र के संधिस्थल चित्रित किये जाते थे। ठींकरों पर गेरु रंग से चित्रित रेखीय नमूने, पाँच या सात के समूह में आड़ा-तिरछा नमूना, सम-केन्द्रीय अर्धवृत्त अथवा वृत्त आदि मिले। साधारण कटोरों के किनारों और आधार तथा कटोरों के संधिस्थल पर भी चित्रण होता था। चिपकवाँ अलंकरण की भी प्रथा थी। मंद लोहित मृद्भांड के कुछ कलशों के कंधों पर डोरी और दांतेदार (खाँचदार) नमूने बनाए जाते।

पात्रों के प्रकार में कटोरा, बेसिन, तंग एवं उच्चग्रीव जार, फैले किनारे का जार, मंडलाधार या पेंदेदार कटोरे तथा थालियां, चौड़े मुँह और फैले किनारे का कलश, अवतल कोणाधार गोलाकार कलश, कलश-आधार, छिछले कटोरे तथा थालियाँ, लंबे टोंटीदार बर्तन इत्यादि उल्लेखनीय हैं। लोहित मृद्भांड का एक टोंटी काफी लंबा है और इसमें छोटा छिद्र है जिससे बूंद-बूंद करके जल गिरता है। संभवतः इसका धार्मिक क्रिया में उपयोग किया जाता था। धूसर मृद्भांड की चोंचदार कटोरियाँ बड़ी संख्या में मिलीं—एक का चोंच तो नलीदार टोंटी जैसा लगता है। लघु वलयाधार (ring stand) कटोरा सामान्य पात्र था। फैले किनारों वाला बड़ा जार, इस काल का एक प्रमुख मृद्भांड था। संभवतः इसका प्रयोग संग्रह भांड के रूप में किया जाता था। हो सकता है इनमें भोजन भी बनाये जाते हों,

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

क्योंकि कुछेक में कालिख के दाग मिले। टोंटीदार बर्तन, छिछले कटोरे और बेसिन भी मिले। एक बड़ा सा रोचक ठीकरा भी मिला। देखने में यह आजकल के खपड़े-जैसा है, परन्तु इसके थाली या कटोरे का आधार होने का भी अनुमान लगाया गया है। यद्यपि क्रीट की नवाश्म संस्कृति के उत्तरकाल में खोखले आधारयुक्त फलदान काम में लाये जाते थे, परन्तु चिरांद के इस नमूने के विषय में निश्चित कुछ कहा नहीं जा सकता। गर्दन के पास छिद्रवाले लटकन पात्र भी बनते थे। त्रिभुजाकार छेददार अलंकरण-युक्त मंद लोहित वर्ण के मोटे तथा अच्छी तरह नहीं पकाये गये कुछ धूसर मृद्भांड भी मिले।

इस काल के चिरांदवासी धातु से सर्वथा अनभिज्ञ थे। उनके उपयोग के सभी उपकरण तथा शास्त्रास्त्र पत्थर और हड्डी के बनते थे। पत्थर के मूसल तथा पेषणी मिले। एक बड़ी-सी लगभग वर्गाकार कुल्हाड़ी मिली। बिल्कुल इसी आकृति की कुल्हाड़ी अन्य नवाश्म स्थलों में अबतक उपलब्ध नहीं होने से इसका महत्व बढ़ जाता है। कुचाई, जौगड, ब्रह्मगिरि तथा सलेम में उपलब्ध कुल्हाड़ियों और चिरांद के नमूने में साम्य दीखता है। चंडोली की नवाश्म कुल्हाड़ी भी इससे बहुत मिलती है। इनके अतिरिक्त बेलनाकार हथौड़े, गोलियाँ तथा कूटने या तोड़ने के अश्मोपकरण भी मिले। हथौड़ों का उपयोग काष्ठफल या हड्डियाँ तोड़ने के लिए किया जाता होगा। यदि कपड़ा बुना जाता होगा तो उसमें गोलियों का उपयोग किया जाता होगा। इस काल का क्षुद्राश्म उद्योग भी काफी विकसित था। क्षुद्राश्मों में अर्धचांद्रिक, स्क्रेपर, ब्लेड, छूरी, अस्त्राग्र, बाणाग्र इत्यादि बनाये जाते थे। सबसे अधिक संख्या में ब्लेड बनते थे। क्षुद्राश्मों के लिए चर्ट, कैलसिडोनी, जैस्पर, अगेट इत्यादि का प्रयोग होता। गंगा-सोन का संगम चिरांद के निकट होने से वहाँ के निवासी सोन में अपने उपकरण उद्योग के लिए पत्थरों का संग्रह करते थे। सोन पहाड़ी क्षेत्र से होकर आती है, अतः वह अनेक प्रकार के पेबुल और पत्थर बहा लाती है।

हड्डियों के बने उपकरणों की प्रचुरता चिरांद की नवाश्म संस्कृति की एक प्रमुख विशेषता थी। उत्खनन में मृगश्रृंग-निर्मित कुदाल, तेजक (burnisher), छेनी, हथौड़े, कटार और कंगन, तथा पशुओं की सामान्य अस्थियों के बने पार्श्व स्क्रेपर, अन्त स्क्रेपर, सूई, पिन, दंत-खोदनी, चर्म-प्रभेदिका, बरमे, बाणाग्र इत्यादि उपलब्ध हुए, जिनसे नवाश्मयुगीन चिरांद-वासियों के जीवन में अस्थि-उपकरण के प्रयोग की विविधता की झलक मिलती है। कंद-मूल खोदने के लिए सम्भवतः मृगश्रृंग की कुदाल से कम लिया जाता था। विभिन्न प्रकार के तेजकों से मृद्भांड को चमकीला बनाया जाता था। हथौड़े, बरमे, तीर सीधा करने के औजार इत्यादि

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

से बढ़ईगिरि का कार्य सम्पन्न होता होगा। मार्जित तथा काफी नूकीले सुइयों से चमड़े की सिलाई का काम होता होगा। इसके अतिरिक्त एक निहाई (anvil) और बुनाई तथा मछली पकड़ने के जाल बनाने के उपकरण भी मिले।

पकी मिट्टी की सछिद्र चकतियां भी काफी संख्या में मिलीं जिनका उपयोग संभवतः तकुआ-चक्री के रूप में होता होगा। बिना छेद की भी चकती मिली जो चकती-खेल में काम आती होगी। एक पीला-सा सम्भवतः केओलिन का टुकड़ा भी मिला जिसमें सभी तरफ खाँच बने थे। यह संभवतः धागा का लपेटन था। इन वस्तुओं से चिरांद में वस्त्र उद्योग की विद्यमानता का संकेत मिलता है।

लोगों की आभूषण-प्रियता के भी साक्ष्य उपलब्ध हुए। कार्नेलियन, अगेट, स्टियटाइट, कैलसिडोनी और फेएंस के मनके बनाये जाते थे। चकती, पीपा, वेलन, नलिका और त्रिभुज के आकार के मनके मिले। पकी मिट्टी का पक्षी अथवा सर्प जिसमें पहिया लगाने और डोरी से खींचने के लिए तीन छिद्र बने हुए हैं, यहाँ का एक महत्त्वपूर्ण पुरावशेष है। लट्टू के आकार से मिलते-जुलते पकी मिट्टी के मनके भी मिले, जिनका उपयोग पालतू जानवरों के गले में बाँधने या तकुआ-चक्री के रूप में या मछली पकड़ने के जाल में बाँधने के लिए किया जाता होगा। प्रो० चाइल्ड महोदय ने पकी मिट्टी के बने जाल-भार या करघा-भार के उपयोग का उल्लेख किया है।

इस काल में चिरांदवासियों की आजीविका कृषि, आखेट तथा मछली पकड़ने पर आधारित थी। वे बाँस और सरकंडों की बनी तथा मिट्टी का मोटा पलस्तर की गई झोपड़ियों में वास करते। इन आवासों के पीटकर पक्के बनाये पीली मिट्टी के गोलाकार फर्श के अवशेष मिले हैं जिनसे आवासों के प्लान का अनुमान लगाया जा सकता है। जले पलस्तर के अवशेषों में सरकंडों के छाप से दीवार की मोटाई का अनुमान लगता है। कुछ में धान के भूसे भी मिले हुए थे। बर्तनों की सतह पर भी भूसे के छाप देखे गये। लम्बे आकार के असामान्य प्रकार के कई बड़े चूल्हे भी मिले जिन पर एक साथ कई बर्तन चढ़ाये जा सकते थे। इन चूल्हों से बड़े परिवार के संयुक्त पाकशाला का अनुमान लगता है। इनके उपयोग की दूसरी सम्भावना यह है कि लोग इनमें आग पर माँस भूँजते होंगे और जाड़े में चूल्हे के चारों ओर बैठकर आग तापने तथा गप-शप का आनन्द लेते होंगे। गंगा-तट में निवसित होने के कारण यहाँ के लोगों को नदी के कटाव का भी सामना करना पड़ा इसके भी कुछ प्रमाण मिले।

चिरांद के इस काल की संस्कृति की विशेषताओं में दक्षिण भारत के नवाश्म काल से बहुत-कुछ साम्य प्रतीत होता है।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

काल II-अ—काल I के तत्काल पश्चात् II-अ संस्कृति का अविर्भाव हुआ जिसके तीन स्तर मिले। यह कृष्ण-लोहित मृद्भांड-सह-क्षुद्राश्म संस्कृति थी। यहाँ का मृद्भांड उद्योग क्षुद्राश्म संस्कृति की विशेषताओं से संपन्न है। इनमें लोहित तथा कृष्ण-लोहित दीर्घ चोंचदार कटोरा प्रमुख प्रकार है। इसी प्रकार नालीदार कंधों वाला लोटा के आकार का पात्र लोहित तथा कृष्ण-लोहित मृद्भांड में बनता था और ऐसा ही एक टोंटीदार बर्तन कृष्ण मृद्भांड में मिला जो अपने ढंग का है। मंद लोहित वर्ण के बर्तनों में भी एक टोंटीदार कटोरा मिला। कृष्ण मृद्भांड में संकरे गर्दन का एक लम्बा-सा सुन्दर जामपान (goblet) मिला। इनके अतिरिक्त एक नवाश्म सेल्ट, पत्थर की गोलियाँ, क्षुद्राश्म कोर, फलक तथा उपकरण, स्टीयटाइट की बनी चकतियाँ और मनके उल्लेखनीय हैं। ताँबे का एक टुकड़ा और उत्कीर्ण नमूनों वाला पकी मिट्टी के मनके भी पाये गयें।

काल II-ब—इस काल की प्रमुख विशेषता लोहे का प्रयोग है। लौह वस्तुओं में बड़े ब्लेड का एक टुकड़ा मिला। इस काल की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण उपलब्धि अवशेष शवाधान है। शवाधान से टुटे-फूटे कृष्ण-लोहित मृद्भांड, हड्डी के टुकड़े और किसी बड़े जानवर की एक खोपड़ी मिली। स्तरित संचयों से कुछ क्षुद्राश्म कोर, फलक, अस्थि-वाणाग्र तथा पिन उपलब्ध हुए। आबादी के स्तरों में कई चूल्हे देखे गये। इस काल की अन्य वस्तुओं में पकी मिट्टी की उत्कीर्ण आकृतियाँ, नाशपात्याकार मनके तथा पशु-पक्षियों और मछली की हड्डियों के उल्लेख किये जा सकते हैं।

काल III—इस काल में कृष्ण-लोहित के साथ उत्तरी कृष्ण-मार्जित मृद्भांड का प्रयोग होने लगा। पीट कर बनाये गये फर्श के चिह्न सेक्शन में देखे गये। इस काल के ऊपरी स्तर में पकी मिट्टी के दीवार के चिह्न मिले। सबसे महत्त्वपूर्ण उपलब्धि दाहोत्तर अवशेष शवाधान है। शवाधान-स्थल में पशुओं की अस्थियाँ, दीर्घाकार कलश, चोंचदार बड़े बेसिन और सछिद्र गोलाकार सपाद कटोरा मिले। उत्तरी कृष्ण-मार्जित मृद्भांड के भी कुछ टुकड़े शवाधान-गर्त में पाये गये। इस काल के पुरावशेषों में एक नवाश्म परशु, ताँबे की अंजन-शलाकाएँ, लोहे के ब्लेड, पत्थर के कर्णाभूषण, मध्यम मूल्यवान् पत्थर के मनके, एक सछिद्रशीर्ष पेन्डेंट, छोटी-छोटी गोलियाँ, मूसल, जांता, पकी मिट्टी की खिलौना गाड़ी और पशुओं की आकृतियाँ, हड्डी के पिन तथा बाणाग्र उल्लेखनीय हैं। उपलब्ध सामग्री से इस युग में चिरांदवासियों के समृद्ध जीवन का आभास मिलता हैं। इस प्रसंग में नृत्यरत बाला की एक सुन्दर आकृति ध्यान देने योग्य है। इसको

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

फैला हुआ स्कर्ट पहने और विशिष्ट शिरोवस्त्र धारण किये तथा घुंघरु बाँधे हुए प्रस्तुत किया गया है।

काल IV—इस काल की अवधि प्रथम शताब्दी ई० पू० से तीसरी शताब्दी ई० सन् निर्धारित की गई है। इस काल के दो निर्माणकालों की पक्की ईंटें मिलीं। ८८ कुषाण सिक्कों का एक ढेर भी मिला। यह उपलब्धि महत्त्व की है क्योंकि इससे बिहार में कुषाण शासन की पुष्टि होती है। लाल पत्थर का आठ मीनार तथा चक्र-युक्त एक छोटा-सा नमूना मिला। यह एक विचित्र अवशेष है और संभवतः यह कोई पवित्र वस्तु रही होगी। अन्य अवशेषों में एक सिल, एक मूसल तथा एक स्पंज-जैसी लाल रंग की रगड़पट्टी उल्लेखनीय है।

काल V—यह चिरांद का अन्तिम काल है। इस काल के स्तर से कलचुरी सम्राट गांगेयदेव के पांच मिलावटी स्वर्ण के सिक्के मिले। इससे कलचुरी साम्राज्य का उत्तर बिहार तक विस्तार होने का साक्ष्य प्रस्तुत होता है। ये सिक्के एक छोटे-से पात्र में मिले जिसमें दो सोने के तार की अंगूठियां, चार मिलावटी चाँदी की मुद्रिकाएँ, कांसे की तीन भारी चूड़ियाँ और एक छोटा-सा चाँदी का टुकड़ा मिला। शिव की एक पालकालीन भग्न मूर्ति मिली जिसके दो सिर दिखलाये गये हैं। शतरंज के सेट का मिलना बड़ा रोचक है, क्योंकि इससे पता चलता है कि चिरांद की सामान्य जनता को भी शतरंज का शौक था।

कुम्रहार

आधुनिक पटना के दक्षिणी भाग में स्थित कुम्रहार नामक गांव को मौर्यकालीन अवशेषों की उपलब्धि ने एक महत्त्वपूर्ण पुरास्थल बना दिया। यहां दो बार बृहत् उत्खनन किये गये—एक डॉ० स्पूनर द्वारा (१९१२-१३ ई०) और दूसरा काशी प्रसाद जायसवाल शोध संस्था के तत्वावधान में (१९५१-५५ ई०)। प्रथम उत्खानन ने इस स्थान के पुरातात्त्विक महत्त्व को पुष्ट तो किया परन्तु इसका पूर्ण विवरण प्रस्तुत नहीं हो पाया। न तो इस स्थल के मौर्यकालीन स्वरूप का सही निर्धारण हुआ और न यहाँ का संस्कृतिक्रम निश्चित किया गया। डॉ० स्पूनर की मुख्य उपलब्धि यहाँ पर मौर्यकालीन सभाभवन को उद्घाटित करना माना जायगा, परन्तु उन्होंने इसका पता नहीं लगाया कि इस भवन से संलग्न अथवा इसके निकट अन्य समकालीन भवन थे अथवा नहीं। सभाभवन का सही आकार भी निर्धारित नहीं हो पाया और न यही स्पष्ट हो सका कि यह राजप्रासाद का अंग था अथवा यह प्रशासकीय या सार्वजनिक भवन था। मौर्योत्तरकालीन निर्माण के साक्ष्य भी

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

उत्खानित नहीं किये जा सके। इस प्रकार कुछ समस्याएँ समाधान हेतु पुरातात्त्विक उत्खानन का इंतजार कर रही थीं जिनका दूसरे उत्खानन द्वारा निराकरण हुआ।

१९५१-५५ ई० के उत्खानन में यहाँ ६ संस्कृतिकाल इस प्रकार निर्धारित किये गये : I. १५० ई० पू० से पूर्व; II. १५० ई० पू०—१०० ई० सन्; III. १००-३०० ई०; IV. ३००-४५० ई०; V. ४५०-६०० ई० और VI—१७वीं शताब्दी।

प्रथम संस्कृतिकाल के स्तरों में मुख्यतः मोटे प्रकार का धूसर मृद्भांड पाया गया जिसके साथ लोहित मृद्भांड भी मिले। उत्तरी कृष्ण-मार्जित मृद्भांड के भी कुछ ठींकरे पाये गये। ढाले और आहत सिक्के भी मिले। इस काल का उल्लेखनीय अवशेष मौर्यकालीन भवन है जिसका विशेष विवरण आगे दिया गया है। द्वितीय संस्कृतिकाल के स्तरों में शुंगकालीन पकी मिट्टी की मूर्तियाँ, कौशांबी प्रकार के वृषभ चिह्नयुक्त दो सिक्के, तांबे के कुछ आहत सिक्कें, मौर्यकालीन स्तम्भ के छोटे-छोटे टुकड़े और उत्तरी कृष्णमार्जित मृद्भांड के ठींकरे मिले। तृतीय संस्कृतिकालीन पुरावशेषों में कुषाण सिक्के तथा पकी मिट्टी की शिखारनुमा शिरोभूषण वाली मूर्तियाँ प्रमुख हैं। चतुर्थकाल के स्तरों में चंद्रगुप्त द्वितीय के तांबे के सिक्के पाये गये। गुप्तकालीन लिपि की मृण्मयी मुद्राएँ तथा पकी मिट्टी की मूर्तियाँ बड़ी संख्या में मिली। पांचवें काल में कुछ भी गुप्तकालीन अवशेष नहीं मिले। इस काल में मुख्यतः सामान्य प्रकार का लोहित मृद्भांड पाया गया। सातवीं से लेकर सोलहवीं सदी के मध्य का कोई पुरावशेष नहीं मिला। इस लम्बे अंतराल के पश्चात् सत्रहवीं शताब्दी के मृद्भांड पाये गये।

कुम्रहार में जो कुछ पुरातात्त्विक साक्ष्य उत्खनित किये गये उनसे यह प्रमाणित हो गया कि यह स्थान मौर्यकालीन पाटलिपुत्र का महत्त्वपूर्ण भाग था, परन्तु यह निश्चित नहीं हो पाया कि मौर्य राजप्रासाद का निर्माण इसी स्थान पर किया गया था। कुछ विद्वानों की यह धारणा है कि उत्खनित सभाभवन ही मौर्य राजप्रासाद का अवशेष है। परन्तु मात्र सभाभवन को विशाल मौर्य साम्राज्य का राजप्रासाद मानना उपयुक्त प्रतीत नहीं होता है। यदि यह सभामंडप राजप्रासाद का अंग होता तो इससे संलग्न अन्य राजकीय भवनों के अस्तित्व के साक्ष्य पाये जाते। यह असंदिग्ध माना जायगा कि मौर्य राजप्रासाद का निर्माण विस्तृत भूखंड में हुआ होगा जिसमें राजसभा, अंतःपुर, विश्रामगृह, उद्यान, पाकशाला, रक्षकों के आवास, अश्वशाला, हस्तिशाला इत्यादि की व्यवस्थाएँ की गई होंगी। किन्तु, यथासम्भव खोज करने पर भी इस स्थान पर मात्र एक सभाभवन के अति-

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

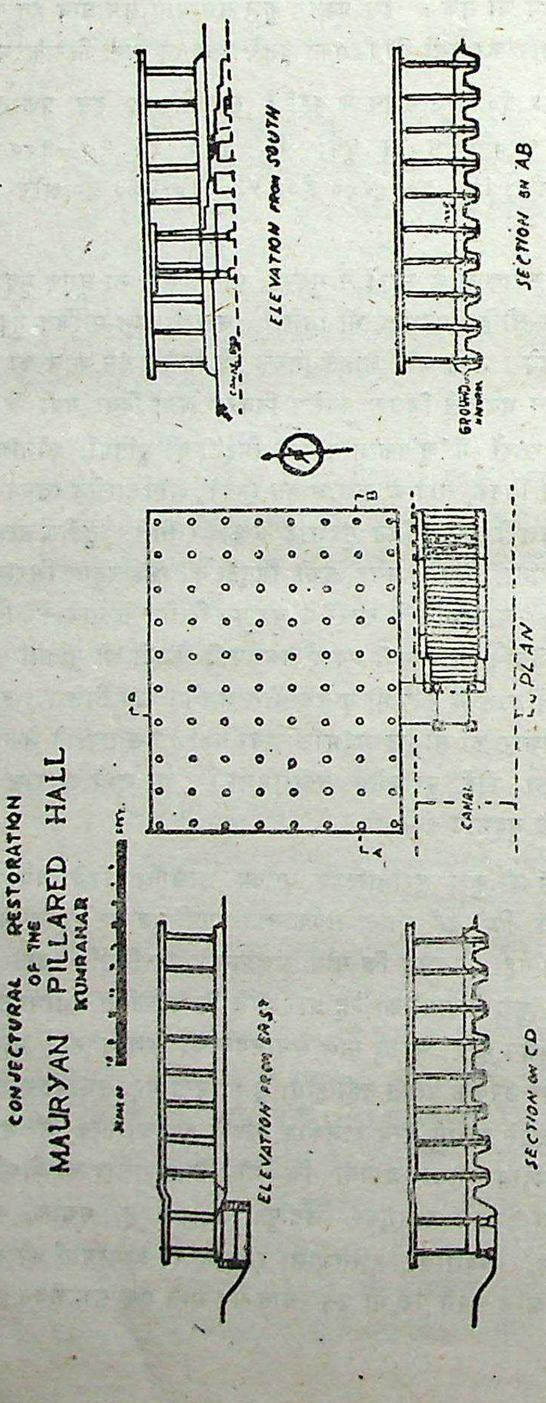

चित्र १८

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

रिक्त किसी अन्य मौर्यकालीन निर्माण के कुछ भी अवशेष नहीं मिले। अतएव यह स्वीकार करने को बाध्य होना पड़ता है कि इस भवन का निर्माण किसी विशेष उद्देश्य की पूर्ति हेतु किया गया था। शुंगकाल से लेकर गुप्तकाल तक मौर्यकालीन भवन के निकट बिहारों के अस्तित्व के साक्ष्य पाये जाने से यह सर्वथा संदेहास्पद हो जाता है कि कुम्रहार में राजप्रासाद का निर्माण किया गया होगा। मौर्य साम्राज्य के पतन के तत्काल पश्चात् राजप्रासाद के स्थान परिवर्तन का कोई साक्ष्य नहीं मिलता और उत्खनित सभाभवन के निकट भिक्षु-आवास के अवशेष शुंगकाल से ही मिलने लगते है। इनसे यह संकेत मिलता है कि इस स्थान का धार्मिक दृष्टि से महत्त्व था। अतएव इस बात की अधिक संभावना है कि उत्खनित सभाभवन का निर्माण किसी महत्त्वपूर्ण धार्मिक अवसर पर किया गया होगा और ऐसा अवसर चतुर्थ बौद्ध संगीति को माना जायगा। बौद्धधर्म के उत्थान में अशोक की देन को देखते हुए उनके द्वारा चतुर्थ बौद्ध संगीति जैसे अत्यन्त महत्त्वपूर्ण समागम हेतु इस भव्य भवन के निर्माण की संभावना को स्वीकार करना सर्वथा उपयुक्त होगा। यह भी हो सकता है कि इस भवन का उपयोग प्रेक्षागार के रूप में अथवा अन्य महत्त्वपूर्ण सार्वजनिक कार्यों के लिए किया गया हो। इस संबंध में साक्ष्याभाव के कारण कुछ भी निश्चित निर्णय लेना कठिन है, परन्तु इसके धार्मिक स्वरूप की अधिक संभावना प्रतीत होती है।

कुम्रहार में उत्खनित भवनावशेषों में मौर्यकालीन सभाभवन तथा मौर्योत्तर कालीन बौद्ध विहारों के अवशेष उल्लेखनीय हैं। ३२′.६″ ऊँचे एकखंडीय बालुकाश्म स्तम्भों का बना मौर्यकालीन सभामंडप निःसंदेह बड़ा ही भव्य रहा होगा। अस्सी स्तम्भयुक्त इस सभामंडप में उत्तर-दक्षिण दस-दस स्तम्भों की आठ पंक्तियाँ थीं (चित्र-१८)। स्तम्भों की केन्द्राधारित दूरी एक दूसरे वे १५ फुट थी। सभी स्तम्भों का निर्माण चुनार के बालुकाश्म से किया गया था और उनको मौर्यकालीन प्रकार से मार्जित किया गया था। भवन निर्माण में काष्ठ के प्रचुर उपयोग का अनुमान इस बात से लगता है कि इसके मलवे में राख की एक फुट मोटी परत पायी गयी। इस परत का क्षैतिज विस्तार सभाभवन तक ही सीमित होने से यह असंदिग्ध हो जाता है कि भवन में प्रयुक्त लकड़ी के जलने से राख के इस स्तर का निर्माण हुआ। मेगास्थनीज द्वारा काष्ठ-निर्मित भव्य मौर्य प्रासाद के उल्लेख से यह स्पष्ट है कि तत्कालीन भवनों के निर्माण में लकड़ी का खुलकर उपयोग किया जाता था। संभवतः विचाराधीन भवन के छत तथा फर्श का निर्माण पूर्णतः अथवा अंशतः लकड़ी से किये जाने तथा इसके अन्य अलंकरण हेतु भी काष्ठ के प्रचुर उपयोग की संभावना प्रतीत होती है। भवनावशेष में राख की मोटी परत होने का इसके अतिरिक्त कोई

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

अन्य उपयुक्त कारण नहीं जान पड़ता। इस भवन को ध्वस्त करने तथा आग लगाने का काम जानबूझ कर किया गया था, क्योंकि यदि आकस्मिक अग्निकांड की बात होती, तो स्तम्भ के छोटे-छोटे टुकड़े नहीं पाये जाते। अतएव यह काम किसी विदेशी आक्रमणकारी, संभवतः यवनों का प्रतीत होता है, क्योंकि मौर्यकाल के अंतिम वर्षों में देश को यवन आक्रमण का शिकार होना पड़ा था जिसका उल्लेख गार्गीसंहिता तथा पातंजल महाभाष्य में हुआ है। ध्वंसावशेष के ऊपर तथा निकट बने प्राचीनतम भवनों के अवशेष शुंगकालीन होने से भी यही संकेत मिलता है। संभवतः सभाभवन को १५० ई० पू० तथा १०० ई० के बीच ध्वस्त किया गया। तदनन्तर यहाँ पर शुंग, कुषाण, गुप्त, गुप्तोत्तर तथा मुसलमान शासकों द्वारा निर्माण कार्य संपन्न किये गये।

जैसा कि ऊपर उल्लेख किया गया, स्तम्भों की ऊँचाई ३२·५ फुट थी जिसमें नीचे का ९ फुट जमीन और भवन की कुर्सी के अंदर था। प्रत्येक स्तम्भ को ५ फुट वर्गाकार तथा ५ फुट गहरी नींव में ६ इंच मोटी गहरे नीले रंग की मिट्टी को आधार बना कर स्थापित किया गया था। आधार से ४′·६″ ऊपर सभी स्तम्भों पर चार-चार रूक्ष उभार पाये गये। यह स्पष्ट है कि स्तंम्भों को सीधा रखने के उद्देश्य से उनको आधार से ४′·६″ ऊपर इन उभारों की सीध में एक-दूसरे से लकड़ी के माध्यम से जोड़ दिया गया था। स्तम्भों का यह बंधन जमीन के अंदर था। भवन का फर्श अनुमानतः काष्ठनिर्मित था, परन्तु इसका कोई ठोस प्रमाण नहीं मिला। सभाभवन के दक्षिण में लकड़ी की वेदिका, सोपान तथा नहर के साक्ष्य पाये जाने से इसी दिशा में प्रवेशद्वार होने का युक्तिसंगत अनुमान लगाया जायगा। प्रवेशद्वार पर संभवतः एक पोर्टिको था। नहर ४३ फुट चौड़ी और १० फुट गहरी थी। प्रवेशद्वार के निकट जल के अंदर काष्ठवेदिका बनायी गयी थी। संभवतः वेदिका के ऊपर से २४ फुट चौड़ा त्रिसपदी सोपान बनाया गया था। डॉ० अल्तेकर के अनुमान के अनुसार नहर-मार्ग से सभाभवन में आने वाले विशिष्ट व्यक्तियों के लिए इस सोपान का निर्माण किया गया था। जहाँतक नहर का प्रश्न है, इसका निर्माण मूलतः विशाल स्तम्भों को निर्माण स्थल तक लाने के लिए किया गया था, तदनन्तर आवागमन के लिए इसका उपयोग होता रहा।

सभाभवन के ध्वस्त होने के पश्चात् इस स्थान पर शुंगकाल से लेकर गुप्तोत्तर काल तक बौद्ध विहार बनाये जाने के साक्ष्य पाये गये। उत्खनन में यहाँ पर कम-से-कम पांच विहारों के अवशेष मिले—एक शुंगकालीन, दो कुषाणकालीन, एक गुप्तकालीन और एक गुप्तोत्तर काल (४५०-६०० ई०) का। परन्तु साक्ष्याभाव

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

के कारण इन सभी विहारों के प्लान का आंशिक पुनर्निर्माण ही सभव हो पाया। शुंगकालीन विहार में दो-दो या तीन-तीन कमरों के खंड बनाये गये थे। दो कमरों वाले खंड में कमरों के सामने बरामदा था और तीन कमरों वाले खंड में बरामदा के साथ मंडप भी। कुषाणकालीन विहार दो प्रकार के पाये गये। एक तो सामान्य प्रकार का था, अर्थात् जिसके केन्द्र में आंगन और चतुर्दिक बरामदे तथा कमरे बने थे। दूसरे प्रकार के विहार में उत्तर-दक्षिण चौदह छोटे-छोटे कमरों की पंक्ति थी जिसके सामने चार संकीर्ण, लंबे मंडप बनाये गये थे। दो मंडपों के मध्य में दो छोटे कमरे पाये गये। मंडपों से बाहर निकलने पर पश्चिम में एक खुला बरामदा (१२९'·९" ×२'·९") मिलता था जिसमें ६ सीढ़ियाँ बनाई गई थीं। ईंट की गिट्टी की सुदृढ़ नींव पर पक्की ईंट से इस विहार का निर्माण किया गया था। सीढ़ियों पर चूने के पलस्तर के अवशेष मिलने से यह प्रतीत होता है कि पूरा भवन चूना से पलस्तर किया हुआ था।

गुप्तकालीन विहार के मलवे में साभिलेख मुहर पाये जाने से इसका नाम आरोग्य विहार होने का पता लगा। इस मुहर पर श्री आरोग्य विहारे भिक्षुसंघस्य अभिलिखित है। इसके अतिरिक्त एक ठींकरे पर भी आरोग्य विहारे उत्कीर्ण पाया गया। नाम के आधार पर यह अनुमान लगाना तर्कसंगत माना जायगा कि इस विहार का चिकित्सालय के रूप में महत्त्व था। इसके मात्र एक सौ फुट लंबे हिस्से की ही खुदाई हुई जिसमें २१'·६"×१०', १४'×१०' और १०'·८"×१०' आकार के कमरों के साक्ष्य मिले। भवन की ऊँचाई, दरवाजे, खिड़कियाँ इत्यादि के संबंध में कुछ भी साक्ष्य नहीं मिले। इस संबंध में मात्र अनुमान लगाये जा सकते हैं। खपड़ों के अवशेष मिलने से छत के संबंध में सही अनुमान लगाना संभव है।

गुप्तोत्तरकालीन विहार के अवशेष में मात्र एक बड़ा कमरा (१४'×१२'·६") और चार छोटे कमरे उत्खनित किये गये। इसके प्लान का निश्चित अनुमान लगाना कठिन है, परन्तु सुर्खी के पलस्तर के साक्ष्य से इसके उत्तम निर्माण की कल्पना की जा सकती है।

ब्रह्मगिरि

ब्रह्मगिरि नामक स्थान मैसूर राज्य में चित्तलदुर्ग (द्रुग) जिले के मोलकालमुरु तालुक में मैदानी क्षेत्र से ६०० फुट की ऊँचाई पर स्थित है। इसी क्षेत्र में सिद्दपुर नाम का ग्राम है जो वहाँ पर अशोक के लघु शिला-लेख संख्या-१ के मिलने से विख्यात हुआ।

दक्षिण भारत के पुरावशेषों में महाश्म समाधियों का भारतीय पुरातत्त्व में विशिष्ट स्थान है, परन्तु सभ्यता के विकासक्रम में इनके स्थान की सही जानकारी

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

ब्रह्मगिरि के उत्खनन के पूर्व नहीं हो पाई थी। सर्वप्रथम सन् १९४२ ई में तत्कालीन मैसूर राज्य के पुरातत्त्व विभाग के तत्वावधान में प्राचीन इसिला नगर के स्थान पर परीक्षण-उत्खनन किए गए, परन्तु उसका विवरण अप्रकाशित रह गया। पुनः सन् १९४७ ई० में भारतीय पुरातत्त्व सर्वेक्षण की ओर से सर मॉर्टिमर ह्वीलर ने

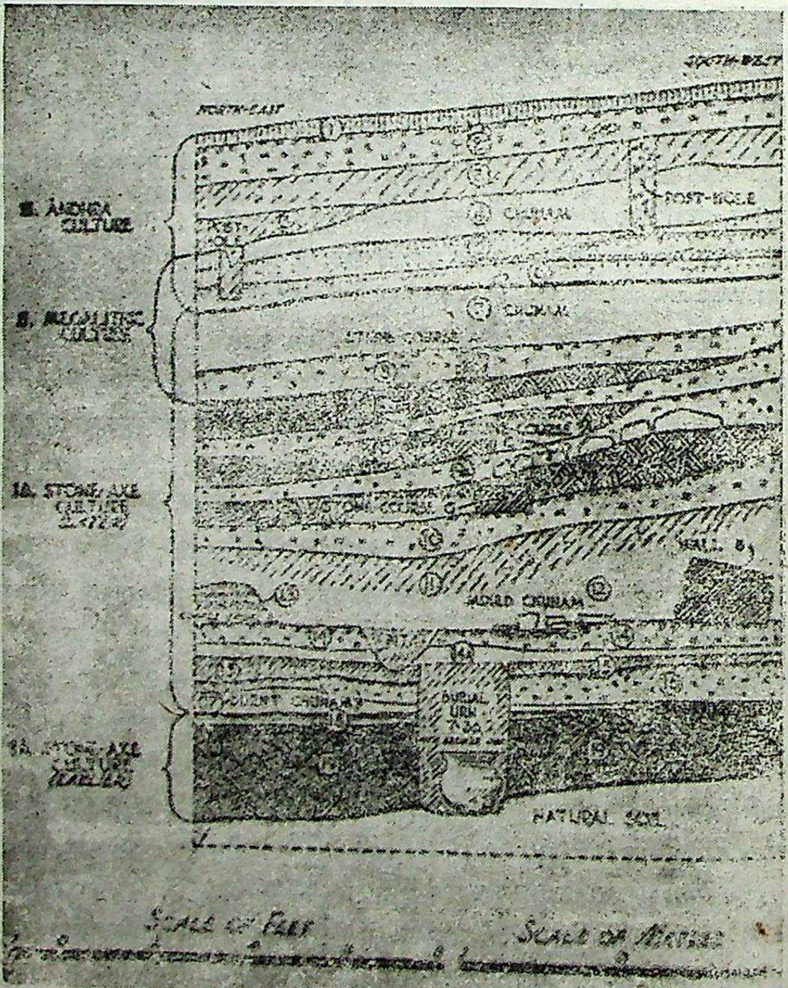

चित्र १९. ब्रह्मगिरि का स्तर-विन्यास AI, No. 9

मैसूर राज्य पुरातत्त्व विभाग के सहयोग से इस स्थान का उत्खनन किया। इस उत्खनन की उपलब्धियों से दक्षिण भारत के पुरातत्त्व में ब्रह्मगिरि का स्थान बड़ा

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

महत्त्वपूर्ण हो गया, क्योंकि वहाँ से ही सर्वप्रथम महाश्म संस्कृति के पूर्वकालीन अवशेष उपलब्ध हुए।

ब्रह्मगिरि के उत्खनन से वहाँ विकसित तीन संस्कृतियों—(१) नवाश्म संस्कृति, (२) महाश्म संस्कृति और (३) आन्ध्र संस्कृति के अवशेष मिले (चित्र-१९)। इन तीन सांस्कृतिक युगों के मध्य समय के विराम का कोई चिह्न नहीं मिलने से यह स्पष्ट हो गया कि एक के पश्चात् दूसरे और दूसरे के पश्चात् तीसरे सांस्कृतिक काल का आगमन वहाँ पर अविराम क्रम में हुआ। प्रमाण इस बात के भी मिले कि नवाश्म संस्कृति के पश्चात् जब महाश्म संस्कृति का प्रादुर्भाव हुआ तो उसके फलस्वरूप पूर्व-संस्कृति का तत्काल विनाश नहीं हो गया—कुछ समय तक नवाश्म और महाश्म—दोनों संस्कृतियाँ साथ-साथ पनपती रहीं, तदनन्तर महाश्म संस्कृति प्रबल हो गई। इसी प्रकार जब आंध्र संस्कृति का आगमन हुआ तो वह भी महाश्म के साथ कुछ काल तक पनपी।

ब्रह्मगिरि की इन सभ्यताओं के महत्त्व का मूल्यांकन करने के लिए इनकी प्रमुख विशेषताओं का उल्लेख करना आवश्यक है। ये विशेषताएँ इस प्रकार हैं—

प्रथम सांस्कृतिक काल—ब्रह्मगिरि में विकसित प्रथम संस्कृति नवाश्म एवं ताम्राश्म है। इसे ह्वीलर ने अश्म-परशु नाम दिया है। इसके अवशेषों का प्राकृतिक भूमि के ऊपर नौ फुट मोटा संचय मिला। इसे दो उपकालों में विभाजित किया गया—I-अ और I-ब। यह विभाजन मृद्भांडों पर आधारित है। प्रथम उपकाल में कुछ विशेष प्रकार के बर्तन मिले, जो दूसरे में नहीं मिलते। I-अ की विशेषताएँ हैं—हस्त-निर्मित मृद्भांड, नवाश्म सेल्ट, क्षुद्राश्म और मृद्भांडों की चित्रकारी। I-बी की विशेषताओं में चाक और ताँबे के उपयोग उल्लेखनीय हैं। इस काल की तिथि ई० पू० प्रथम सहस्राब्दी से ई० पू० दूसरी शताब्दी मानी गई है। बाद में इस संस्कृति से मिलते-जुलते अवशेष पिक्लीहल, उटनूर, टेक्कलकोटा इत्यादि स्थानों में मिले जिनकी तिथि कार्बन—१४ विधि के आधार पर २३००-१००० ई०पू० निर्धारित होती है। अतः ब्रह्मगिरि की पहली संस्कृति की तिथि भी यही होगी। इस संस्कृति की सम्पूर्ण अवधि में ट्रैप पत्थर के बने नुकीले समन्त कुल्हाड़ियों का प्रयोग होता रहा। इनके अतिरिक्त जैस्पर, फ्लिन्ट, अगेट और स्फटिक इत्यादि पत्थरों के बने साधारण क्षुद्राश्म भी मिले।

यद्यपि I-ब काल में धातु के उपयोग का ज्ञान हो गया था, परन्तु धातु-निर्मित वस्तुओं के नमूने दुर्लभ हैं—केवल एक ताँबे की कुल्हाड़ी और ताँबे तथा काँसे की एक-एक छड़ें मिल पाईं। अभी भी मिट्टी के बर्तन हाथ से बनाये जाते थे, जिनकी बनावट मोटी और रंग भूरा रहता। सम्पूर्ण प्रथम काल के स्तरों में

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

गोलाकार बर्तन मिले; नीचे की परतों से अर्थात् I-अ से कुछ नुकीले और उत्कीर्ण मृद्भांड भी उपलब्ध हुए, जो I-ब में नहीं मिलते।

शव को दफनाने की प्रथा प्रचलित थी। बच्चों के शव मृद्भांडों में रखकर गाड़े जाते थे। यथावत् शवाधान के भी दो उदाहरण मिले हैं, शव का सिर पूर्व की ओर रहता था और शवाधान में प्रयोग के मृत्पात्र रख दिए जाते थे। एक शव की खोपड़ी के पास एक टोंटीदार पात्र मिला।

सीमित उत्खनन के कारण मकानों के प्लान का ठीक-ठीक पता नहीं चला। स्तम्भ-गर्तों के आधार पर लकड़ी के बने आवासगृहों की विद्यमानता का अनुमान लगाया जा सकता है। एक स्थान पर सीधी पंक्ति में स्तम्भ-गर्त मिले जिनसे प्रतीत होता है कि गृहों का प्लान आयताकार रहा होगा।

महाश्म संस्कृति पूर्णरूपेण लौह-कालीन सभ्यता थी। इसके अवशेषों की ३-४ फुट मोटी परतें हैं। ह्वीलर महोदय ने इसकी तिथि लगभग २०० ई० पू० और प्रथम शताब्दी ई० सन् के मध्य निर्धारित की थी; परन्तु हाल में हलूर, पैयम्पल्ली, टेक्कलकोटा इत्यादि स्थानों में उपलब्ध इस संस्कृति के अवशेषों की कार्बन-१४ तिथि लगभग १०००-९०० ई० पू० निर्धारित हुई, अतः यही तिथि ब्रह्मगिरि के महाश्म सांस्कृतिक काल की भी होगी।

महाश्म-कालीन स्तरों में लोहे के बने हंसुए, छुरे, तलवार, भाले, बर्छे इत्यादि प्रचुर संख्या में मिले हैं। पत्थर की मार्जित कुल्हाड़ियाँ और क्षुद्राश्म भी थोड़ी संख्या में मिले, परन्तु इनका लोगों के सामान्य जीवन में प्रयोग नहीं होता था, और इन्हें पूर्व-सभ्यता के अतिजीवन या अतिक्रमण के रूप में समझना चाहिए।

इस काल के बर्तनों को निर्माण-विधि और आकार के आधार पर दो वर्गों में विभाजित किया गया है—कृष्ण-लोहित और कृष्ण-मार्जित। इनका निर्माण धीमे चाक पर होता था और इन पर अच्छी पालिश की जाती थी। इसके मुख्य प्रकार हैं—तुलिपाकार (tulip shaped) कलश, नौतलीय कटोरे, भीतर की ओर किनारेवाली थालियाँ इत्यादि। अभिकल्पनाओं (डिजाइनों) को उत्कीर्ण कर इन मृत्पात्रों की सज्जा की जाती थी। नगर-स्थल पर तो कम परन्तु समाधियों में मिले मृद्भांडों पर ग्रैफिटो पर्याप्त संख्या में मिले। इस काल के कृष्ण-मार्जित मृत्पात्रों की समता उत्तरी-कृष्ण-मार्जित मृद्भांड से की जाती है, परन्तु ह्वीलर के अनुसार इस प्रकार की समानता निराधार है।

ब्रह्मगिरि की महाश्म समाधियाँ दो प्रकार की हैं—एक कोष्ठ-वृत्त और दूसरा, गर्त-वृत्त। पहले प्रकार की समाधियों में घेरे का व्यास १६ से २१ फुट तक

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

का रहता था और दूसरे में २० से ३१ फुट के बीच। दोनों ही प्रकार की समाधियों में शव के साथ दैनंदिन जीवन में प्रयोग की वस्तुएँ रख दी जाती थीं।

पहले प्रकार की समाधि में ५-७ फुट लम्बे, ६ फुट ऊँचे और २-४ इंच मोटे शिलापट्टों से शवाधान-कोष्ठ का निर्माण किया जाता था (चित्र-१०)। इसके लिए सर्वप्रथम भूमि में गड्ढा खोदा जाता, तत्पश्चात् एक शिलापट्ट को सतह पर सपाट स्थापित किया जाता, चार शिलापट्ट इसके ऊपर इस प्रकार खड़े नियोजित किये जाते जिससे ६×४ फुट का आयताकार कक्ष बन जाता। छठे शिलापट्ट से कोष्ठ को ढक दिया जाता। कभी-कभी एकाधिक शिलापट्टों से छत को ढका जाता था। चौड़े पार्श्व के एक खड़े शिलापट्ट में १½—२ फुट व्यास का गोल छिद्र बनाया जाता था जिसे अन्त्येष्टि क्रिया सम्बन्धी धर्म-विधि की समाप्ति पर एक या दो शिला फलकों से बन्द कर दिया जाता। छिद्र तक जाने के मार्ग को भी मिट्टी-चूना से भर दिया जाता। समाधि-कक्ष को पत्थर की दीवार से घेर दिया जाता था। इस दीवार के बाहर प्रायः अनगढ़े शिलाखण्डों का वृत्त बनाया जाता। कभी-कभी दो वृत्त बनाये जाते।

जैसा ऊपर उल्लेख किया गया, घेरे के ये वृत्त १६-२१ फुट व्यास के मिले। दीवार तथा शिलाखण्ड निर्मित वृत्त को सामान्यतया जमीन से लगभग तीन फुट ऊँचा बनाया जाता था और इनके बीच के खाली स्थान को मिट्टी तथा पत्थर से भर कर पूरी समाधि को स्तूपाकार ऊँचा बना दिया जाता। कभी-कभी बड़े समाधि-कक्ष के चतुर्दिक छोटे-छोटे कक्ष बनाये जाते थे। अन्त्येष्टि सामग्री का संचय सतह पर बिछाये सपाट शिलापट्ट के ऊपर पाया गया। अन्त्येष्टि सामग्री में ६ से ६२ तक मृद्भांड पाये गये। इस संचय के ऊपर ६ इंच का बालु मिश्रित मिट्टी का स्तर मिला, तदुपरि मानव-अस्थियाँ। इससे यह संकेत मिलता है कि शव को अन्यत्र खुला रखकर अस्थि संचयन को छिद्र-मार्ग से बलिकर्मोपरांत कक्ष में डाल दिया जाता होगा। तत्पश्चात् गड्ढे को मिट्टी से भर कर शिलापट्ट से ढंक दिया जाता था।

दूसरे प्रकार की समाधि में लगभग आठ फुट गहरे खुले गर्त में शवाधान की क्रिया सम्पन्न की जाती थी। इस वर्ग के समाधियों की परिधि के वृत्ताकार घेरे कोष्ठ-वृत्त के घेरे से बड़े बनाये जाते थे (२०-३१ फुट व्यास के)। कभी तो शिला-खंडों का एक वृत्ताकार घेरा बनाया जाता, तो कभी दो। शव को काष्ठ शवपेटिका में डालकर गर्त में रख दिया जाता था। गर्त की सतह पर चार शिलापट्ट पाये गये जिनके सम्बन्ध में यह अनुमान लगाया गया है कि उनके ऊपर शवपेटिका के आधार स्थापित रहे होंगे। सतह पर संचित २½-३ फुट मोटे स्तर में मृद्भांड तथा लौह उपकरण मिले। अतः यह स्पष्ट है कि अन्त्येष्टि सामग्री गर्त में रख दी जाती थी।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

बन्द गर्त ८-१२ फुट व्यास के वृत्ताकार अथवा अंडाकार आकार के पाये गये। अन्त में सभी गड्ढों को मिट्टी से भर कर ऊँचा बना दिया जाता था।

तृतीय काल, अर्थात् आंध्र संस्कृति की प्रमुख विशेषता इस युग का विकसित मृद्भांड है। अब इसका निर्माण तेज घूमनेवाले चाक पर होता था। इस काल के विशेष बर्तनों को लवण-काचायित किया जाता था। गेरू रंग का लेप करने के पश्चात् उन पर सफेद रंग (चूना या मिट्टी) से चित्रकारी की जाती, जिसकी अभिकल्पनाओं में ऋजुरेखीय अलंकरण, विशेषतः आड़ा-तिरछा नमूना प्रमुख था। इस प्रकार के मृद्भांड दक्कन में अधिक मिले हैं। बर्तनों में चक्रांकित मृद्भांड (Rouletted ware) भी मिले, किन्तु बहुत कम। परन्तु इस मृद्भांड का इस स्थान के तिथि-निर्धारण में बड़ा महत्त्व है। यह अरिकामेडु में भी मिला था और इसने न केवल ब्रह्मगिरि, अपितु समस्त दक्षिण भारत के इतिहास की तिथि को एक सुदृढ़ आधार प्रदान किया। साधारणतया इस प्रकार के नमूनों वाले बर्तन प्रथम शताब्दी ई० सन् में भूमध्य सागरीय देशों में बनते थे, अतः आन्ध्र संस्कृति की अवधि ईसवी सन् की पहली शताब्दी से तीसरी शताब्दी तक मानी गई। चक्रांकित पात्रों की प्राप्ति से भारत और रोम के मध्य व्यापार-सम्बन्ध की विद्यमानता भी निश्चित हो गई।

अरिकामेडु

दक्षिण भारत के पुरास्थलों में अरिकामेडु का विशिष्ट स्थान है। यह पुरास्थल पांडिचेरी से दो मील दक्षिण वराहनदी नामक जलक्षेत्र (lagoon) के तट पर काक्कायंतोप्पु गाँव के निकट स्थित है। इस स्थान के खंडहरों के उत्खनन का आरम्भ १९४१ ई० में फ्रांसीसी उत्खननकर्त्ताओं ने किया, परन्तु उनके उत्खनन पुरास्थल की प्रकृति के अनुरूप सही ढंग से नहीं किये जा सके। सन् १९४४ ई० में सर मॉर्टिमर ह्वीलर ने जब उस स्थान का निरीक्षण किया तो उन्होंने वहाँ इटली में बने अरेटाइन (Arretine) मृद्भांड के ठीकरों को देखकर उस स्थान के पुरातात्त्विक महत्त्व को समझा और उन्होंने पांडिचेरी के तत्कालीन फ्रांसीसी सरकार से अरिकामेडु के उत्खनन की अनुमति प्राप्त कर ली। तदनुसार उनके निर्देशन में वहाँ उत्खनन सम्पन्न हुआ जिसका विवरण १९४८ ई० में प्रकाशित किया गया (Ancient India, No. 2)। इस उत्खनन से अरिकामेडु के महत्त्व का सही मूल्यांकन हुआ और यह देश का एक प्रमुख पुरास्थल बन गयी।

अरिकामेडु के उत्खनन में उपलब्ध साक्ष्य से यह प्रमाणित हुआ कि यह नगर भारत के पूर्वी समुद्री तट में उद्योग और व्यापार का एक प्रमुख केन्द्र था, जिसका व्यापार-सम्बन्ध पश्चिम में रोम तक था। यहाँ प्रचुरता से उपलब्ध अरेटाइन मृद्भांड

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

से प्रथम सदी ई० सन् में भूमध्यसागरीय देशों के साथ भारत के व्यापार-सम्बन्धों की विद्यमानता का प्रबल साक्ष्य उपलब्ध हुआ जिसकी संपुष्टि ब्रह्मगिरि के उत्खनन से हुई। अरेटाइन लोहित वर्ण का चमकीला मृद्भांड है जिसका निर्माण प्रथम सदी ई० सन् के प्रथमार्ध में इटली में किया जाता था। भारत तथा भूमध्यसागरीय क्षेत्र के बीच व्यापार-सम्बन्ध को संपुष्ट करने वाले मृद्भांड का एक प्रमुख प्रकार अंफोरा (amphorae) कहे जाने वाले सुराभांड हैं, जिनमें भर कर विदेशी शराब का भारत में आयात किया जाता था। यहाँ उत्खनित पक्के तालाबों का संबंध वस्त्रोद्योग से था। यहाँ उत्पादित मलमल की रंगाई हेतु विशेष प्रकार के तालाब बनाये गये थे। यहाँ का एक अन्य प्रमुख उद्योग मनकों का निर्माण था। यहाँ सोने, मूल्यवान् पत्थर और शीशे के सुन्दर मनके बनाये जाते थे। इस कार्य में कुछ विदेशी शिल्पी भी नियुक्त किये गये थे, जिसका सकेत दो रत्नों में यूनानी-रोमन कारीगरों द्वारा बनाये गये विदेशी चिन्हों से मिलता है। इन साक्ष्यों के परिप्रेक्ष्य में यह स्पष्ट हो जाता है कि साहित्यिक, मुख्यतः संगम स्रोतों में उपलब्ध बाह्य जगत के साथ लगभग प्रथम शताब्दी ई० सन् में तमिलनाडु के व्यापारिक सम्बन्ध के विवरण तथ्याधारित हैं। उन दिनों भारत से निर्यात की जाने वाली वस्तुओं में मसाले, मोती, मूल्यवान् पत्थर, मलमल, कछुवे की हड्डी, हाथीदांत और रेशम के उल्लेख मिलते हैं। आयात की वस्तुओं में मूंगा, सीसा, ताँबा, टीन काँच, दीपक, सुरा और सिक्के उल्लेखनीय हैं।

अरिकामेडु के उत्खनन में उपलब्ध सभी भवनावशेष उस काल के हैं जब वहाँ रोमन मृद्भांड का आयात बन्द हो गया था। इस मृद्भांड की पूछ यूरोपीय बाजार में लगभग २५ ई० से कम होने लगी और इस कारण अंततोगत्वा इसका निर्माण बन्द हो गया। अतएव भारत में भी इसका आयात रुक गया। अनुमानतः २०-५० ई० के बीच ही भारत में इसका आयात किया गया। इस अवधि के अन्त से ही अरिकामेडु में जोर-शोर से निर्माण कार्य किये गये। उपलब्ध साक्ष्य के आधार पर यह अनुमान लगाया गया है कि अरिकामेडु में उद्योग-व्यापार लगभग २०० ई० सन् तक पनपते रहे, तदनन्तर इसका महत्त्व समाप्त हो गया। अतएव अरिकामेडु का दो सौ वर्षों तक ही महत्त्व रहा।

इस पुरास्थल के उत्खनन में काफी कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। समुद्रतट पर जलमय प्रदेश के निकट होने के कारण समुद्रतल के काफी नीचे तक आबादी के स्तर होने से उत्खनन में बड़ी परेशानी हुई। ह्वीलर महोदय ने पानी के पम्पों की सहायता से समुद्रतल से १३ फुट नीचे तक उत्खनन किया। आवश्यकतानुसार उत्खनन खातों को लकड़ी के तख्तों से घेर कर काम करना पड़ा।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

अरिकामेडु में उत्खनित भवनों के अवशेष उत्तरी तथा दक्षिणी, इन दो खंडों में विभाजित किये गये हैं। दोनों खंडों में एक-एक पक्के तालाब, प्रांगण, दीवार, कमरे तथा नालियों के अवशेष पाये गये। उत्तरी खंड में १५० फुट लम्बे निर्माण के अवशेष मिले। उत्खननकर्त्ता ने उत्तरी खंड के तालाब को तालाब-ब और दक्षिणी खंड में बने तालाब को तालाब-अ नाम दिया। यह स्पष्ट है कि यहाँ उपलब्ध भवनावशेषों का सम्बन्ध इस प्राचीन नगर में विकसित वस्त्रोद्योग से था। जैसा कि ऊपर उल्लेख किया गया, तालाबों और नालियों के विशिष्ट निर्माण कपड़ों की रंगाई हेतु किये गये थे।

अरिकामेडु के निर्माणकालीन स्तरों को तीन कालों में विभाजित किया गया—पूर्वकाल, मध्यकाल तथा उत्तरकाल। अन्तिम काल इसके अवसान की अवस्था का है। प्रथम दो काल तीन-तीन उपकालों में विभाजित किये गये हैं।

पूर्वकालीन उपकाल-I—पूर्वकालीन अरिकामेडु के प्रथम उपकाल के अवशेष अल्प हैं। प्राकृतिक भूमि के ऊपर तीन फुट मोटे हरित वर्ण के बालु के संचय के ऊपर जो अवशेष उपलब्ध किये गये उनसे किसी नियोजित निर्माण का पता नहीं चलता। पुरावशेषों में एक दीवार के अंश, मंडलकूप, ईंट की फर्श के कुछ भाग और काष्ठ स्तम्भों के साथ बना दीवार उल्लेखनीय हैं।

पूर्वकालीन उपकाल-II—इस उपकाल में जोर-शोर के साथ भवन निर्माण किये जाने के साक्ष्य मिले। निर्माणों में तालाब और नालियाँ प्रमुख हैं। इस काल में एक-एक कमरे से संलग्न दो पक्के तालाबों (तालाब-अ और ब) का निर्माण किया गया। इन दोनों तालाबों की मरम्मत और नवीकरण का कार्य मध्यकाल के अन्तिम चरण तक किये जाते रहे। अरिकामेडु वस्त्रोद्योग का केन्द्र था, अतः इन तालाबों का निर्माण मलमल की रंगाई हेतु किया गया था। उत्तर में बने तालाब-ब से जल-निष्कासन हेतु दो नालियाँ बनाई गई थीं। इस तालाब से संलग्न एक पक्का बरामदा भी था। तालाब-अ और ब के मध्य पूर्वकालीन दीवार पर बनी एक लम्बी दीवार के अक्रमबद्ध अवशेष मिले। इस दीवार के बाह्य पार्श्व में जल-निष्कासन प्रणाली-अ का निर्माण किया गया था। इस काल के अन्तिम चरण में मात्र एक दीवार के अवशेष लिले।

मध्यकालीन उपकाल-I—पूर्वकाल के अन्तिम चरण के पश्चात् इस स्थान को ईंट चोरों ने काफी क्षति पहुँचाई, परन्तु इसका परित्याग नहीं किया गया। यहाँ पर निर्माण कार्य चलता रहा। यह काल भी पूर्वकाल के समान तीन उपकालों में विभाजित किया गया है। इस काल के प्रथम उपकाल को उत्खननकर्त्ता ने प्रणाली-काल कहा है। इस उपकाल की प्रमुख विशेषता उत्तर दिशा में नदी की ओर बहाव

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

वाले विस्तृत जल-निष्कासन प्रणाली का निर्माण है। सभी नालियाँ ईंट को क्षैतिज ढंग से रख कर बनाई गई थीं। नाली-ब का निर्माण तालाब-अ के प्रांगण के पूरबी जीर्ण दीवार के ऊपर किया गया और इसका जल तालाब-अ में गिराया गया। वहाँ पुनः दूसरी दिशा में बने अन्य प्रणाली द्वारा जल का निष्कासन होता था। प्रणाली-स पहले उत्तराभिमुखी थी, तदनन्तर पूर्वाभिमुखी होकर उत्तर मुड़ती हुई नाली-अ के ऊपर से गुजर कर तालाब-अ और तालाब-ब के बीच से प्रवाहित होती थी। प्रणाली-द तालाब-ब की सतह से गुजरती हुई इसके पूरब में प्रवाहित होती थी और पूरब से आती हुई नाली-फ से मिल जाती थी। सम्भवतः ब और स नालियाँ भी फ से मिलती थीं। इस काल में तालाब-अ की सतह १ फुट ४ इंच ऊँची कर दी गई।

उपकाल II.—अब तालाब-अ की सतह और ऊँची कर दी गई। इससे पूर्ववर्ती नाले के जल का निष्कासन बन्द हो गया। यह पता नहीं चला कि अब पानी की निकासी किस प्रकार होने लगी। अब इस तालाब का वर्गाकार प्रांगण बनाया गया। जिसका पता इसके दक्षिण और पश्चिम में तालाब की दीवार से १० फुट की दूरी पर बने दो दीवारों के अवशेषों से लगा। एक में पश्चिमी छोर पर दरवाजा था। प्रांगण के दक्षिण में एक वर्गाकार पक्का गर्त (गर्त-ब) बनाया गया था जो ५ फुट ९ इंच गहरा था। इसका अन्दरूनी भाग स्निग्ध बनाया गया था। इसका ऊर्ध्वभाग तो ५ फुट वर्ग का था परन्तु इसकी सतह सिर्फ १ फुट ६ इंच का वर्ग थी। इस गर्त का उपयोग तालाब से अभिन्न माना जायगा। तालाब-ब के उत्तरी और पश्चिमी दीवारों को मोटा किया गया। तालाब को दो भागों में विभाजित करने वाली पूर्ववर्ती दीवार के उपर भी मोटी दीवार बनायी गयी।

उपकाल-III—इस उपकाल में तालाब-अ के वर्ग-प्रांगण के दक्षिणी दीवार के बाहर ही निर्माण कार्य किये गये। इस दीवार के बाह्य पार्श्व के साथ पूर्व-पश्चिम एक नाली का निर्माण किया गया। यह नाली (नाली-ह) नाली-स से उस स्थान पर जा मिलती जहाँ वह पूरब की दिशा में मुड़ जाती थी। इस काल में कुछ ईंट के फर्श भी बनाये गये जो ध्यान देने योग्य हैं।

उत्तरकालीन स्तर अरिकामेडु के अवसान का द्योतक है और इसके अवशेष उल्लेखनीय नहीं हैं। वस्तुतः अरिकामेडु का महत्त्व पश्चिम के साथ इसके व्यापार-संबंध के कारण था और जब इसमें ह्रास हो गया तो इस नगर की गतिविधि की भी इतिश्री हो गयी। परन्तु दक्षिण भारत के तिथिक्रम निरूपण में ब्रह्मगिरि के उत्खनन के साथ अरिकामेडु के उत्खनन का अनुशीलन परमावश्यक हो जाता है। क्योंकि इन दोनों पुरास्थलों से उत्खनित साक्ष्य ने दक्षिण भारत के इतिहास को एक नया आयाम प्रदान किया।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

पुरावशेष संबंधी अधिनियमों की मुख्य बातें

जिन देशों को इस बात का गर्व है कि उनकी सभ्यता प्राचीन है और जिनके यहाँ प्राचीन कलात्मक वस्तुओं की बहुलता है, उनके लिए यह नितांत आवश्यक हो जाता है कि वे अपने पुरावशेषों को सुरक्षित रखने का पूरा प्रयास करें। जहाँ तक भारत का प्रश्न है, यहाँ की धरती पुरावशेष संपन्न है, परन्तु देशवासियों की अज्ञानतावश कुछ पुरावशेषों के नष्ट हो जाने की तथा कुछ के धनी-मानी देशों के नागरिकों की इन वस्तुओं की संग्रह-अभिरूचि अथवा प्राचीन वस्तुओं एवं कलाकृतियों के व्यापार में संलग्न लोगों की गतिविधियों के फलस्वरूप देश के बाहर इनके स्थानान्तरण की संभावना सदा ही एक बड़ी समस्या बनी रही है। इन वस्तुओं के महत्व के विषय में सामान्य जन की अज्ञानता तथा कुछ लोगों की निर्धनता अथवा उनके लोभ का लाभ उठाकर तस्कर उन्हें अपने जाल में फँसा लेते हैं, जिससे देश को इस सांस्कृतिक धरोहर से वंचित हो जाना पड़ता है। अतएव सरकार का यह परम कर्त्तव्य हो जाता है कि वह पुरावशेषों एवं कलाकृतियों की सुरक्षा हेतु सभी प्रकार के संभव उपाय करें। इस दिशा में एक शताब्दी पूर्व ही भारत सरकार का ध्यान गया और गड़ो निधि संबंधी अधिनियम—ट्रेजर-ट्रोव ऐक्ट (Treasure-Trove-Act, 1878) नाम से लागू किया गया। इस अधिनियम के अनुसार यदि किसी व्यक्ति को भूमि में गड़ी दस रुपए से अधिक मूल्य की निधि उपलब्ध हो, तो वह उस क्षेत्र के जिला समाहर्ता (District Collector) को इसकी सूचना दे और निकटतम कोषागार में उसे जमा कर दे, अथवा समाहर्ता को समुचित जमानत दें। यदि समाहर्ता को जाँच-पड़ताल से यह निश्चित हो जाता है कि निधि प्राप्ति काल से सौ वर्ष पूर्व संचित की गयी थी, तो उस अवस्था में यदि दोनों पक्षों में कोई अन्य समझौता न हुआ हो तो, वह भूस्वामी तथा पाने वाले के बीच निधि अथवा उसके मूल्य का विभाजन २५ प्रतिशत और ७५ प्रतिशत के अनुपात से कर दे। परन्तु यदि भूस्वामी निधि के दावेदार के रूप में उपस्थित नहीं होगा तो सम्पूर्ण निधि पर पाने वाले का अधिकार हो जायगा। कलक्टर को यह भी अधिकार प्रदान किया गया कि वह निधि का बंटवारा न करके उसके मूल्य के साथ उसका १/५ भाग अतिरिक्त देकर सरकार की ओर से उसका अधिग्रहण कर ले। यदि पाने वाला प्राप्त निधि के विषय में न तो कलक्टर को सूचित करे और न उसे कोषागार में जमा ही करे या उसे छिपाने के विचार से उसमें इस प्रकार के उलटफेर कर दे कि उसकी सही पहचान न हो सके, तो उस

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

अवस्था में उसे उस निधि में अपने हिस्से से वंचित तो होना पड़ेगा ही, साथ ही एक वर्ष का कारावास दण्ड अथवा अर्थदण्ड या दोनों सजाएं भुगतनी पड़ेंगी।

इसमें कोई संदेह नहीं कि ट्रेजर-ट्रोव ऐक्ट ने प्राचीन वस्तुओं को सुरक्षा प्रदान किया क्योंकि इसके अन्तंगत पाने वाले को अनिवार्य रूप से उपलब्धि को घोषणा करने और उस वस्तु का सरकार द्वारा क्षतिपूर्ति कर अधिग्रहण की इसमें व्यवस्था है। इस कानून के अन्तर्गत ही सरकार ने प्राचीन मूर्तियों, सिक्कों के ढेर तथा अन्य पुरावशेषों का अधिग्रहण कर संग्रहालयों को समृद्ध किया। उपलब्ध वस्तु के मूल्य का १/५ भाग पुरस्कार स्वरूप अधिक प्राप्त होने से पाने वाले तथा भूस्वामी को आर्थिक दृष्टि से लाभ ही हुआ। परन्तु इस अधिनियम के विषय में लोगों की जानकारी नहीं के बराबर रही है। यदि किसी को पुरावशेष उपलब्ध हुए भी तो प्रायः सरकारी भय से अथवा गलत सलाह के कारण उसे गुप्त रखना ही उन्होंने श्रेयस्कर समझा। सोना-चांदी जैसे बहुमूल्य धातु की वस्तु उपलब्ध होने से लोग सर्वप्रथम सोनार के पास गये तो उसने उसे गला देने की राय दी। न जाने कितनी स्वर्णमुद्राएँ जिनका ऐतिहासिक दृष्टि से बड़ा महत्त्व रहा होगा, लोगों की अज्ञानतावश गला दी गयी होंगी।

जब सरकार को इसका अनुभव हुआ कि ट्रेजर-ट्रोव ऐक्ट के अन्तर्गत समस्त पुरातात्त्विक अवशेषों का संरक्षण संभव नहीं, तो १९०४ ई० में, प्राचीन स्मारक संरक्षण अधिनियम (Ancient Monuments Preservation Act of 1904) बनाया गया जो पचपन वर्षों तक लागू रहा। इस अवधि में इसकी धाराओं के अन्तर्गत ही प्राचीन स्मारकों का संरक्षण तथा पुरास्थलों के उत्खनन जैसे कार्य सम्पन्न होते रहे। परन्तु इस अधिनियम में ऐसी व्यवस्था नहीं थी जिससे कलाकृतियों के विदेश पलायन (निर्यात) को रोका जाता। सम्पन्न देश के संग्रहकर्त्ता तथा शौकिन लोग भारत की प्राचीन कलाकृतियों का मुँहमांगा मूल्य देते थे, जिससे इन वस्तुओं की तस्करी का बाजार गर्म रहा। दिनों-दिन कलात्मक वस्तुओं की भारत में तस्करी बढ़ती गई, अतएव इस स्थिति से निपटने के विचार से, १९४७ ई० में पुरावशेष निर्यात नियंत्रण अधिनियम [The Antiquities (Export Control) Act of 1947] बनाया गया। इस अधिनियम के अन्तर्गत, उन लोगों के लिए दंड का विधान किया गया जो बिना सरकारी लाइसेंस के, एक सौ वर्षों से अधिक प्राचीन वस्तुओं का देश के बाहर निर्यात करने अथवा इसके लिए प्रयास के दोषी पाये जायें।

इस प्रकार समय-समय पर पुरावशेष संरक्षण हेतु भारत सरकार द्वारा कानून बनाए जाते रहे, परन्तु फिर भी कोई अधिनियम ऐसा नहीं बन पाया जिसका

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

दायरा काफी व्यापक होता। अतएव १९५९ ई० में भारतीय संसद ने प्राचीन स्मारक तथा पुरास्थल एवं पुरावशेष अधिनियम (Ancient Monuments & Archaeological Sites & Remains Act, 1958) स्वीकृत किया, जो १५.१०.५९ से लागू हुआ। इस अधिनियम में प्राचीन स्मारक संरक्षण अधिनियम की उपयोगी धाराओं के अतिरिक्त, समयानुकूल कुछ नई व्यवस्थायें की गई। इसकी मुख्य बातें ये हैं :—

(१) यह अधिनियम उन सभी स्मारकों तथा पुरास्थलों पर लागू किया गया जिन्हें १९५१ ई० तक राष्ट्रीय महत्त्व का घोषित कर दिया गया था। इसका अर्थ यह हुआ कि ऐसे सभी स्मारक इस कानून के दायरे में आ गये जो पुराने अधिनियम के अन्तर्गत संरक्षित थे और राष्ट्रीय महत्व के कुछ ऐसे स्मारक भी जो भूतपूर्व देशी रियासतों में थे।

(२) सरकार को प्राचीन स्मारकों और पुरास्थलों की संख्यावृद्धि तथा उन्हें संरक्षित घोषित करने का भी अधिकार प्रदान किया गया।

(३) यदि किसी संरक्षित स्मारक पर किसी व्यक्ति-विशेष का स्वामित्व हो, तो उस अवस्था में इस अधिनियम के अनुसार, केंद्र सरकार संरक्षित स्मारक के स्वामी के साथ उसके रख-रखाव के सम्बन्ध में कोई समझौता कर सकती है। स्मारक के स्वामी के सरकार के साथ समझौता के लिए सहमत न होने या समझौता सम्पन्न न हो सकने की स्थिति में, सरकार स्मारक के रख-रखाव सम्बन्धी अपने अधिकार का उपयोग करेगी और उसके मालिक के अधिकार को सीमित करेगी।

(४) यदि भारतीय पुरातत्त्व सर्वेक्षण के महानिदेशक यह समझेंगे कि स्मारक के स्वामी का इरादा इस प्रकार के कार्य करने का है जिससे उस स्मारक की सुरक्षा खतरे में पड़ सकती है, अथवा वह स्मारक-स्थल पर या उसके निकट कुछ निर्माण करना चाहता है, तो उस पर रोक लगाई जायगी।

(५) यदि किसी स्मारक का धर्मस्थान के रूप में उपयोग होता रहा हो तो उसके इस स्वरूप को कायम रखा जायगा।

(६) संरक्षित स्थान पर किसी भी व्यक्ति को उत्खनन, खनन इत्यादि करने का अधिकार नहीं होगा, परन्तु वहाँ सामान्य कृषि-कर्म किये जा सकेंगे। सरकारी अनुमति के बिना वहाँ पर किसी भवन का निर्माण नहीं किया जायगा, और यदि अनुमति प्राप्त किये बिना वहाँ निर्माण किया जायगा, तो निर्माणकर्त्ता के व्यय से उसे हटा दिया जायगा।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

(७) संरक्षित स्थान पर पुरातत्त्व के महानिदेशक से प्राप्त लाईसेंस के बिना पुरातत्त्व सर्वेक्षण के अधिकारी के अतिरिक्त कोई अन्य व्यक्ति पुरातात्त्विक उत्खनन का कार्य नहीं करेगा। पुरातत्त्व सर्वेक्षण के अधिकारी को असंरक्षित स्थान के उत्खनन का भी अधिकार होगा।

(८) राज्य सरकार केंद्र सरकार की सहमति के बिना न तो उत्खनन करायगी और न इसे प्रोत्साहन प्रदान करेगी।

(९) यदि केन्द्र सरकार यह समझेगी कि कहीं प्राचीन वस्तुओं के विनष्ट किये जाने, या उनके स्थानान्तरण या बरबाद हो जाने की संभावना है, तो वह उन वस्तुओं का क्रय करेगी। वह सम्बद्ध लोगों को यह आदेश भी देगी कि प्राचीन वस्तुएँ जहाँ हों वहाँ से वे बिना अनुमति के स्थानांतरित न किये जायें।

(१०) इन अधिनियम के अन्तर्गत दोषी पाये गये व्यक्ति तीन महीने के कारावास या पाँच हजार रुपयों के अर्थदण्ड अथवा दोनों के भागी हो सकते हैं।

(११) इस अधिनियम के अन्तर्गत सरकार ने कुछ नियम बनाये जो कानून पास होने की तिथि से ही लागू माने गये। इनकी मुख्य बातें ये हैं :—

कुछ प्रमुख पुरास्थलों के अतिरिक्त अन्यत्र प्रवेश निःशुल्क रहेगा। जहाँ प्रवेश-शुल्क लगाया जायगा वहाँ भी पन्द्रह वर्ष के नीचे के बालक इससे मुक्त रहेंगे।

स्मारक स्थलों में केवल मान्यता-प्राप्त धार्मिक स्वरुप के कार्यों को छोड़कर कोई भी मीटिंग, सम्मेलन, पार्टियाँ इत्यादि नहीं किये जा सकेंगे। इन स्थानों में अनुज्ञप्ति प्राप्त किये बिना सामानों के विज्ञापन, विक्रय या प्रचार (Convassing) या गाइड के कार्य निषिद्ध माने जायेंगे।

सामान्यतः प्राचीन स्मारकों के रेखांकन या छायांकन का निषेध नहीं रहेगा, परन्तु कैमरा-स्टैंड या इस प्रकार की वस्तुओं के उपयोग का जिससे अन्य दर्शनार्थियों या आगंतुकों को असुविधा हो, निषेध रहेगा। इन स्थानों में फिल्म निर्माण हेतु अनुज्ञप्ति प्राप्त करना आवश्यक होगा। यदि सरकार को ऐसा प्रतीत होगा कि संरक्षित स्मारक के निकट खनन कार्य अथवा भवन निर्माण का निषेध या नियमन किया जाय, तो वह स्मारक के आसपास के कुछ भाग को इन कार्यों के लिए निषिद्ध या नियमाधीन घोषित करेगी। निषिद्ध क्षेत्र में किसी प्रकार का खनन या निर्माण-कार्य नहीं किया जायगा, और नियमाधीन क्षेत्र में अनुज्ञप्ति प्राप्त करके ये कार्य किये जायेंगे। अनधिकृत भवनों को गिरा देने का सरकार को अधिकार रहेगा। इन

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

व्यवस्थाओं के मूल में प्राचीन स्मारकों के संरक्षण तथा उनके सौंदर्य को कायम रखने की भावना निहित है।

उपर्युक्त नियमों के उल्लंघन के दोषी व्यक्ति दण्ड के भागी होंगे।

पुरावशेष तथा बहुमूल्य कलाकृति अधिनियम—पुरावशेषों तथा बहुमूल्य कलाकृतियों के निर्यात-व्यापार के नियमन तथा इनकी तस्करी और तिथि-संबंधी जालसाजी पर रोक लगाने तथा पुरावशेषों एवं बहुमूल्य कलाकृतियों के अधिग्रहण और सार्वजनिक स्थलों में उनके संरक्षण के उद्देश्य से पुरावशेष तथा बहुमूल्य कलाकृति अधिनियम, १९७२ बनाया गया। इसमें ३३ धाराएँ हैं और इसे समस्त भारत में लागू किया गया। इसकी मुख्य बातें ये हैं :—

(१) पूरावशेष के अन्तर्गत ये वस्तुएँ आयेंगी :—

(अ) सिक्के, मूर्तियाँ, चित्र, अभिलेख, कलाकृतियाँ या अन्य प्रकार के शिल्प-कला की वस्तुएँ।

(आ) किसी भवन अथवा गुफा से पृथक्कृत वस्तु।

(इ) ऐसी वस्तु जिसमें अतीत के विज्ञान, कला, शिल्प, साहित्य, धर्म, आचार, नैतिकता, तथा राजनीति का चित्रण हो।

(उ) ऐतिहासिक महत्त्व की सभी वस्तुएँ।

(ऊ) एक सौ वर्ष पुरानी कोई भी वस्तु जिसे केन्द्र-सरकार इस अधिनियम के अन्तर्गत पुरावशेष घोषित करे।

(ए) जो पांडुलिपि, रेकर्ड या दस्तावेज कम-से-कम ७५ वर्ष पुरानी हो और जिसका वैज्ञानिक, ऐतिहासिक, साहित्यिक या कलात्मकता की दृष्टि से महत्त्व हो।

बहुमूल्य कलाकृति से कोई भी मानवीय कलाकृति अभिप्रेत है जो पुरावशेष के अन्तर्गत नहीं आयगी, परन्तु जिसके कलात्मकता अथवा सौंदर्य के महत्त्व के आधार पर केन्द्र-सरकार इस अधिनियम के अन्तर्गत बहुमूल्य कलाकृति घोषित करे। परन्तु ऐसी उद्घोषणा किसी कलाकृति के कलाकार के जीवन काल में नहीं की जायगी।

(२) इस अधिनियम के लागू होने से केन्द्र सरकार अथवा केन्द्र सरकार द्वारा प्राधिकृत अधिकारी या एजेन्सी के अतिरिक्त किसी अन्य व्यक्ति द्वारा किसी पुरावशेष या बहुमूल्य कलाकृति का निर्यात गैर कानूनी माना जायगा।

जब भी केन्द्र सरकार अथवा उसके द्वारा प्राधिकृत अधिकारी या एजेन्सी किसी पुरावशेष या बहुमूल्य कलाकृति का निर्यात करना चाहेगी तो उसका यह कार्य केवल निर्धारित अधिकारी द्वारा इस हेतु प्रदत्त अनुज्ञप्ति की शर्तों के अनुकूल होगा।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

(३) जहाँ तक इस अधिनियम की धाराओं के साथ असंगति नहीं होगी, सभी पुरावशेषों तथा बहुमूल्य कलाकृतियों के निर्यात के संबंध में, १९६२ ई० का कस्टम अधिनियम (The Customs Act, 1962) लागू होगा।

(४) इस अधिनियम के आरम्भ होने के दो महीनों की अवधि के पश्चात् किसी भी व्यक्ति को अनुज्ञप्ति प्राप्त किये बिना पुरावशेष के विक्रय-व्यवसाय का अधिकार नहीं रह गया। (यहाँ पुरावशेष से ऐसे प्राचीन तथा ऐतिहासिक रेकर्ड अभिप्रेत नहीं हैं जिनको संसद द्वारा निर्मित नियम के अन्तर्गत ऐतिहासिक महत्त्व का घोषित नहीं किया गया हो)।

(५) इस अधिनियम के अन्तर्गत अनुज्ञप्ति प्रदान करने हेतु केन्द्र सरकार द्वारा अनुज्ञप्ति अधिकारियों की नियुक्ति की जायगी। ये राजपत्रित अधिकारी होंगे और इस अधिनियम के अन्तर्गत प्रदत्त अधिकारों के उपयोग हेतु, केन्द्र सरकार उनके कार्यक्षेत्र की सीमा निर्धारित करेगी।

(६) पुरावशेष विक्रय-व्यापार के इच्छुक व्यक्ति को, चाहे वह यह कर्म स्वयं करे या अपने बदले में किसी अन्य व्यक्ति से कराना चाहे, उसे निर्धारित शुल्क के साथ विहित प्ररूप में आवेदन देकर अनुज्ञप्ति अधिकारी से अनुज्ञप्ति प्राप्त करना होगा। अनुज्ञप्ति निर्धारित अवधि के लिए निर्दिष्ट शर्तों तथा विशेषताओं के साथ दी जायगी। अनुज्ञप्ति प्रदान हेतु प्रस्तुत आवेदन को अनुज्ञप्ति अधिकारी आवेदन की पूरी बातें सुने बिना अस्वीकृत नहीं करेंगे।

(७) प्रदत्त अनुज्ञप्ति का निर्दिष्ट अवधि पर निर्दिष्ट शुल्क देकर नवीकरण कराना होगा। इस सम्बन्ध में आवेदक को उसकी बातें सुनने के लिए उचित अवसर दिए बिना अस्वीकार नहीं किया जायगा।

(८) प्रत्येक अनुज्ञप्तिधारी को (चाहे अनुज्ञप्ति नई हो या नवीकृत) निर्दिष्ट तरीके से रेकर्ड, छायांकन और रजिस्टर रखने पड़ेंगे, जिनका किसी भी उचित समय में अनुज्ञप्ति अधिकारी अथवा उनके द्वारा लिखित रूप में प्राधिकृत अन्य राजपत्रित सरकारी अधिकारी द्वारा निरीक्षण किया जा सकेगा।

(९) यदि अनुज्ञप्ति अधिकारी की जानकारी में लाये जाने पर वे इस बात से तुष्ट हो जायेंगे कि अनुज्ञप्ति धारक ने किसी बात को गलत रूप में प्रस्तुत करके अनुज्ञप्ति स्वीकृत करायी है, या जिन शर्तों पर अनुज्ञप्ति प्रदान की गई उनका उसने पालन नहीं किया, या अधिनियम की किसी व्यवस्था या नियम के विपरीत आचरण किया, तो अनुज्ञप्तिधारी को कारण बतलाने का अवसर देकर अनुज्ञप्ति को रद्द या

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

निलंबित कर दिया जायगा। इस संबंध में जो नियम बनाए जायेंगे उनके अनुसार अनुज्ञप्ति अधिकारी प्रदत्त अनुज्ञप्ति में अन्तर या संशोधन करेंगे।

(१०) जिस व्यक्ति की अनुज्ञप्ति रद्द कर दी गई हो वह अनुज्ञप्ति अधिकारी के समक्ष निर्धारित अवधि के अन्दर निर्दिष्ट रूप में घोषणा कर अपने स्वामित्व, नियंत्रण या अधिकार के सभी पुरावशेषों का विक्रय वैध अनुज्ञप्ति धारक को कर सकेगा। परन्तु किसी भी पुरावशेष का विक्रय अनुज्ञप्ति रद्द किये जाने की तिथि से ६ महीने की अवधि के पश्चात् नहीं किया जायगा।

(११) यदि केन्द्र सरकार पुरावशेष संरक्षण अथवा जनहित की दृष्टि से आवश्यक समझे तो वह अधिकृत राजपत्र में इस आशय की अधिसूचना जारी करेगी कि अमुक तिथि से पुरावशेष विक्रय का काम केन्द्र सरकार या प्राधिकृत अधिकारी या प्राधिकृत एजेंसी द्वारा किया जायगा। निर्दिष्ट तिथि के पश्चात् इनके अतिरिक्त अन्य किसी के द्वारा पुरावशेष विक्रय अवैध माना जायगा।

(१२) केन्द्र सरकार समय-समय पर अधिसूचना जारी कर यह स्पष्ट करेगी कि इस अधिनियम के अन्तर्गत किन पुरावशेषों का पंजीकरण (Registration) कराना होगा। जिन लोगों के पास अधिसूचना में निर्दिष्ट पुरावशेष होंगे उन्हें अधिसूचना जारी किए जाने की तिथि से लेकर तीन महीने की अवधि के अंदर उनका पंजीकरण कराना होगा।

(१३) इस अधिनियम हेतु केन्द्र सरकार पंजीकरण अधिकारियों को नियुक्त करेगी जो निर्दिष्ट क्षेत्र की सीमा में इस अधिनियम द्वारा प्रदत्त अधिकारों का उपयोग करेंगे।

(१४) पुरावशेष पंजीकरण हेतु पुरावशेष अधिकारी को पंजीकरण प्रमाण-पत्र के लिए आवेदन करना होगा। आवेदन निर्दिष्ट प्ररूप में पुरावशेष के छायांकन की निर्धारित प्रतियों (६ से अधिक नहीं) तथा निर्दिष्ट सूचनाओं के साथ करना होगा। किसी भी आवेदक के आवेदन को उसे अपनी बातें कहने का उचित अवसर दिये बिना अस्वीकृत नहीं किया जायगा।

(१५) जब कोई व्यक्ति किसी पुरावशेष के स्वामित्व, नियंत्रण या कब्जा का हस्तांतरण करेगा तो इसकी सूचना पंजीकरण अधिकारी को निर्दिष्ट समय के अन्दर निर्दिष्ट प्ररूप में देगा।

(१६) पंजीकरण की धाराएँ सरकारी अथवा सरकार द्वारा नियंत्रित या व्यवस्थित संग्रहालय, कार्यालय अभिलेखागार और शिक्षण तथा सांस्कृतिक संस्थान पर लागू नहीं होंगी।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

(१७) इस अधिनियम के अन्तर्गत केन्द्र सरकार को पुरावशेष तथा बहुमूल्य कलाकृति के अधिग्रहण का अधिकार रहेगा। यदि केन्द्र सरकार का यह विचार होगा कि, किसी पुरावशेष अथवा बहुमूल्य कलाकृति को सार्वजनिक स्थान पर सुरक्षित किया जाना उचित होगा, तो उसके अनिवार्य अधिग्रहण का आदेश दिया जायगा। इसके लिए, जिस जिले में सम्बद्ध पुरावशेष अथवा बहुमूल्य कलाकृति रखी गई होगी, वहाँ के कलक्टर उसके स्वामी को अधिग्रहण सम्बन्धी केन्द्र सरकार के निर्णय की अधिसूचना (notice) देंगे और उनके द्वारा पुरावशेष या बहुमूल्य कलाकृति को अपने अधिकार में लेना न्याय-संगत होगा। इसके लिए वे आवश्यकतानुसार शक्ति का प्रयोग भी करेंगे। यदि पुरावशेष अथवा बहुमूल्य कलाकृति के स्वामी को इसमें आपत्ति होगी तो वह इस सम्बन्ध में तीस दिनों के अन्दर केन्द्र सरकार को आवेदन देगी। इस अवधि के पश्चात् भी यदि केन्द्र सरकार इस बात से संतुष्ट होगी कि विलम्ब के पर्याप्त कारण थे तो उस अवस्था में वह आपत्ति सम्बन्धी आवेदन को स्वीकार कर लेगी। तदनन्तर केन्द्र सरकार उचित पूछ-ताछ कर तथा आवेदक की बातें सुनकर नब्बे दिनों के अन्दर एतत्सम्बन्धी आदेश को रद्द अथवा संपुष्ट करेगी। यदि अधिग्रहण सम्बन्धी आदेश रद्द कर दिया जायगा तो पुरावशेष या बहुमूल्य कलाकृति को उसके स्वामी को केन्द्र सरकार के व्यय पर अविलम्ब वापस कर दिया जायगा। यदि आदेश की संपुष्टि की जायगी, तो पुरावशेष या बहुमूल्य कलाकृति को कलक्टर ने जिस तिथि को अधिकार में लिया हो, उसी तिथि से उस पर केन्द्र सरकार का स्वामित्व माना जायगा। परन्तु, जिस पुरावशेष अथवा बहुमूल्य कलाकृति का वस्तुतः धार्मिक कार्य हेतु उपयोग होता हो, उस पर अनिवार्य अधिग्रहण की धारा लागू नहीं होगी।

(१८) अनिवार्य अधिग्रहण के अन्तर्गत पुरावशेष या बहुमूल्य कलाकृति के स्वामी को उचित मुआवजा दिया जायगा (इस सम्बन्ध में विशेष विवरण हेतु अधिनियम की धारा २० देखिए)

(१९) यदि अनुज्ञप्ति अधिकारी या पंजीकरण अधिकारी के किसी निर्णय से किसी व्यक्ति को कष्ट हो तो वह उस निर्णय के प्रेषित किये जाने के तीस दिनों के अन्दर निर्दिष्ट अधिकारी के पास अपील करेगा।

(२०) इस अधिनियम का पालन हो रहा है अथवा नहीं, इस बात की संतुष्टि हेतु, केन्द्र सरकार द्वारा प्राधिकृत कोई भी सरकारी अधिकारी किसी भी स्थान पर प्रवेश कर वहाँ खोज-बीन कर सकेगा। इस अधिनियम के उल्लंघन के संदेह पर वह किसी भी पुरावशेष या बहुमूल्य कलाकृति को जब्त करेगा और उसको न्यायालय में

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

पेश करने और पेश किये जाने तक उसकी सुरक्षा-सम्बन्धी सारी आवश्यक कार्रवाई करेगा ।

(२१) किसी भी वस्तु, पांडुलिपि, दस्तावेज इत्यादि के पुरावशेष या बहुमूल्य कलाकृति होने के सम्बन्ध में उत्पन्न विवाद को भारतीय पुरातत्त्व सर्वेक्षण के महा निदेशक या उनके द्वारा प्राधिकृत अधिकारी, जिनका पद भारतीय पुरातत्त्व सर्वेक्षण में निदेशक से कम का नहीं हो, के पास प्रस्तुत करना होगा और इनका निर्णय अंतिम माना जायगा ।

(२२) यदि कोई व्यक्ति स्वयं, या उसके स्थान पर कोई अन्य इस अधिनियम का उल्लंघन कर पुरावशेष अथवा बहुमूल्य कलाकृति का निर्यात करेगा या निर्यात का प्रयास करेगा, तो वह १९६२ के कस्टम अधिनियम की व्यवस्थाओं के अन्तर्गत, ३ महीनों से तीन वर्ष तक के कारावास तथा अर्थदंड का भागी होगा ।

(२३) बिना अनुज्ञप्ति के अथवा अनुज्ञप्ति रद्द किये जाने की अवस्था में, पुरावशेष तथा बहुमूल्य कलाकृति क्रय-विक्रय के दोषी को ६ महीने तक कारावास या अर्थदण्ड या दोनों सजाएँ दी जायेंगी और पुरावशेष को भी जब्त किया जायगा । अनुज्ञप्ति अधिकारी अथवा केन्द्र सरकार द्वारा प्राधिकृत पदाधिकारी के किसी अनुज्ञप्तिधारी के रेकर्ड, छायांकन या रजिस्टर के निरीक्षण में, या किसी स्थान की जाँच-पड़ताल में जो व्यक्ति बाधक होगा, वह ६ मास के कारावास या अर्थदण्ड या दोनों का भागी होगा ।

(२४) इस अधिनियम के अन्तर्गत दण्डनीय अपराध की सुनवाई प्रेसीडेंसी मजिस्ट्रेट अथवा प्रथम श्रेणी के दण्डाधिकारी (मजिस्ट्रेट) से नीचे के न्यायालय में नहीं होगी ।

(२५) यदि इस अधिनियम के अन्तर्गत किसी कम्पनी को अपराधी पाया जायगा तो उस अपराध के समय जिस व्यक्ति पर कम्पनी का कार्यभार रहा हो या जो कम्पनी के कार्य के लिए कम्पनी के प्रति उत्तरदायी रहा हो तथा कम्पनी को दोषी माना जायगा । यदि यह पाया जायगा कि कम्पनी के निदेशक, व्यवस्थापक, सचिव या अन्य अधिकारी की जानकारी में या उनके सहयोग से इस अधिनियम के अन्तर्गत अपराध हुआ, तो उनके विरूद्ध कार्रवाई की जायगी और उन्हें दंडित किया जायगा ।

(२६) इस अधिनियम की व्यवस्थाएँ, प्राचीन स्मारक संरक्षण अधिनियम, १९०४ या प्राचीन स्मारक तथा पुरास्थल और पुरावशेष अधिनियम, १९५८ की व्यवस्थाओं या किसी भी अन्य सक्रिय नियम के अतिरिक्त मानी जायेंगी ।

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

(२७) इस अधिनियम की व्यवस्थाओं के कार्यान्वयन हेतु केन्द्र सरकार अधिकारी राजपत्र में अधिसूचना जारी कर नियम बनायगी।

(२८) इस अधिनियम की धारा ३२ के द्वारा पुरावशेष (निर्यात नियंत्रण) अधिनियम, १९४७ को समाप्त कर दिया गया।

पुरावशेष तथा बहुमूल्य कलाकृति नियम, १९७३।

इस अधिनियम की धारा ३१ के अन्तर्गत प्रदत्त अधिकारों का उपयोग करते हुए केन्द्र सरकार ने पुरावशेष तथा बहुमूल्य कलाकृति नियम, १९७३ शीर्षक के अन्तर्गत कुछ नियम बनाये जिनकी मुख्य बातें निम्न हैं—

१. भारतीय पुरातत्त्व सर्वेक्षण के महानिदेशक किसी पुरावशेष या बहुमूल्य कलाकृति के निर्यात हेतु धारा ३ के अधीन परमिट देने के लिए सक्षम अधिकारी होंगे। इस नियम के प्रयोजनों के लिए भारतीय पुरातत्त्व सर्वेक्षण का महानिदेशक तथा इसके अन्तर्गत अन्य कोई अधिकारी आता है जो भारतीय पुरातत्त्व सर्वेक्षण के निदेशक से निम्न पंक्ति (पद) का न हो।

२. पुरावशेष विक्रय-व्यसाय हेतु अनुज्ञप्ति (Licencc) प्राप्त करने के लिए निर्दिष्ट प्ररूप में आवेदन करना होगा और इसके साथ एक सौ रुपये का चालान संलग्न करना पड़ेगा।

३. अनुदत्त अनुज्ञप्ति अनुज्ञापन अधिकारी द्वारा अनुज्ञप्ति में विनिर्दिष्ट तिथि से तीन वर्ष की अवधि तक मान्य होगी।

अनुज्ञप्ति निम्न शर्तों पर प्रदान की जायगी :—

(क) अनुज्ञप्ति अन्तरणीय (Transferable) नहीं होगी। परन्तु यदि अनुज्ञप्तिधारी अपना व्यसाय अन्य व्यक्ति को अन्तरित करेगा, तो निर्दिष्ट प्ररूप (प्ररूप-I) में आवेदन करने पर, जिसे वह अपना कारोबार अन्तरित करेगा उसे, अनुज्ञापन अधिकारी द्वारा अनुज्ञप्ति की अनवसित अवधि के लिए बिना अनुज्ञप्ति शुल्क के नई अनुज्ञप्ति प्रदान की जायगी।

जब किसी अनुज्ञप्तिधारी की मृत्यु हो जाय तो जिस व्यक्ति को मृतक अनुज्ञप्तिधारी ने अपना व्यवसाय अन्तरित किया हो उसके द्वारा निर्दिष्ट प्ररूप (प्ररूप-I) में आवेदन करने पर उसे अनुज्ञप्ति की अनवसित अवधि के लिए निःशुल्क अनुज्ञप्ति प्रदान की जायगी।

(ख) जब अनुज्ञप्तिधारी अनुज्ञप्ति के अन्दर आने वाले व्यवसाय में भागीदारी में प्रवेश करेगा तो वह भागीदारी में प्रवेश करने के तीन दिनों के भीतर

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

अनुज्ञापन अधिकारी को सूचित कर अपनी अनुज्ञप्ति में यथोचित संशोधन करायगा और तदनन्तर वह तथा उसका भागीदार अनुज्ञप्ति की शर्तों के नियमाधीन हो जायेंगे।

(ग) यदि कोई फर्म जिसे अनुज्ञप्ति प्रदान की गई हो विघटित हो जाय, तो उस फर्म के विघटन के पूर्व जो-जो व्यक्ति भागीदार रहे हों, वे विघटन के दस दिनों के अन्दर अनुज्ञापन अधिकारी को रिपोर्ट भेजेंगे।

(घ) यदि कोई अनुज्ञप्तिधारी अपना व्यवसाय एक से अधिक स्थान पर करेगा तो वह प्रत्येक स्थान के लिए पृथक अनुज्ञप्ति प्राप्त करेगा।

(ङ) जब कोई व्यक्ति अपने व्यवसाय का स्थानांतरण अन्य परिसर में करना चाहेगा तो वह अपने इस आशय की सूचना नये परिसर के पते के साथ कम-से-कम १५ दिन पहले अनुज्ञापन अधिकारी को देगा और तदनुसार अपनी अनुज्ञप्ति में यथोचित संशोधन करायगा।

(च) अनुज्ञापन अधिकारी द्वारा अपेक्षित समझे जाने पर उसके फोटोग्राफर को अनुज्ञप्तिधारी अपने कब्जे के पुरावशेषों का छायांकन करने देगा।

(छ) अनुज्ञप्तिधारी अपने परिसर पर अपनुज्ञप्ति को भलिभाँति प्रदर्शित करेगा।

(ज) अनुज्ञप्तिधारी प्ररूप-III में, जिस मास की विवरणी है उसकी समाप्ति के पन्द्रह दिनों के अन्दर, पुरावशेषों के विक्रय तथा अर्जन सम्बन्धी मासिक विवरणी अनुज्ञापन अधिकारी को देगा।

(झ) यदि इस अधिनियम के अन्तर्गत किसी अनुज्ञप्ति को रद्द या निलंबित किया जायगा तो इसके लिए अनुज्ञप्तिधारी किसी प्रकार की क्षतिपूर्ति या जमा किये गये शुल्क की वापसी का हकदार नहीं होगा।

५. अनुज्ञप्तिधारी द्वारा अनुज्ञप्ति नवीकरण हेतु आवेदन किये जाने पर तथा पचास रुपये शुल्क जमा किये जाने पर उसका नवीकरण अनुज्ञप्ति अधिकारी द्वारा उचित समझी गई ऐसी अवधि के लिए होगा जो तीन वर्ष से अधिक न हो।

६. अनुज्ञप्तिधारी को पुरावशेष सम्बन्धी रेकर्ड, फोटोग्राफ तथा रजिस्टर रखने पड़ेंगे—प्रत्येक वर्ग के पुरावशेष के लिए जिसके विक्रयव्यवसाय हेतु वह प्राधिकृत किया गया हो, प्ररूप-IV में पुरावशेष तथा बहुमूल्य कलाकृति के लिए पृथक रजिस्टर रखेगा।

प्रत्येक प्रवर्ग के पुरावशेष का पृथक फोटो अलबम होगा जिसमें पुरावशेष

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

के पोस्टकार्ड के आकार के चित्र लगाने पड़ेंगे और उसपर रजिस्टर के क्रमांक के साथ एक खुला चित्र होगा।

७. जिस व्यक्ति की अनुज्ञप्ति को रद्द कर दिया गया हो उसे अनुज्ञापन अधिकारी के समक्ष निर्दिष्ट प्ररूप में अनुज्ञप्ति रद्द किये जाने के १५ दिनों के अन्दर प्ररूप-V में, तथा रद्द किये जाने की तिथि के ६ महीने के तत्काल पश्चात् प्ररूप-VI में, पुरावशेषों के सम्बन्ध में घोषणा करनी होगी।

८. अनुज्ञापन अधिकारी द्वारा स्वेच्छया या अनुज्ञप्तिधारी द्वारा इस निमित्त आवेदन किये जाने पर अनुज्ञप्ति को परिवर्तित या संशोधित किया जा सकेगा। अनुज्ञप्ति अधिकारी द्वारा स्वेच्छया यह कार्य अनुज्ञप्तिधारी को अपनी बात कहने का उचित अवसर प्रदान किये बिना नहीं किया जायगा।

९. पंजीकरण प्रमाण-पत्र हेतु आवेदक उस पंजीकरण अधिकारी को प्ररूप-VII में आवेदन करेगा जिसके कार्यक्षेत्र में आवेदक का निवास पड़ेगा। प्रत्येक आवेदन के साथ प्रत्येक पुरावशेष के पोस्टकार्ड अथवा बड़े आकार के चार छायांकन रहेंगे।

१०. यदि कोई व्यक्ति पंजीकृत पुरावशेष के स्वामित्व, नियंत्रण या अधिकार का अन्तरण किसी अन्य व्यक्ति को करेगा तो अन्तरण की तिथि से पन्द्रह दिनों के भीतर इसकी सूचना उस पंजीकरण अधिकारी को जिसके कार्यक्षेत्र में वह निवास करता हो तथा उसे (पंजीकरण अधिकारी) जिसके कार्यक्षेत्र में अन्तरिती निवास करता हो दे देगा।

११. यदि कोई व्यक्ति अनुज्ञापन अधिकारी के किसी निर्णय से व्यथित हो तो वह इसके विरुद्ध निर्णय की तिथि के तीस दिनों के अन्दर भारतीय पुरातत्त्व सर्वेक्षण के महानिदेशक के पास अपील करेगा।

●

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

ग्रन्थ-सूची

Agrawal, D. P. and Ghosh, A. *Radio-carbon and Indian Archaeology*, Bombay, *1973*.

Aitken, M. J. *Physics and Archaeology*, New York, 1961.

Altekar, A. S. *Kumrahar Excavations* (1951-55), Patna, 1959.

Atkinson, R. J. C. *Field Archaeology*, London, 1961.

Bridget and Raymond Allchin *The Birth of Indian Civilisation*, Pelican, 1968.

Brion, M. *The World of Archaeology*, 2 Vols. New York, 1961.

Brothwell, D. R. and Higgs, S. E. ed. *Science in Archaeology*, London, 1964

Butzer, K. W. *Environment aud Archaeology*. London, 1964.

Ceram, C. W. *A Picture History of Archaeology*, London, 1959.

Childe, V. G. *Piecing Together the Past*, London, 1956.

Clark, J. G. D. *Archaeology and Society*. London. 1660.

Cornwall, I. W. *Bones for the Archaeologist*, London, 1956

Soils for the Archaeologist, London, 1958.

Crawford, O. G. S. *Archaeology in the Field* London, 1960.

Daniel, G. E. *A Hundred Years of Archaeology*. London. 1952.

Hole, F. and Heizer, Robert, F. *An Introduction to Prehistoric Archaeolagy*, New York, 1965.

Heizer, Robert F. *The Application of Quantitative* and Cook, S. F., ed., *Methods in Archaeologoy*, Chicago, 1960.

Kenyon, K. *Beginning in Archeeology*, *New York*, 1961.

Laet, S. J. De. *Archaeology and its Problems*, London, 1957.

Lal, B. B. *Indian Archaeology Since Independence*, Delhi, 1964.

Lloyd, S. *Foundations in the Dust*, Pelican, 1955.

Marshall, Sir J. *Taxila*, Reprint, Varanasi, 1975.

Misra, V. N. & Mate, M. S., ed., *Indian Prehistory*. Poona, 1964.

Piggot, S. *Approach to Archaeology*, Pelican, 1966.

Pyddoke, E., ed., *The Scientist and Archaeology*, London, 1963.

" *Stratification for the Archaeologist*, 1961.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

Sankalia, H. D. *Prehistory and Protohistory in India and Pakistan* Poona, 1974.

" *Stone Age Tools*, Poona, 1964.
" *Indian Archaeology Today*, Bombay. 1963.
" *Prehistory of India*, Delhi, 1977

Sankalia, H. D. and Others *Excavations at Ahar* (1961-62) Poona, 1964.

वर्मा, राधाकान्त, भारतीय प्रागितिहास, वाराणसी, १९७०.

Wheeler, Sir Mortimer *Archaeology from* the *Earth*, Pelican. 1966.

Woolley, Sir L. *Digging up the Past*, Pelican, 1954.

Sen, D. and Ghosh, A. K., ed., *Studies in Prehistory*. Robert Bruce Foote Memorial Volume.

Zeuner, F. E. *Dating the Past*, London, 1958.

Ancient India (Bulletin of the Archaeological Survey of India)

Indian Archaeology—A Review (Bulletin of the Archaeological Survey of India)

Cultural Forum No. 4 (Archaeological Number), December 1961, New Delhi.

Puratattva, (Bulletin of the Indian Archaeological Society.

Patna University Joural, Vol, 23, No. 3., Sinha, B. P. and Verma, B. S. *Preliminary Report on Chirand Excavation, 1969.*

Science Today, Vol. No. 6, Sankalia H. D, *Early Man in Ice Age Kashmir.*

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

संक्षिप्त पुरातात्त्विक शब्द-संग्रह

अंग्रेजी-हिन्दी

Abbevillian अबेविलियन ।
Absolute Date निरपेक्ष-तिथि ।
Acheulean अशूलियन ।
Adze तक्षणी
Aeolin वायु-संचित मिट्टी ।
Aerial Photography आकाशीय छायांकन ।
Agate अगेट ।
Alternate Flaking एकान्तर फलकीकरण ।
Anthropology नृतत्त्व-शास्त्र, नृतत्त्व-विज्ञान ।
Antiquity पुरावशेष
Archaeologist पुरातत्त्वज्ञ, पुराविद्
Archaeomagnetism पुराचुम्बकत्व
Arrow-head बाणाग्र ।
Axis अक्षरेखा ।
Battle Axe फरसा, परशु ।
Baulk, Balk मेढ़ ।
Bead मनका ।
Bifacial उभय पक्षीय ।
Bilateral Flat base tool द्विपार्श्वीय समतल उपकरण ।
Biological जैविक ।
Biology जीव-विज्ञान ।
Black-and-Red Ware कृष्ण-लोहित मृद्भांड ।
Black-on-Red Ware कृष्ण-रंजित मृद्भांड ।
Blade ब्लेड, छुरी ।
Blunted भुथड़ा ।
Borer छिद्रक ।
Boulder clay गोलाश्म मृत्तिका ।
Bowl कटोरा, प्याला ।
Bracket कोष्ठक ।
Burial शवाधान-स्थल, समाधि, कब्र ।
Burial Chamber शव-कक्ष, शवाधान-कक्ष ।
Burnisher तेजक ।
Fractional Burial अवशेष शवाधान ।
Burial ground श्मशान ।
Burial jar शवाधान कलश ।
Burial mound शवाधान टीला, समाधि-स्तूप ।
Burial urn शव-पात्र, शवाधान-पात्र ।
Burin उत्कीर्णक,
Burnisher तेजक
Butt-end समन्त ।
Cambrian त्रिखण्ड ।
Carnelian कार्नेलियन ।
Cairn कैर्न ।
Cairn circle प्रस्तर-संग्रह वृत्त ।
Carinate नौतलीय ।
Celt सेल्ट, कुल्हाड़ी ।
Chalcedony कैलसिडोनी,
Chalcolithic Culture ताम्राश्म संस्कृति ।

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

Chert चर्ट ।
Chemistry रसायनशास्त्र
Chemical रासायनिक ।
Chisel छेनी ।
Cist शव-कोष्ठ, शव-पेटिका ।
Clay चिकनी मिट्टी ।
Cleaver क्लीवर ।
Climatology जलवायु विज्ञान ।
Coarse grained रूक्षकण ।
Composite Tool मिश्रित उपकरण ।
Concave अवतल, अवनतोदर ।
Cone-Percussion आघात-शंकु ।
Conservation संरक्षण ।
Controlled Flaking नियंत्रित फलकीकरण ।
Control Pit नियंत्रण खात
Convex उत्तल, उन्नतोदर ।
Copper Hoard ताम्रायुध भांडार,
Core कोर ।
Criss-cross Pattern/design आड़ा-तिरछा नमूना ।
Cross Section आड़ी काट, आड़ा सेक्शन ।
Curve वक्र, वक्रता ।
Dendrochronology वृक्षवलय तिथि-क्रम ।
Dolmen डोल्मेन ।
Deposit संचय ।
Dish-on-stand सस्तम्भ थाली, साधार थाली ।
Early Stone Age पूर्वाश्म काल ।
Ecology पारिस्थितिकी विज्ञान ।
End Elake अन्तफलक ।
End Scraper अन्तस्थ स्क्रेपर ।
Eocene आद्य नूतन ।
Eolith इओलिथ ।
Erosion क्षरण कटाव ।
Excavation उत्खनन, खुदाई
Flake फलक ।
Flaking फलकीकरण ।
Flake Scar फलक-चिह्न ।
Flake Surface. फलक-पक्ष ।
Flat सपाट ।
Flint फ्लिन्ट ।
Fluorine Test फ्लोरिन-परीक्षण ।
Fluted धारीदार ।
Fossil जीवाश्म ।
Fossil evidence जीवाश्म-प्रमाण/साक्ष्य ।
Fossilised अश्मीभूत ।
Free Flaking निर्बाध फलकीकरण ।
Geological Age भूतात्त्विक कल्प ।
Geologist भूतत्त्वज्ञ, भूगर्भशास्त्री, भूवैज्ञानिक ।
Geology भूतत्त्व-विज्ञान, भूगर्भशास्त्र, भूविज्ञान ।

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

Ghost Wall भूत दीवार ।

Glaciation हिमावर्तन, हिमाच्छादन ।

Glacier हिमनदी ।

Globular beaker गोल चषक ।

Goblet चषक, जामपान ।

Granite ग्रेनाइट ।

Gravel कंकड़, ग्रेवल ।

Hand Axe हस्त परशु ।

Handle मूठ ।

Holocene सर्वनूतन काल ।

Humidity आर्द्रता ।

Ice Age हिमयुग ।

Igneous Rock आग्नेय चट्टान ।

Indirect Percussion अप्रत्यक्ष संघात ।

In Situ यथावत् यथास्थान ।

Interglacial अंतर्हिमयुग ।

Inter glaciation हिम-प्रत्यावर्तन ।

Jasper जैस्पर ।

Levalloisian लेवालाजीय ।

Loam दुमट ।

Loess वायु-संचित रज ।

Longitudinal Measurement अनुदैर्घ्य माप ।

Longitudinal Section अनुलम्ब काट/सेक्शन ।

Lunate अर्धचांद्रिक, चंद्रायुध

Late Stone Age उत्तर-अश्मकाल/युग ।

Magma मैग्मा, द्रव-शैल ।

Mammoth मैमथ ।

Meander विसर्पण, प्रवाह-मोड़ ।

Mindel मिन्डेल ।

Miocene अल्प नूतन काल ।

Moraine मोरेन, हिमनदी उच्चयन ।

Mousterian मुस्तेरीय

Megalith महाश्म ।

Megalithic Burial महाश्म समाधि ।

Menhir मेनहिर, दीर्घाश्म स्तम्भ ।

Mesolithic मध्य अश्मकाल/युग ।

Metamorphic rock परिवर्तित/कायान्तरित चट्टान ।

Microlith क्षुद्राश्म ।

Middle Stone Age मध्य अश्म काल/युग ।

Natural soil प्राकृतिक भूमि ।

Neolithic Age नवाश्म युग/काल ।

Non-Geometric Microliths अज्यामितीय क्षुद्राश्म ।

Northern Black Polished Ware उत्तरी कृष्ण-मार्जित मृद्भांड ।

Oblique तिर्यक्, तिरछा ।

Obsidian आग्नेय कांच, ऑब्सिडियन ।

Ochre Coloured Pottery गेरू-मृद्भांड

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

Organic Sediment जैव अवसाद ।
Paired युग्मित ।
Palaeocene पुरानूतन ।
Palaeolithic Age पुराश्म काल/युग ।
Palaeontology जीवाश्म-विज्ञान ।
Palynology पराग-विज्ञान ।
Patination पैटिनेशन ।
Peat पीट ।
Post-hole स्तम्भ-गर्त ।
Potassium Argon Method पोटाशियम आरगन प्रणाली ।
Pottery मृद्भांड, मृत्पात्र, मिट्टी के वर्तन ।
Prehistory प्रागितिहास ।
Protohistory आदीतिहास ।
Punch-marked Coins आहत सिक्के ।
Pebble पेबुल ।
Pleistocene प्रातिनूतन ।
Pluvial अतिवृष्टि-काल ।
Point अस्त्राग्र, नोक ।
Polished Stone Axe मार्जित अश्म-परशु ।
Pollen Analysis परांग-विश्लेषण ।
Post Cremation Burial दाहोत्तर शवाधान ।
Quartzite स्फटिकाश्म ।
Quaternary Era चतुर्थक कल्प ।
Quadrant Method वृत्तपाद विधि ।
Quartz स्फटिक ।
Recessional Moraine अपसर्पण
Record ng लेखा-जोखा, रेकर्ड-निर्माण
Ring base वलयाधार ।
Ring Well मंडल-कूप ।
River Terrace नदी वेदिका ।
Rock Shelter शैलाश्रय ।
Rouletted Ware चक्रांकित मृद्भांड ।
Russut-coated Painted Ware धूसर-लेपित चित्रित मृद्भांड ।
Sand dune रेत का टीला ।
Sand-stone बालुकाश्म ।
Scraper स्क्रेपर, क्षुरणक, खुरक ।
Secondary द्वतीय फलकी-करण ।
Stratigraphy स्तरक्रम विद्या ।
Structure निर्माण ।
Section सेक्शन, काट ।
Sediment अवसाद ।
Side Flake पार्श्व फलक ।
Side Scraper पार्श्व स्क्रेपर ।
Silt सिल्ट ।
Site स्थल, स्थान ।
Slip लेप ।
Soak-pit शोष-गर्त ।
Spindle Whorl तकुआ-चक्री

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

Stone Axe अश्म-परशु।

Stratification स्तर-विन्यास, स्तरीकरण।

Terminal Moraine अन्तिम मोरेन।

Terrace वेदिका।

Tertiary period तृतीयक काल।

Texture संरचना।

Thermoluminiscence ऊष्मिक दीप्ति।

Three Dimensional Recording। त्रिदिशात्मक रेकर्ड-निर्माण/लेखा-जोखा।

Tree-ring Analysis वृक्ष-वलय विश्लेषण।

Trench खात।

Trial Trench परीक्षण खात।

Turn Table घूम चक्कर।

Typology प्रकार-विज्ञान।

Unifacial एकपक्षीय।

Upper Palaeolithic Age उत्तर पुराश्म काल/युग

Varve अनुवर्षस्तरी।

Vertical Excavation लम्बवत् उत्खनन

Vertical Section उर्ध्व काट

Zoology प्राणि-विज्ञान।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

हिन्दी—अंग्रेजी

अक्षरेखा—Axis.

अगेट— Agate.

अज्यामीतीय शुद्राश्म—Non-Geometric Microliths.

अतिवृष्टि काल—Pluvial period.

अन्तफलक—End flake.

अंतर्हिमयुग—Interglacial.

अन्त स्क्रेपर—End Scraper.

अन्तिम मोरेन—End/Terminal moraine.

अनुदैर्घ्य माप—Longitudinal Measurement.

अनुलम्ब काट—Vertical Section.

अनुवर्षस्तरी—Varve.

अपसर्पण मोरेन—Recessional Moraine.

अप्रत्यक्ष संघात—Indirect Percussion.

अबेविलियन—Abbevillian.

अर्धचांद्रिक, चंद्रायुध—Lunate.

अल्पनूतन काल—Miocene.

अवतल, अवनतोदर—Concave.

अवशेष शवाधान—Fractional Burial

अवसाद—Sediment

अशुलियन—Acheulean.

अश्म परशु—Hand Axe.

अश्मीभूत—Fossilised.

अस्त्राग्र, नोक—Point.

आकाशीय छायांकन—Aerial Photography.

आग्नेय कांच—obsidian.

आग्नेय चट्टान—Igneus rock.

आघात शंकु—Cone percussion.

आदिनूतन कल्प—Oligocene.

आदीतिहास—Protohistory.

आदि अश्मयुग—Early Stone Age.

आद्यनूतन—Eocene.

आर्द्रता—Humidity.

आड़ा-तिरछा नमूना—Criss-cross pattern/design.

आड़ा सेक्शन, आड़ी काट—Cross Section.

आहत सिक्के—Punch-marked coins.

इओलिथ—Eolith.

उत्कीर्णक—Burin.

उत्खनन, खुदाई—Excavation.

उत्तर अश्मकाल/युग—Late Stone Age.

उत्तर पुराश्म काल/युग—Upper Palaeolithic Age.

उत्तरी कृष्ण-मार्जित मृदभांड—Northern Black Polished Ware.

उत्तल, उन्नतोदर—Convex.

उभय पक्षीय—Bifacial.

उर्ध्व काट—Vertical Section.

ऊष्मिक-दीप्ति—Thermoluminiscence.

एक पक्षीय—Unifacial.

एकान्तर फलकीकरण—Alternate flaking.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

कटोरा, प्याला—Bowl.
कार्नेलियन—Carnelian.
कुल्हाड़ी—Axe, celt.
कृष्ण-रंजित मृद्भांड—Black-on-Red Ware.
कृष्ण-लोहित मृद्भांड—Black-and-Red Ware.
कैर्न—Cairn.
कैलसिडोनी—Chalcedony.
कोर—Core.
कोष्ठक—Bracket.
क्षरण, कटाव—Erosion.
खात—Trench.
गेरु मृद्भांड—Ochre Coloured Pottery.
गोल चषक—Globular beaker.
गोलाश्म मृत्तिका—Boulder clay.
ग्रेनाइट—Granite.
ग्रेवल, कंकड़—Gravel.
घूम चक्कर—Turn-table.
चक्रांकित मृद्भांड—Rouletted Ware.
चतुर्थक काल—Quaternary Period.
चर्ट—Chert.
चषक, जामपान—Goblet.
चिकनी मिट्टी—Clay.
चित्रित धूसर मृद्भांड—Painted Grey Ware.
चोर खात—Robber's trench.
छिद्रक—Borer.
छेनी—Chisel
जीव-विज्ञान—Biology.
जीवाश्म—Fossil.
जीवाश्म प्रमाण/साक्ष्य—Fossil Evidence.
जीवाश्म विज्ञान— Palaeontology.
जैव अवसाद—Organic Sediment.
जैविक—Biological.
जैस्पर—Jasper.
डोल्मेन—Dolmen.
तकुआ-चक्री—Spindle Whorl.
तक्षणी—Adze.
ताम्रायुध भांडार—Copper Hoard.
ताम्राश्म संस्कृति—Chalcolithic Culture.
तिर्यक, तिरछा—Oblique.
तृतीयक Tertiary.
तेजक—Burnisher
त्रिखण्ड—Cambrian.
त्रिदिशात्मक रेकर्ड-निर्माण, लेखा-लेखा—Three Dimensional Recording.
दाहोत्तर शवाधान—Post Cremation Burial.
दुमट—Loam.
दीर्घाश्म स्तम्भ, मेनहिर—Menhir.
द्रवशैल/मैग्मा—Magma.
द्वितीय फलकीकरण—Secondary Flaking.
धारीदार—Fluted.
धूसर मृद्भांड—Grey Ware.
धूसर लेपित चित्रित मृद्भांड—Russet Coated Painted Ware.
नदी वेदिका—River Terrace.
नवाश्म युग/काल—Neolithic Age.
नियंत्रण खात—Control Pit.
नियंत्रित फलकीकरण—Controlled Flaking.
निरपेक्ष तिथि—Absolute Date.

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

निर्बाध फलकीकरण—Free Flaking.
निर्माण—Structure.
नृतत्त्व-शास्त्र/विज्ञान—Anthropology.
नौतलीय—Carinate.
पराग-विश्लेषण—Pollen Analysis.
पराग-विज्ञान—Palynology.
परिवर्तित/कायान्तरित चट्टान—Metamorphic rock.
परीक्षण खात—Trial Trench.
पारिस्थितिकी विज्ञान—Ecology.
पार्श्व फलक—Side Flake.
पार्श्व स्क्रेपर—Side Scraper.
पीट—Peat.
पुराचुम्बकत्व—Archaeomagnetism.
पुरातत्त्वज्ञ, पुराविद्—Archaeologist.
पुरानूतन—Palaeocene.
पुरावशेष—Antiquity.
पुराश्म काल/युग—Palaeolithic Age.
पूर्वाश्म काल—Early Stone Age.
पूर्वपुराश्म काल—Early Palaeolithic.
पेबुल—Pebble.
पैटिनेशन—Patination.
पोटाशियम आर्गन प्रणाली—Potassium Argon Method.
प्रकार विज्ञान—Typology.
प्रस्तर संग्रह वृत्त—Cairn Circle.
प्राकृतिक भूमि—Natural Soil, Vergin Soil.
प्रागितिहास—Pre-history.
प्राणि विज्ञान—Zoology.
प्रातिनूतन—Pleistocene.
फरसा/परशु—Battle Axe.
फलक—Flake.
फलकचिन्ह—Flake Scar.
फलक पक्ष—Flake Surface.
फलकीकरण—Flaking.
फ्लिंट—Flint.
फ्लोरिन-परीक्षण—Fluorine Test.
बाणाग्र—Arrow-head.
बालुकाश्म—Sand-stone.
ब्लेड—Blade.
भुथड़ा—Blunted.
भूतत्त्व विज्ञान, भूगर्भशास्त्र—Geology.
भूतत्त्वज्ञ, भूगर्भशास्त्री,—Geologist.
भूतात्त्विक कल्प—Geological Age.
भूत दीवार—Ghost Wall.
मध्याश्म काल/युग—Middle Stone Age.
मनका—Bead.
महाश्म—Megalith.
महाश्म समाधि—Megalithic Burial.
मार्जित अश्म-परशु—Polished Stone Axe.
मिन्डेल—Mindel.
मिश्रित उपकरण—Composite Tool.
मुस्टेरियन—Mousterian.
मूठ—Handle.
मृद्भांड, मृत्पात्र—Pottery.
मैमथ—Mammoth.
मंडल-कूप—Ring-well.
यथावत्, यथास्थान—In Situ.
युग्मित—Paired.
रसायन शास्त्र—Chemistry.
रासायनिक—Chemical.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

रूक्षकण—Coarse-grained.
रेत का टीला—Sand-dune.
लेखा-जोखा—Recording.
लेप—Slip.
लेवालाजीय—Levalloisian
लंबवत् उत्खनन—Vertical Excavation.
वक्र, वक्रता—Curve.
वलयाधार—Ring base.
वायु-संचित मिट्टी—Aeolin.
वायु-संचित रज—Loess.
विसर्जन, प्रवाह-मोड़—Meander.
वृक्ष-वलय तिथिक्रम—Dendrochronology.
वृक्ष-वलय विश्लेषण—Tree-ring Analysis.
वृत्तपाद विधि—Quadrant Method.
शवकक्ष, शवाधान कक्ष—Burial Chamber.
शवकोष्ठ; शवपेटिका—Cist.
शव-पात्र—Burial urn.
शवाधान-स्थल, समाधि, कब्र—Burial.
शवाधान कलश—Burial Jar.
शवाधान टीला, समाधिस्तूप—Burial mound.
शैलाश्रय—Rock Shelter.
शोषगर्त—Soak-pit.
श्मशान—Burial ground.
सपाट—Flat.
सपाद शवपेटिका—Sarcophagus.
समन्त—Butt End.
समोच्च—Contour.
सर्वनूतन काल—Holocene.
सस्तम्भ थाली, साधार थाली—Dish-on-Stand.
सिल्ट—Silt.
संचय—Deposit.
संरचना—Texture.
संरक्षण—Conservation.
स्क्रेपर, क्षुरणक, खुरक—Scraper.
स्तम्भ-गर्त—Post-hole.
स्तर—Layer, Stratum.
स्तरक्रम विद्या—Stratigraphy.
स्तर-विन्यास, स्तरीकरण—Stratification.
स्थल, स्थान—Site.
स्फटिक—Quartz.
स्फटिकाश्म—Quartzite.
हस्त-परशु—Hand Axe.
हिमनदी—Glacier.
हिमनदी उच्चयन, मोरेन—Moraine.
हिमयुग—Ice Age.
हिमाच्छादन, हिमावर्तन—Glaciation.
हिम प्रत्यावर्तन Inter glaciation.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

अनुक्रमणी

अखिमिनियन कला १४६
अतरंजिखेड़ा ५०, ५२-५३, १५६-५७
अतिरंपकं ४२, ४५
अद्भुत वस्तु १६
अंतर्हिमयुग ४२, १२४, १२६
अन्तिचक ४, ५९
अन्तियोकस १४७
अंधकार युग ३६, ५०
अनाऊ १७१
अनुवर्षस्तरी १२५-२७
अवेविल, अवेविलियन ९, ३१, १३९
अम्बखेड़ी ५०, १५६
अमरावती ५४; ५७
अमेरिका १८, ६८, १२९, १३४
अरस्तू १३—१४
अर्न्स्ट कर्टियस २४
अर्ल आरुंडेल १६
अरब प्रायद्वीप ४२
अरिकामेडु ४, ३८-३९, ८७, १८६-८९
अरेटाइन मृद्भांड १८६-८७
अल्जीरिया ६५
अल्तेकर, अ० स० १८०
अलेक्जेंडर कनिंघम ३३-३४
अवेबरी १६
अश्म काल/युग १, ९, २०, ४०-४८, ११९
——, पुराश्म २२, ३७, ६१, १२३-२४
———, पूर्वाश्म ४०, ४२-४३, ४५
———, मध्याश्म ४०, ४२, ४४, ४५
———, उत्तर-अश्म ४०, ४६
———, नवाश्म ३, २२, ३७, ४०, ४७-४८, ५८-५९, ६६, ८१, ८३, १००, १०९, ११५-१६; १७२-७४, १८३
अश्म-उपकरण १०, ३६; ४१-४६, ६३; १७३
—— संस्कृति २८
अश्म-परशु ४५, ५७, १८३
अशूलियन ९, ४२, ४४
अशोक ३२, १५३, १७९, १८१
असीरिया ६५
असुर बनीपाल २२
अहिच्छत्र ५०, ५३, ७६, १५६
ऑक्सफोर्ड ३०
आकाशीय छायांकन ६५-६६
आदमगढ़ ४४-४६
आन्ध्र प्रदेश ४२, ४५, ४७, ५७
आन्ध्र संस्कृति ८१-८२, १८३, १८६
आयोनिया १७
आर्टिफैक्ट २, ४
ऑरेंजो १३४
ऑरेल स्टाइन ३६
आरोग्य विहार १८१
आल्प्स ६२

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

आलमगीरपुर ५३-५४, १५७
आसाम ४७
आहड़ (या अहाड़) ५५-५६
इंगलैंड १०, १५, १७-१९, २१-२२, ६५, ६७,
इजरायल ३, ६
इटली ३, ६, १४-१५, १८६-८७
इंडियन स्कूल आॅफ आर्क्योलाॅजी ६०
इंडोनेशिया १३४
इनामगाँव ५६-५८
इप्सविचियन १३९
इलाहाबाद १०५
इलियट ३३
इवान्स, सर आर्थर ३, ३०-३१
इवान्स, सर जाॅन १०-११
इसिला १८२
इसेक्स ६१
ईजियन सागर १६
ईरान ६, १९ ३६, ८७, १४३, १६८-६९
उज्जैनी (उज्जैन) ४, ५३-५४, ५६, ५९ ७६, ९९
उटनूर ४७-४८, १७२, १८३
उड़िसा ४३, ४७, ५८
उत्खनन २-४, १६, २१
——, ग्रिड प्रणाली ६९-७३, ९८, १०२-३
——, नगरों का ९८-१०३
——, प्रागैतिहासिक स्थलों का ११०-१३
——, बैरो का १०६-९
——, भवनों का ९०-९८
——, महाश्मों का २३, १०३-८
——, लम्बवत्, क्षैतिज ७६-७७, १००
——, वृत्तपाद विधि १०४, १०७-९
——, वैज्ञानिक विधियाँ २२-३१, ६९-८९
——, शवाधान-भूमि का १०३-९
उत्तर प्रदेश ३३, ४२, ४५, ४७, ५८
उत्तर सागर ६२
उदयन, वत्सराज ५९
उदयपुर ५५
उर ३, १०३
ऊष्मिकदीप्ति ५१, १३५, १५६
ऋषभदेव १४३
एकरूपता सिद्धांत ९, १९-२०
एजेस १५१
एटकिन, एम० जे० १३१
एट्रुस्का, एट्रुस्काई स्थल ६५, ६७, १३६
——मकबरे ६७
एडवर्ड ल्वीड १५-१६
एथेन्स ६
एर्टबोल ११६
एरण (जि० सागर) ५६
एलन, मेजर ६६
एलिफैंटा ३२
एलौरा ३२
एशिया ११, ४५, १०५
एशिया माइनर ११७
एशियाटिक सोसाइटी आॅफ बंगाल ३२
ऐश्मोलियन संग्रहालय १६
ओब्सिडियन जलस्तर माप १३८-३९
ओरलाॅफ ६५
ओरियप ५८
ओरेगाॅन १३४

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

ओल्डूवाई घाटी ११, ४१, १३५
ओल्डोवान मानव ४१
ओलिम्पिया २४
कच्छ ४८
कन्हेरी ३२
कनिंघम ३३-३४, १५०
कयथा ५४, ५६
कर्टियस २२
कर्नाटक ४४, ४७, ५७
कलकत्ता ३२, वि० वि० ३८
कलियुग १३
कश्मीर, कश्मीर घाटी ११, ३६, ४१, ४७
कांगड़ा ४०
कान नदी ४५
का० प्र० जा० शोध-संस्था १७६
कार्बन-१४ (C^{14}) ३१, ४३, ४५-४८, ५३-५८, १२१, १२६-३५, १४०, १५७, १६७, १८४
कार्षापण १५८,
कालवां १५३
कालीबंगां (बंगन) ४, ४८-४९, ५५-५६ १५९-६६
कालेगांव ४४-४५
काष्ठ निर्माण ९६-९७
कांस्य युग १३, ८१
कीलर ६५
कुचाई ५८, १७३
कुडप्पा ४२
कुणाल स्तूप १५३
कुम्रहार ५९, ८५, ९६, १७६-८१
कुर्नुल ३७, ४२, ४५
कुषाण, कुषाण-काल ८३, १४३. १४८, १५३, १५८, १७१, १७६, १८०-८१
कृष्णा घाटी ४५; ५७
केंट १०
केनेडी, G. C. १३५
कैथलिन केनियन ९६
कैंब्रिज ३६, हिस्ट्री ऑफ इन्डिया ३६
कैर्न १०५-६
कैलिफोर्निया १२९
कैसन S. २५
कोंजे, A. २२
कोदेकल ४७
कोपेनहेगेन २०
कोर्तलयर नदी ४५
कोलडीहवा ४७
कोलब्रुक ३२
कोलंबिया १२९
कौरव-पांडव १५७
कौशाम्बी ५९, ७६, ९९, १५७, १५९, १७७
क्रॉफोर्ड, O. G. S. १, २५, ६५
क्रिस्टोल १०
क्रीट ३, ३१, ३४, १६९, १७३
क्लेक्टोनियन १४०
क्षुद्राश्म ४२, ४६, ६४, ८२-८३, १७५, १८३-८४
खगोलिय तिथि-विधि १३९-४०
खरोष्ठी (लिपि) ३२
खानदेश ५७

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

गॅटिंजन ३०
गंगा, गंगाघाटी ४३, ४७, ५१, ५८, १५४, १६६, १७१, १७३
गंगा-यमुना दोआब ५१
गंगा नगर १५६
गंधेश्वरी घाटी ४३
गाइगर (मशीन) १३१
गांधारकला १५१
गाव्रा ८७
गांगेयदेव, कलचुरी सम्राट ८३, १७६
गार्गीसंहिता १८०
गियान ८७
गिलुंड ५५, १६७
गुजरात ४७, ४१, ४५, ५२
—— शोध-संस्था ३७-६८
गुडियम, शैलाश्रय ४२,४५
गुप्तकाल, ११६, १७७, १७९-८१, लिपि १७७
गुलेर ४०
गोदावरी घाटी ४४-४५,५७
गोरखपुर ३२
ग्राहम क्लार्क ९७
गेज़र ८०
घग्गर घाटी, नदी४०, ४८, १५९, १६६
घाघरा, नदी १७१
घोषिताराम ५९,
चतुर्थक काल १२३
चतुर्थ बौद्ध संगीति १७९
चंदोली ५६
चन्द्रकेतुगढ़ ५९
चन्द्रगुप्त मौर्य ३२, १४३
—द्वितीय, गुप्त १७७
चन्द्रवल्ली, ३८
चंहुदड़ो ३, ८७
चम्पा, ५९, ९९
चंबल घाटी ४५
चाइल्ड, V.G. २, ८, ११९
चाऊकाऊतीयन मानव ४१
चाणक्य १४३
चालंबरी ६६
चार्ल्स प्रथम १६
चार्ल्स विल्किंसन ३२
चालुक्य ३४
चित्तलदुर्ग, १८१
चिरांद ४७, ५२, ५३, ५८, ८२, ८३, १७१-७६
चीन ६, ४१
चेम्पोलियन २१
चोपनीमंडो ४७
चोर-खात ९५, ९६, १००
छपरा १७१
छोटानागपुर उपत्यका ४३, ४४, ४७, ५१
जगतग्राम ५९
जंनमेजय १४३
जयपुर ३४
जर्मनी ३, १४, १८, २५
जॉन आंब्रे १६,
——ट्रेड्सकांट १६
——नॉर्डन १५
——फ्रिडरिख एस्पर ९
——फ्रेरे ९
——मार्शल, देखिए, मार्शल
——लिलैंड १५
——स्टोव १५

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

जापान १३४
जावा मानव ११
जिम्बाब्वे ६५
जीवक १४३
जुलियस सीजर २३
जुनापाणी ५९
जेठियन वन ४३
जेम्स डाँकिन्स १७
——प्रथम १५, १६
——प्रिंसेप ३२, ३३
——फार्ग्युसन ३३
——बर्गेस ३३, ३४
——स्टुआर्ट १७
——हटन ९, १०
जेरिको ३, ९९
जेरुसलम ३
जोगलथम्बी ६२
जोर्वे संस्कृति ५६—५८
जौगड १७३
टर्की ३४
टर्नल १०
टस्मानिया १३४
टाइग्रिस ६५
टाइलर, सर, E. १२, २८
टाटा संस्थान (T. I. F.R.) ५६, १३६
टॉम्स W. J. २१
टॉम्सेन C. J. ९, २१, २२
टॉमस जेफरसन २३
टॉलेमी १३४
टॉलसटॉफ ६५
टी नरसिपुर ४७, ४८
टेरदल ४७
टेसिटस १३
टोरक्वे १०
ट्यूनिसिया ६९
ट्रॉय ३, १७१
ट्रावनकोर ३४
डायोडोटस १४७
डार्विन ९, ११, २१
डिचली ६५
डिलेटँटी १४. सोसाइटी ऑफ १७. १८
डमा १०
डेक्कन कालेज ३७. १६७
डेटम रेखा ७०. ८४, ८७, ८९ १०९
डेड सी स्क्रॉल १३४
डेनमार्क १८-२०, ११६, १२७
डेनियल G E. १६. २२
डेविडसन C. F. १३८
डहरा ४०
डोर्फ्फेल्ड W. २६, २७
डोर्सेट ८१
डोल्मेन १०५
ड्यक ऑफ बकिंघम १६
ड्रायटी २२
तक्षशिला ३५; ३९; ५४, ७४, ७६, १००, १४३—५३
तंजानिया ४१
तमिलनाडु ४५; ४७, १८७
ताप्ती घाटी ५६
ताम्रयुग १३, २०
ताम्रायुध ५१, ५२
ताम्राश्म ४६, ५३, ८३,
—संस्कृति ५५, ५९, १६७
ताम्रोपकरण ४८

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

तामलुक ५४ ५९
तुर्की १००
तिथि——सापेक्ष ३०, ११९-२७
——निरपेक्ष १२७-३१
तिलवाड़ा ४६
तेक्कलकोटा ४७, ४८
तेल(Tell) १००
त्रिदिशात्मक लेखा-जोखा (रेकर्ड) २७
३९, ८४, ८८, ८९, १०८-९
त्रियुग सिद्धान्त ९, १९-२१
त्रेतायुग १३
थेलियर, M·E· १३६·
थ्योडोर विगैन्ड ६५
दिनाजपुर ३२
दिव्यावदान १५२, १५३
दीक्षित, के. एन. ३७
देशपांडे १२५, १५६
दैमाबाद ५७
दौलतपुर ४०
द्वापर युग १३
धर्मराजिका स्तूप १५२-५३
धलियारा ४०
धार्मिक पुनर्जागरण युग ७, १४
नचिफुकन १३४
नदी वेदिका ४०, ४५ ६५
नर्मदा घाटी ४४-४५,५६
नरसिंहपुर ४४-४५
नवदाटोली ५६-५७
नसीरपुर ५०,१५६
नाइन्वे २२, ८७
नागार्जुनीकोंड ५९
नॉरफक ६१
नालन्दा ३५
नालागढ़ ४०
नासिक ४४
निकोलस रेवेट १७
निचक्षु, १५९
नित्तूर ४४
निमरूद २२
नींव की खाई ९०-९२
नेपोलियन बोनापार्ट १७
नेवासा ४५, ५६, ५८
नोट्र डम द पेरिस ६७
नोपोफ, एल- १३५
नोह ५०, १५६, १५७
न्यन्दरथल मानव ११
न्यूटन, सी. टी. २२, २४
न्येरप, आर० २०
पटना ८५, १७६
पाटलिपुत्र ९६, ९७, ९९, १७७,
पालिबोथ्रा ३२
पंजाब ३३, ३६-३७, ४२, ५१, ५३, ५५
पराग-विश्लेषण १२७
परेरे, De la ६
पल्लव ३४
पाकिस्तान ३९
पांडिचेरी ३८, १८६
पांडुराजार ढिबि ५२, ५८
पाणिनि १४३
पातंजल महाभाष्य १८०
पार्थियन युग ७६
पालकाल ८३, १७६
पिक्लीहल ४७-४८, १७२, १८३.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

पिट-रिवर्स १२, २२, २५, २७-२८, १०६
पिप्रहवा ५९-६०
पियरे पोयडबार्ड ६५
पुराचुम्बकत्व १२१, १३५-३७
पुरावशेष-विश्लेषण ३०
पुराश्म, अश्मकाल देखिये ।
पुरातत्त्व सर्वेक्षण वि० ३३-३८, ६०
पुरुलिया ४४
पुष्कलावती १०२
पूना ३७, ५७, १६७
पूर्णिया ३२
पेकिंग ११
पेट्री, सर फिलंडर्स २२, २६-३०, १२२
पेन्गेलो १०
पैयम्पली ४७, १८४
पैलेस्टाइन २९, ६५
पोटाशियम आरगन १२१, १३४-३५
पाम्पाई ३, २४, १३४
पोरकलं ५६
प्रकार-विज्ञान ३०, १२०, १२१-२२.
प्रकाश ५७
प्रयाग वि० वि० ४३
प्रह्लादपुर ५८
प्रशा ११
प्रातिनूतन ११, ४१-४४, १२४-२५
प्रेस्ट्विच, सर जे० १०-११
प्लेटो १३
फायोरेली, जी० २४
फाल्कोनर १०
फिलस्तीन १७, ८०
फिलिप्स १०९
फुशे १०२
फ्रांस ४, १०, १८-१९, ६५, १२७.
फ्रांसिस बुखानन ३२
फ्रांसीसी-मिश्री संस्था १७-१८
फ्लीट, जे० एफ० ३३.
फ्लोरिन-परीक्षण १२०-२१, १३७-३८
बटजर, K.W. १३२
बड़ौदा ३४, ३७
बंगाल ३३, ४३, ४६, ५२, ५८
बनगंगा ४०
बनावली ४, ४८-४६
बनास घाटी ५५, १६७
बम्बई ३७
बरगांव ५०, १५६
बलुचिस्तान, ३६, १६८
बहरिया ५०
बहादराबाद ५०, १५६
बांकुड़ा ४३
बागोड़ ४६
बानगढ़ ५९
बाराडेज ६५
बारूडीह ४७
बालकन देश ३०
बाला हिषार १०२
बिहार ३२-३६, ४२, ४३,४७, ५३, ५८, १७१, १७६
बिशॉप लिटलटन ६
बिसौली ५०, १५६
बीटा विकिरण १३१
बीरभूम ४४
बीरभानपुर ४६
बुद्ध ४-५ ४९, ५९, ११६, १४३, १५३
बुर्जहोम ४७-४८
बुशे दि पर्थ १०

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

बूलर, G. ३३
बेंच-लेवल ८४
बेथीस्केफ ६८
बेलजियम १०, १८, ६१
बेल्ज़ोनी २१-२२
बेलन घाटी ४२, ४७-४८
बैरन जेरॉड द गीर १२५
बैराट ५४
बैरो १६, १०५-६
बोटा P. E. २२.
ब्रह्मगिरि ४, ३८-३६, ४७-४८, ८१, १७२-७३, १८१-८७.
ब्रह्मणी नदी, ४३
ब्रह्मांड रश्मि १२६-३०
ब्राह्मी लिपि ३२, १७१.
ब्रिटानिया १५-१६
ब्रिटिश द्वीप समूह १५
ब्रिटिश म्युजियम २४
—वायुसेना ६३
ब्रिटेन २६, ६१
ब्रेडफोर्ड ६५
ब्रेडवड, R. H. १३४
Blanchard, J. १३६
बैक्ट्रिया १४७
भगवानलाल इन्द्रजी ३३
भागलपुर ३२
भारत ३, ४, ६, ११, १३, ३२-४१, १०५, १२१, १४३, १८६-८७
भीटा ३५
भीड़ १४४-४७
भीम बाँध ४३
भीम बैठका ४४
भीमा घाटी ५७
भूक्षरण ४३
भूत दीवार ९५-९६, १००
भूतत्त्व विज्ञान ६-११, १२३-२५
भूमध्य सागर ४, १७, ६२, ६८, १८६—८७
मगध ६
मजुमदार, N. G. ३६
मथुरा १५४, १५८
मद्रास ३७, ४५-४६
मध्य एशिया ६५, ६७, १४३
मध्य प्रदेश ३३, ४४, ४६
मयूरभंज ४३
मरिएटी २१-२२, ३०
महगरा ४७
महदहा ४३
महदिया ६८
महमूदशाह १५४
महाकाव्य काल १३
महाभारत ५३, १४३, १५४, १५७
महाश्म २३, ३७,-३८, ५३, ५६, ६४, ७६, ८१-८२, १०३, १८३-८६
महिषदल ५८
महूरझरी ५९
महेश्वर ४५, ५६
मातृदेवी ५७, १४६-४७, १५१
माईकेलिस २५
मार्शल, सर जॉन, ३१, ३४-३६, १००, १४४, १४६-४७, १५०, १५२
मालवा संस्कृति ५६-५७

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

मालाबार १०५
मास्की ४७-४८, ५६
मिडोज टेलर, २३,३३
मिदनापुर ४४
मिनॉन सभ्यता ३१
मिलांकोविच, १३९-४०
मिश्र ३, ५, ६, १७-१८, २१-२२, २९-३०, ३३, ६७, १२०, १३४.
मूंगेर ४३
मृद्भांड, ऊ० कृष्ण-मार्जित ५०, ५२, ५४, ५८-५६, ८३, १५७, १५६, १६७, १७१, १७५, १८४.
—, कृष्ण-लोहित ५०, ५२-५५, ५७-५८, ८२-८३, १६७-६६, १७१, १७५, १८४.
—, गेरु ५०-५१, ५४, १५४, १५६, १५६,
—, चक्रांकित १८६
—, चित्रित धूसर ५०, ५२-५४, १५६-७, १५६
—, मालवा ५७
—, लोहित-लेपित ५५, १६८-७१
—, जोर्वे ५८
मेक्लेनबर्ग २६
मेगास्थनीज १७९
मेंफिस २२
मेरठ १५४
मेलबोर्न वि० वि० १६७
मेसोपोटामिया ३, ५, ६, १३, १८, २२, ३१, ३३, ६५, ८४, ८७
मैकएनरी १०
मैथ्यूपेरिस ९६
मैमथ १०
मैसूर ३४, १८१
मोरेन १२४, १३६
मोरेना पहाड़ ४६
मोहेंजोदड़ो (दारो), ३, ३१, ३६, ८४, ८७, १६१, १६४-६५
मौर्यकाल ३५, ८५, ९६-९७, ११६, १४४, १४६-४७, १७६-७७
यमुना नदी १६६
यवन १४४, १४७—४८,
यॉर्कशायर ९७
युफ्रेटिस ६५
यूनान ६-७, १३-१४,२४,३०,६८,१४३,
यूरोप ६, ११, १५, २२, १००, १०५, ११६, १२५, १३४,
येल वि० वि० ३६
यौधेय १५४, १५८
रक्षा-प्राचीर ३, ५७, ५६, ६६-१००, १०३, १४७, १४६, १५१-५२, १५६-६०, १६१-६५
रंगपुर ३२, ५२, ५५
रत्नगिरि ५९
रसम, H. २२
राँची ४३
राजगीर, राजगृह ५६,६६
राजघाट ५८-५६
राजपुर परसु ५०, १५६
राजस्थान ३३, ४५-४६, ५३, ५५,१५६ १६७, १७०
रॉथर्ली २८
रॉबर्ट ब्लॉट ६, १५
—ब्रुशफुट ३७

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

—वुड १७
रमायण, ४३
रावलपिंडी १४३
राष्ट्रकूट ३४
रिचार्ड कोल्टहोर १९
रूडोल्फ झील ४१
रूपड़ ४८, ५३
रूस ६५
रेडियो मेट्रिक आमापन १३८
रेवेट, निकोलस १७
रैसेन ४४
रोडेशिया ६५, १३४
रोम ४-७, १४, २४, ३८, ६३, ६५, ६८
१८६-८७
रोमांटिक आंदोलन १६
रोशाल्ट १३२
रोसेटा अश्मफलक २१
रोस्टांक वि० वि० २६
लंघनज ४६
लंदन १८, ६३
लायर्ड २२
लार्ड कर्जन ३४
लालकिला ५०
लाल, व्रजवासी ५१, ५३, १५४, १५६
लिच्छवि ५९
लिटन स्ट्रैची १६
लिदर, नदी ४१
लिब्बि, W. F. १२९-३१, १३४
लीकी, L. S. B. ३१
लुंड २१
लुनी घाटी ४५
लेवालीय, लेवालाजीय ४४, ४५, १२५
लौस्कॉक्स १३४
लोटा पहाड़ ४६
लोथल ४, ४८-४९, ५२-५३, ५५, १६१,
१६५
लौह-युग, संस्कृति १३,२०, ५८, ५९,८१
ल्युक्रेटियस १३-१४
ल्येल, चार्ल्स ९-१०, १९
वन्य सांड़ ४४-४५
—हस्ति ४४-४५
वर्जिनिया २३
बान गिप्फेन ९६, १०७
वॉय डॉकिन्स १०
वायुसंचित मिट्टी १२३
वासुदेव (कुषाण) १५८
विकासवाद ९, १०, १९
विकलमन, J. J. १४
विंकेलबरी २८
विद्युत चुम्बकीय निरूपण ६७
विंध्य ४३
विलियम कनिंगटन १५
——कैमडेन १५-१६
——जोन्स ३२
——डुग्डेल १५
——स्टुकेली १८
विलियम्स ६५
विसुवियस पर्वत ३
वुडकट्स २८
वुली, सर ल्योनार्ड ३, ३१, ३७
वृक्षवलय विश्लेषण १२१, १२७-२९
वेडेल सिमोन्सेन ६, २०

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

वेरूलेवियम ९६
वैनगंगा ४५
वैशाली ४,५९
वोर्से २१
व्यास, नदी ४०
शक १४३, १४९-५३
शव-कक्ष, समाधि कक्ष ६७, १०४-७
शव-पात्र ८१
—पेटिका ६७, ९७, १०५-६
शवाधान, शवाधान भूमि/स्थल ४९, ७६, १०४-८, ११८, १६६, १७५, १८४-८५
शार्प ६५
शाहाबाद ३२
शिकागो वि० वि० १२९
शिव मूर्ति १७६
शिवालिक ११, ४३
शिशुपाल गढ़ ५९
शुंग, शुंग काल १७७, १७९-८१
शुंग-कुषाण काल १५८
शैलाश्रय ४०, ४२, ४४, ४६, ७६
श्रावस्ती ५४, ५९
श्लीमन, हेनरी ३, २२, २५-२७
सत्ययुग १३
संकलिया, हं० धी० ३८, ५३
संकनकल्लु ४६-४७
सन्नूर ५९
समुद्रतलीय खोज ६८
सर्वनूतन काल ४३, १३५
सलेम १७३
सवल्दा ५६
साई-पाई ५०, ५२, १५६
सांची ३५
सातवाहन ३४
सारनाथ १०२
सिकन्दर १०२, १४४, १४६
सिंगरौली ४३
सिद्दपुर १८१
सिंध ३६, ५३, ५५
सिंधु नदी, घाटी ४८, १४३, १६६
सिंधुघाटी सभ्यता ३, ४, ३९, ४८
सिनाई ३५
सियाल्क ८७
सिरकप ७६, १००, १४४, १४७-५१
सिरसा ४०
सिरसुख १४४, १५१-५२
सिंहभूम ४७
सीरिया १७, ६५
सुरकोतदा ४, ४८-४९, ५२, ५५, १६१
सुसुनियाँ ४३
सूसा १८७
सेनलिस ६७
सेक्शन ७१, ८१, ८६-८७, ९०-९१, ९३-९७, १०९
सेसोस्ट्रिस III १३४
सैंड्रोकोट्टस ३२
सैमोथ्रेस २४
सोन नदी ४०
सोनगाँव ५५
सोनपुर ५८
सोमनाथ ५४
सोम नदी घाटी १०
सोसाइटी ऑफ एंटिक्विटिज ऑफ लंदन १८

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

सोहन संस्कृति ३९-४२
सौराष्ट्र ५२-५३, ५५, १६७
स्केन्डलवी १०९
स्कैंडिनेविया २०
स्टॉकहोम २१, १२५
स्टोनहेंज १६, २६, ६३
स्टोफेल, कर्नल २३
स्तम्भ-गर्त २८, ११०-१३, १८४
स्तरीकरण, स्तर-विन्यास १०, २२-२३, २६, ७१, ७८-८९, १२२-२३
स्निडोस २४
स्पेन ११५
स्पूनर १७६
स्मलिंग १०
स्याम ६५
स्विट्जरलैंड १८, २२, ६२
स्वीडेन १८-१९
हड़पा, हड़प्पा संस्कृति ३, ३६, ४८-५०, ५४-५६, ८५, ११९, १५४, १५६, १५९-६६
हम्फ्री ल्वीड १५
हरईपुर ५८
हरकुलेनियम ३
हरियाणा ५२
हलूर ४७-४८
हॉलैंड ९७, १२७
हस्त-परशु ६, ४१-४२, ४४-४५
हस्तिनापुर ५०, ५३-५४
हिमनदी १२४, १२६
हिमयुग ४२, १२४-२५, १३९-४०
हिमांचल प्रदेश ४२
हिसार ८७, १६९
हिसारलिक २६
हुयुक १००
हुल्ट्ज ३३
हूण १४३
हेरोडोटस १४
हेसिऑड १३
हैदराबाद २३
हैरो ३०
होमर ३, १३
होयसल ३४
होशंगाबाद ४४-४५
ह्यूएनसांग ३३
ह्वीलर, सर मॉर्टिमर ५१, २२, २३, २७, ३०, ३८, ३९, ७०, ८१, ८४, ८७, ८६, ९६, ९९, १००, १०६, १४४, १८२-८४, १८६-८७

———

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

शुद्धि-पत्र

पृ०	पैरा	पंक्ति	मुद्रित	पढ़ें
२	१	८	कारना	करना
२	१	१९	अंचल	अचल
६	३	५	सफलत	सफलता
९	२	१३	वेडेंल	वेडेल
१०	१	६	आधनिक	आधुनिक
१०	१	२५	प्रागतिहासिक	प्रागैतिहासिक
१६	३	३	यूनायी	यूनानी
१७	२	२	सामारंभ	समारंभ
२३	—	१३	परातत्त्व	पुरातत्त्व
३२	१	१	जन	जून
३२	४	५	पिंसेप	प्रिंसेप
३९	१	१	तुरातत्त्व	पुरातत्त्व
३९	३	२	पुतातत्त्वज्ञ	पुरातत्त्वज्ञ
४३	—	१२	स्यानों	स्थानों
४५	१	९	साक्ष्य	साम्य
४५	२	१५	आश्मकालीन	अश्मकालीन
४६	१	६	बागौढ़	बागौड़
४६	२	१	आजमगढ़	आदमगढ़
५१	२	१	छोटानागतुर	छोटानागपुर
७३	२	३	जय	जाय
७७	१	११	कम	काम
८१	२	१	अक्योंलॉजी	आर्क्योलॉजी

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

९०	२	८	उत्खनन	उत्खनक
९१	१	५	चित्र—५	चित्र—६
९५	३	५	चार खात	चोर खात
९८	१	१६	प्राय	प्रायः
१०४	३	८	सामाग्रियाँ	सामग्रियाँ
१०४	४	१	शवाधन	शवाधान
११३	२	४	परी	पूरी
१२३	३	६	प्रतिनूतन	प्रातिनूतन
१२७	४	६	रंग के	रंग
१३५	१	९	टंगानिका	तंजानिया
१४४	४	१	मकाना	मकानों
१५६	२	२	चित्रिच	चित्रित
१५९	१	१	पूर्व-मय	पूर्व-मध्य
१६५	२	१३	विधमानता	विद्यमानता
१६९	५	७	cheveon	chevron
१८१	५	२	शिष्ट	विशिष्ट
१८८	४	११	लिले	मिले
१८९	४	५	उत्खखन	उत्खनन
१९३	४	१	इन	इस

मोहेंजोदारो (पृ० ३, ३१, ३६, ४६, ७६, ८४ और ८७), चंहुदारो (पृ० ३, ८७), कालीबंगन (पृ०, ४, ४८, ४६), और अहाड़ (पृ० ५५-५६६,७) को क्रमशः मोहेंजोदड़ों, चंहुदड़ो, कालीबंगां और आहड़ पढ़ें।

———

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

CDS/17
CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh